अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त

श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय

[अग्न्याधान-अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-सुपर्णचिति सहित सोमयाग-चातुर्मास्य-वाजपेय-अग्निष्टोम-सौत्रामणी-बृहस्पतिसव-उक्थ्यादि-अहीन-सत्र-राजसूयादि]
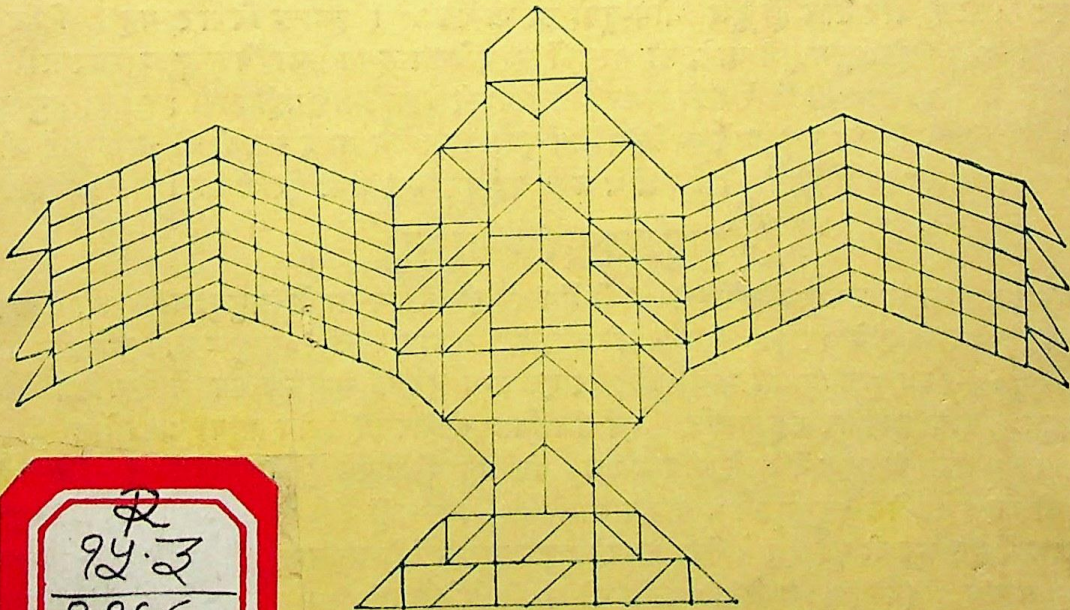
म० म० पं० युधिष्ठिर मीमांसक
विजयपाल विद्यावारिधि

दो शब्द

पू० आचार्य श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक ने अग्निहोत्र से अश्वमेध-पर्यन्त श्रौत-यज्ञों का संक्षिप्त परिचय 'वेदवाणी' मासिक पत्रिका के माध्यम से पाठकों के सामने प्रस्तुत करना आरम्भ किया था। आप की अस्वस्थता और अन्य कार्यों में व्यापृत होने के कारण आप दर्शपूर्णमास पर्यन्त (पृष्ठ १-६०) ही लिख सके। उसके पश्चात् उन के आदेशानुसार मैंने यह कार्य करना आरम्भ कर दिया। प्रारम्भ में विचार यह था कि इन यज्ञों का परिचय श्रौत-सूत्रों में वर्णित क्रम से ही दिया जाये, परन्तु समय-समय पर जिन यागों को प्रत्यक्ष देखने का अवसर मिला, उनका यथार्थ स्वरूप दर्शाने के लिए उनके अनुष्ठान से पूर्व 'वेदवाणी' में परिचय दिया गया। क्रमभङ्ग होने पर भी ऐसा प्रावधान किया गया है कि यज्ञ की सभी विधियां अपने में सुस्पष्ट हो जायें। अब लेखक का अनुरोध यह है कि पाठक इस यज्ञ-विवरण को आरम्भ में पृष्ठ ८ पर दिये गये क्रम के अनुसार पढ़ें तो अधिक सरलता से हृदयङ्गम कर सकेंगे।

श्रौत-सूत्रों में निरूढ-पशुबन्ध तथा प्रायश्चित्त आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है। हमारा उद्देश्य संक्षिप्त परिचय देने का था, इसलिए हमने इनकी विधियों को छोड़ दिया है। शेष सभी विधियों का साङ्गोपाङ्ग विवरण प्रस्तुत करनेवाली हिन्दी भाषा में यह पहली पुस्तक है। छात्रों और अनुसन्धाताओं की दृष्टि से प्रयुक्त श्रौतयज्ञ-सम्बन्धी विशिष्ट शब्दों की सूची भी अन्त में लगा दी है। इस प्रकार यह ग्रन्थ श्रौत-कोश के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है।

इस ग्रन्थ में वर्णित अनेक श्रौत-यज्ञों का प्रत्यक्षीकरण करके समझ कर हमने अनुष्ठानों का विवरण लिखा है और साथ ही मूल श्रौत-सूत्रों को भी देखा है। हमारा विचार यह है कि यदि इतना विषय भी हृदयङ्गम हो जाये, तो पाठकों को वैदिकवाङ्मय तथा वेदाङ्ग व्याकरणादि में प्रयुक्त होनेवाले यज्ञसम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के समझने में कठिनाई नहीं होगी। हमारा अनुरोध है कि श्रौत विषय में रुचि रखनेवाले व्यक्ति गोकर्ण-पूना-कुम्भघोण आदि स्थानों की यात्रा करें और इन यज्ञों को साक्षात् देखें। दक्षिणी राज्यों में अभी यह परम्परा प्रायः सुरक्षित है। —विजयपाल

पुनर्मुद्रण एवं संशोधन

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण वेदवाणी में छप रही लेखमाला के अनुमुद्रण के रूप में छपा ...के समाप्त होने पर १९८४ में 'फोटो आफसेट' से प्रारम्भिक १०२ पृष्ठ छापे गये और उन ...३-१६४ पृष्ठ (दूसरा भाग) जोड़कर एक ग्रन्थ (दोनों भाग) के रूप में प्रकाशित किये ...न होने पर यह पुनर्मुद्रण एवं संशोधित संस्करण (द्वितीय भाग) प्रकाशित किया ...स्करण में दूसरे भाग में अनेक संशोधन किये गये हैं, [illegible]षतः त्रुटित पाठों की ... पुनर्मुद्रण में यज्ञशालाओं के चित्र नहीं दिये जा सके थे, यह कमी इस ...। ये चित्र कृष्ण याजुष शाखाओं के अनुसार हैं, अन्यत्र कुछ स्वरूप- ... शाखाओं की अपनी विशेषताएं हैं)। पहला चित्र दर्शपूर्णमास ... प्रकृति है। दूसरा—वरुणप्रघास यज्ञशाला (देखें विवरण पृष्ठ ...—पृष्ठ ६४, १०४), तीसरा-चौथा—श्येनचिति (द्र०— ...संशोधन करें—१२३=१२५; १२६=१२९; १२९= ...[illegible]१; १[illegible]९=१६२। अगले संस्करण में सोमयाग ...ण दिया जा[illegible]गा।—विजयपाल विद्यावारिधि

चतुर्थ वार
५००

भाद्रपद सं० २०५५
अगस्त सन् १९९८

मूल्य

पुस्तकालय संस्करण– मूल्य= 70.00

मुद्रक :– कमाल प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

नई सड़क, दिल्ली में ग्राफसेट द्वारा छापे गये।

अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त

श्रौत-यज्ञों का संक्षिप्त परिचय

[पूर्व मुद्रित दोनों भाग]

लेखक—

युधिष्ठिर मीमांसक

डा० विजयपाल आचार्य

प्रकाशक—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़

(सोनीपत-हरयाणा)

चतुर्थ वार ५००

भाद्रपद सं० २०५५
अगस्त सन् १९९८

पुस्तकालय संस्करण— मूल्य= 70.00

मुद्रक :— कमाल प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

नई सड़क, दिल्ली में आफसेट द्वारा छापे गये।

श्रौतयज्ञ-परिचय

की

विषय-सूची

अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त
श्रौत-यज्ञों का संक्षिप्त परिचय

उपोद्घात

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने अपने आर्योद्देश्यरत्नमाला, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि तथा वेदभाष्यों में जहां-कहीं यज्ञ का प्रसङ्ग आया है, वहां प्रायः सर्वत्र उन्होंने 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त' शब्दावली का प्रयोग किया है। ये अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञ कौनसे हैं? इन से प्रायः आर्यसमाज के न केवल साधारण सदस्य अपितु अनेक विद्वान् माने और कहे जानेवाले व्यक्ति भी अपरिचित हैं। जिन को इनका ज्ञान है, उनमें से दो-चार विद्वानों को छोड़कर अन्य प्रायः साधारण सा ही परिचय रखते हैं।

ऋषि दयानन्द द्वारा असकृत् उल्लिखित अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों का वर्णन वेद की शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में मिलता है। यदि यह कहा जाये कि इन ग्रन्थों का प्रवचन उन यज्ञों के क्रिया-कलाप का बोध कराने के लिये ही हुआ, तो यह अत्युक्ति न होगी।

ऋषि दयानन्द ने अपनी पाठ-विधि में प्रत्येक वेद का उसके ब्राह्मण श्रौत और गृह्यसूत्रों के साथ अध्ययन करने का विधान किया है। अतः जो व्यक्ति ऋषि दयानन्द-प्रदर्शित पाठ-विधि से वेदपर्यन्त अध्ययन करेगा, वह अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों के विधिविधान वा क्रियाकलाप में निपुण हो ही जायेगा।

आजकल आर्यसमाज में जो विद्वान् हैं, उनमें एक भी व्यक्ति ऋषि दयानन्द प्रदर्शित पाठविधि के अनुसार शिक्षा लेकर वेद-पर्यन्त अध्ययन किया हुआ नहीं है। जो थोड़े बहुत ऋषि की पाठविधि से पढ़े हुए हैं, वे भी अधिकतर व्याकरणपर्यन्त ही पढ़े हुए हैं। किसी ने अधिक अध्ययन किया है, तो वह दर्शनशास्त्र तक पढ़ा हुआ है। परन्तु उसमें भी पूर्वमीमांसा के अध्ययन से वे प्रायः शून्य होते हैं। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों को आज के आर्यसमाज के विद्वान् यथावत् समझने में प्रायः असमर्थ हैं।

आर्यसमाज में ऋषि दयानन्द-प्रदर्शित अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों का प्रचलन न होने का प्रधान कारण ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों का यथावत् अध्ययन न करना है। केवल पं० भीमसेन शर्मा ने इस ओर कुछ प्रयत्न किया था। उन्होंने दर्शपौर्णमास तथा अन्य कतिपय इष्टियों की पद्धतियों का निर्माण तथा प्रकाशन भी किया था।

आर्यसमाज के अधिकतर विद्वानों को यह भी ज्ञात नहीं है कि ऋषि दयानन्द ने शाहपुराधीश नाहरसिंह जी को अपनी उपस्थिति में श्रौत अग्नियों का आधान तथा अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास इष्टियों का आरम्भ कराया था। शाहपुराधीश के कुल में यह परम्परा अभी तक विद्यमान है।

इन सब कारणों से आर्यसमाज में जब प्राचीन अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों का प्रचलन न हो सका, तब आर्यसमाज के विद्वानों ने यज्ञ के प्रति आर्यजनता की श्रद्धा को कथंचित् जीवित रखने के लिये पौराणिक विद्वानों में प्रचलित स्वाहान्त होम के समान वेदपारायण यज्ञों का प्रचलन कर दिया। इससे यज्ञ के

प्रति कुछ श्रद्धा तो जनता में बनी रही, परन्तु इस का दुष्प्रभाव यह हुआ कि किसी आर्यविद्वान् ने प्राचीन यज्ञों को प्रारम्भ करने की ओर ध्यान नहीं दिया। वेदपारायण यज्ञों को करानेवाले महानुभाव भी प्रायः कर्मकाण्डीय नियमों से अपरिचित होते हैं। अतः इन में भी अनेक अशास्त्रीय कार्य देखे जाते हैं। जैसे मन्त्र के अन्त में ओ३म् का उच्चारण करके स्वाहा बोलना, और स्वाहान्त मन्त्र में दुबारा स्वाहा पद को पढ़ना।

ऋषि दयानन्द ने प्राचीन शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्रादि में निर्दिष्ट यज्ञविधियों को यथावत् स्वीकार किया है। वे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञाविषय के आरम्भ में लिखते हैं—

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्ड-विनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्म-काण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत् कथनेनानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्च। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्था-नुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।

अर्थात्—इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थ द्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु कर्मकाण्ड में लगाए हुए वेदमन्त्रों से जहां-जहां जो-जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त कर्म करने चाहियें, उनका वर्णन यहां (=वेदभाष्य में) नहीं किया जायेगा। क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का ऐतरेय-शतपथब्राह्मण पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्रादि में यथार्थ विनियोग कहा हुआ होने से, तथा उस को फिर कहने से अनृषि (=अल्पज्ञ मनुष्य) के ग्रन्थ के समान पुनरुक्ति और पिष्टपेषण दोष की प्राप्ति होने से। इसलिये युक्ति से सिद्ध वेदादिप्रमाणों के अनुकूल मन्त्रार्थ का अनुसरण करनेवाला उन ग्रन्थों में कहा विनियोग भी ग्रहण करने योग्य है।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द जिन अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों के करने-कराने का विधान करते हैं, वे ब्राह्मणग्रन्थों पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्रों में उक्त हैं।

वेद के छः अङ्गों के अन्तर्गत कल्पसूत्र का ग्रहण होता है। कल्पसूत्र के तीन अवयव हैं—श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। प्राचीन आचार्यों ने कल्पसूत्रों का इसी क्रम से प्रवचन किया था। ऋषि दयानन्द ने इन का प्रवचन अन्य प्रकार से किया है। धर्मसूत्र का प्रवचन सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय तृतीय चतुर्थ पञ्चम षष्ठ और दशम समुल्लास में किया है। गृह्यसूत्रोक्त गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त संस्कारों का, तथा शालाकर्म नवसस्येष्टि तथा पञ्चमहायज्ञों का विधान संस्कारविधि में किया है। परन्तु जहां श्रौतसूत्रोक्त परिभाषा-प्रकरण श्रौत और गृह्य कर्मों के लिये सामान्य हैं, वहां संस्कारविधिस्थ सामान्यप्रकरण गृह्य और श्रौतकर्म का सामान्य प्रकरण है। इसका प्रमुख ज्ञापक है सामान्यप्रकरण में उल्लिखित यज्ञपात्रों के लक्षण का प्रकरण, तथा अग्न्याधान से लेकर पूर्णाहुति पर्यन्त का प्रकरण। संस्कारविधि में उल्लिखित पात्र श्रौत दर्शपूर्णमास के पात्र हैं। इन में से २-४ को छोड़कर अन्यों का गर्भाधानादि संस्कारों में कहीं उपयोग नहीं होता है। इसी प्रकार पात्रलक्षण के अन्त में अग्न्याधेय की जो दक्षिणा लिखी है, वह भी श्रौत अग्न्याधान की है। आवसथ्य=गृह्य अग्नि के आधान की नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि ऋषि दयानन्द संस्कारकर्मों के अत्यधिक उपयोगी होने से उनका प्रथम विधान करके श्रौतयज्ञों के विषय में भी कोई ग्रन्थ लिखना चाहते थे, जिसे वे अपने जीवन में लिख नहीं पाये।

यहां यह भी ध्यान में रखना अत्यन्त उचित होगा कि ऋषि दयानन्द गृह्यसूत्रों तथा श्रौतसूत्रों में उक्त विधियों के साथ अपना विशिष्ट योगदान भी करते हैं। इसके लिये हम पाठकों का निम्न विषयों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। यथा--

१. कुण्ड का आकार—ऋषि दयानन्द ने कुण्ड का जो विशेष आकार लिखा है, वह प्राचीन श्रौतसूत्रों शुल्वसूत्रों तथा आधुनिक कुण्डमण्डप-सिद्धि आदि ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है।

२. केसर कस्तूरी का संयोग—ऋषि दयानन्द ने घृत में केशर कस्तूरी को मिलाने का निर्देश किया है। यह भी प्राचीन वा अर्वाचीन कर्मकाण्डीय ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

३. मोहनभोग लड्डू आदि हवियां—यद्यपि प्राचीन श्रौतयज्ञों में पुरोडाश चरु (=बिना माँड निकाले पकाये चावल) दूध दहि सक्तू सोमलता आदि विविध हवियों का यथास्थान उल्लेख मिलता है, तथापि मोहनभोग और लड्डू का विधान नहीं मिलता है।

४. सोने चांदी के पात्र—प्राचीन श्रौतसूत्रों में समस्त पात्र काष्ठ के बनाने का उल्लेख मिलता है, परन्तु सोने चांदी के यज्ञीय पात्रों का वर्णन नहीं है।

उपर्युक्त विधान तथा कुछ ऐसा ही अन्य विधान ऐसा है, जिसे हम ऋषि दयानन्द की विशेष देन कह सकते हैं।

प्राचीन विधान के साथ विरोध का अभाव—ऋषि दयानन्द द्वारा अनेक नवीन विधानों के होने होने पर भी उन का प्राचीन विधानों के साथ कहीं भी विरोध नहीं है। यथा—

१. प्राचीन श्रौतसूत्रों और शुल्वसूत्रों में यज्ञकुण्डों का जो विधान मिलता है, वह भी एक जैसा नहीं है। उन में भी कुछ भेद हैं। अतः ऋषि दयानन्द निर्दिष्ट कुण्ड के आकार का भी उन के साथ विरोध न मान-कर समन्वय मानना चाहिये।

२. प्राचीन ग्रन्थों में जहां यज्ञार्थ घृत का विधान है, वह गोघृत है। उसकी स्रुवा वा जुहू से आहुतियां दी जाती हैं। गोघृत में केसर और कस्तूरी को बारीक पीसकर मिलालेने पर स्रुवा वा जुहू से आहुति देने में कोई बाधा नहीं पड़ती है, अपितु घृत का गुणवर्धन होता है। इसे हम घृतं तीव्रं जुहोतन (यजुः ३।३) मन्त्र के तीव्र= विशिष्ट पदार्थों से संस्कृत विशिष्ट गुणवर्धित के रूप में ऋषि दयानन्दकृत निर्देश की उपपत्ति मान सकते हैं। परन्तु यह घृत का संस्कार साधारण जनों के द्वारा सम्भव नहीं है, विशिष्ट श्रीमान् ही इन पदार्थों का संयोग कर सकता है, क्योंकि ये पदार्थ महार्घ हैं।

३. प्राचीन यज्ञों में पुरोडाश का प्रायः उल्लेख मिलता है। जो पुरोडाश बनाने की विधि को जानते हैं, उन्हें पता है कि पुरोडाश बनाने में आरम्भ के कुछ कर्म हलुवा बनाने के सदृश हैं। और कुछ अंगारों पर बाटी सेकने के समान हैं। अतः मोहनभोग के पदार्थों का पुरोडाश में समन्वय आसानी से हो सकता है। ऋषि दयानन्द ने खीररूप हवि का भी निर्देश किया है, यह पयस्या के रूप में श्रौतसूत्रों में उक्त सी है। लड्डू का हम उपलक्षण-रूप मान सकते हैं।

४. सोने-चान्दी के पात्रों का प्रयोग काष्ठमय पात्रों के स्थान पर श्रीमान् जनों से किया सकता है। अथवा यज्ञपात्रों के अग्रभाग इन धातुओं के बनाये जा सकते हैं।

हमारे विचार में श्रौतसूत्रों में जो काष्ठमय पात्रों, और सामान्य घृत व्रीहि यव आदि हव्य द्रव्यों का विधान है, वह इसलिये है कि उसे साधारण जन भी निभा सके।

वर्त्तमान में प्रयुक्त होनेवाली यज्ञ-सामग्री— ऋषि दयानन्द ने यज्ञीय पदार्थों के जो चार प्रकार लिखें हैं, और एक-एक प्रकार के उपलक्षणार्थ अनेक पदार्थों के नामों का निर्देश किया है। हमारे विचार में उस का तात्पर्य न समझ कर सभी प्रकार के अनेक द्रव्यों को कूटकर जो यज्ञसामग्री बनाई जाती है, वह न केवल प्राचीन यज्ञीय द्रव्यों के प्रतिकूल है, अपितु ऋषि दयानन्द से भी अनभिमत है। इसके निम्न कारण हैं—

यज्ञों में जिस पदार्थ की हवि दी जाती है, उसका यजमान और ऋत्विजों के लिये भक्षण का विधान है। प्राचीन ग्रन्थों में कोई भी ऐसा यज्ञीय पदार्थ नहीं है, जिसका मनुष्य भक्षण न कर सके। वर्तमान में जो यज्ञसामग्री बनाई जाती है, इसके यज्ञशेष का कोई मनुष्य तो क्या अन्य प्राणी भी संभवतः भक्षण न कर सके। अतः आर्यसमाज में प्रचलित यज्ञसामग्री का प्राचीन यज्ञीय हवि के साथ साक्षात् विरोध आता है।

हमारा मन्तव्य है कि सम्पूर्ण प्राचीन विधि-विधान में आस्था रखनेवाले ऋषि दयानन्द ऐसी अव्यवहार्य सामग्री का विधान नहीं कर सकते थे। यदि उन का ऐसी यज्ञसामग्री बनाने में ही तात्पर्य होता, तो चार प्रकार के पदार्थों का वर्णन करके उसे कूटने का भी उल्लेख करते, जैसे समिधा के प्रकरण में 'समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-मोटी काट लेवे' निर्देश किया है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण संस्कारविधि में उक्त सामग्री से आहुति देने का कहीं पर भी निर्देश नहीं मिलता है। प्रथम सुगन्धित पदार्थों में लिखे अगर तगर श्वेत चन्दन आदि का समिधा के रूप में, और शेष द्रव्यों को पीस कर घृत में संयोग किया जा सकता है। रोगनाशक ओषधियों का प्रयोग रोग-निवृत्ति के लिये किये जानेवाले विशेष यज्ञों में विनियोग हो सकता है।

इस दृष्टि से हमारा मन्तव्य है कि आर्यसमाज में बहुत सी वस्तुओं को कूट कर जो यज्ञ-सामग्री बनाई जाती है, वह न केवल प्राचीन कर्मकाण्डीय ग्रन्थों के प्रतिकूल है, अपितु ऋषि दयानन्द से भी अनुमोदित नहीं है। इस प्रकार की अवैध सामग्री कब से प्रचलन में आई, इस का कोई निश्चित ज्ञान हमें नहीं है। हां, हमें इस प्रकार की सामग्री बनाने का सब से पुराना निर्देश पं० गङ्गासहाय शर्मा के सं० १९६३ के छपे 'होम-पद्धति' ग्रन्थ में उपलब्ध हुआ है। होमपद्धति में पं० गङ्गासहाय शर्मा ने पृष्ठ ८-१४ तक ऋत्वनुकूल सामग्री का वर्णन किया है।[1]

ऋषि दयानन्द की अन्त्येष्टि का जो वर्णन श्री देवेन्द्रबाबू संकलित जीवनचरित में छपा है, उसमें अन्त्येष्टि-संस्कार के लिये क्रय की गई प्रत्येक वस्तु का भार और मूल्य दिया हुआ है। उसमें वर्तमान में प्रचलित सामग्री जैसी वस्तु का कोई उल्लेख नहीं है। उसमें घृत के अतिरिक्त चन्दन केसर कपूर कस्तूरी अगर तथा चीनी का उल्लेख है।[2] अन्त्येष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है—'जब वेदी तैयार हो गई, तो उसमें चन्दन आदि काष्ठ

---

१. श्री प० गङ्गासहाय जी विरचित होमपद्धति ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

२. अजमेर से प्रकाशित 'आर्य धर्मेन्द्र जीवन' में इस प्रकरण में '२॥ सेर बालछड़' का भी निर्देश है। इस ग्रन्थ के उल्लेख की अपेक्षा श्री बा० देवेन्द्र नाथ रचित जीवनचरित अधिक प्रामाणिक है। उसमें उस समय खरीदी गई वस्तुओं की यादी (=स्मरण) पत्र की प्रतिलिपि दी है।

चयन करके उस पर महाराज के शव को रखा, और उस पर चन्दन, काष्ठ, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्य रख कर रामानन्द और आत्मानन्द ने अग्निप्रवेश कराई, और संस्कार-विधि लिखित वेदमन्त्रों से घृत की आहुतियां देकर शव को भस्मीभूत किया।'

इस निर्देश में केवल घृत की आहुति देने का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त सारे लेख का सार इस प्रकार है—

१. ऋषि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञ' श्रौतयज्ञ हैं, जिन का प्रचलन ऋषि दयानन्द पुनः करना चाहते थे।

२. संस्कारविधि का सामान्य प्रकरण गृह्यसूत्रोक्त संस्कारविधि में निर्दिष्ट संस्कारों तथा विचाराधीन श्रौत यज्ञविधि दोनों का मिला-जुला समान प्रकरण है। जैसे श्रौतसूत्रों का परिभाषा-प्रकरण। इस प्रकरण में निर्दिष्ट कार्य श्रौतयज्ञों और गृह्यकर्मों में समानरूप से आवृत होते हैं।

३. संस्कारविधि में निर्दिष्ट चार प्रकार के द्रव्यों को आधार बनाकर आर्यसमाज में जो यज्ञसामग्री प्रचलित है, वह ऋषि दयानन्द द्वारा अनुमोदित नहीं है। ऋषि दयानन्द का 'चार प्रकार के पदार्थ यज्ञीय होते हैं' इतना दर्शाने में ही तात्पर्य है। इन में से जो द्रव्य जिस यज्ञ में उल्लिखित हो, अथवा समन्वय की दृष्टि से समान्वित हो सकता हो, उसका वहां उपयोग करना चाहिये।।

—:०:—

॥ ओ३म् ॥

अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय

यज्ञ शब्द का मूल अर्थ—'यज्ञ' शब्द वैयाकरणों और नैरुक्त आचार्यों के मतानुसार देवपूजा संगतिकरण और दान अर्थवाली 'यज' धातु से निष्पन्न होता है।[1] तदनुसार जिस कर्म में देवों=अग्न्यादि प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा=यथायोग्य गुण-संवर्धन, तथा प्रत्यक्ष देवों=विद्वानों की पूजा=सत्कार; संगतिकरण=अग्न्यादि प्राकृतिक तत्त्वों के साथ यथायोग्य संगति, जिस से अनेकविध शिल्पकार्यों की सिद्धि होती है, तथा विद्वानों महात्मा पुरुषों का सङ्ग, परब्रह्म के साथ आत्मा का संयोग वा प्राप्ति; दान=जल वायु आदि प्राकृतिक तत्त्वों की शुद्धि वा गुण-संवर्धन के लिये अग्नि में घृत आदि उत्तमोत्तम सुगन्धित पुष्टिकारक आरोग्यवर्धक पदार्थों का त्याग=प्रक्षेप, तथा संसारस्थ प्राणियों के लाभ वा उत्कर्ष के लिये विद्या और धन आदि का विनियोग किया जाता है, वे सब कर्म 'यज्ञ' शब्द से परिगृहीत होते हैं। 'यज्ञ' शब्द का यही तात्पर्य ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद अ० १ के दूसरे मन्त्र के भाष्य में लिखा है।[2]

यज्ञ शब्द के इसी मूल अर्थ को लेकर लोक में 'यज्ञ' शब्द का बहुधा प्रयोग देखा जाता है। भगवद्गीता ४।२८ में द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ योगयज्ञ स्वाध्याययज्ञ ज्ञानयज्ञ का उल्लेख मिलता है।

प्रकृत में जिन यज्ञों का हम वर्णन करेंगे, अथवा संक्षिप्त परिचय देंगे, वे 'द्रव्य यज्ञ' कहाते हैं। क्यों कि इन यज्ञों में देवता को उद्देश्य करके घृतादि पदार्थों का अग्नि आदि[3] में त्याग किया जाता है—द्रव्यं देवता त्यागश्च। कात्यायन श्रौत १।२।२॥

द्रव्ययज्ञ श्रौत और स्मार्त भेद से अनेक प्रकार के हैं। जिन यज्ञों का श्रुति=मन्त्र और ब्राह्मण में साक्षात् उल्लेख मिलता है, वे 'श्रौतयज्ञ' कहाते हैं। जिन यज्ञों का ऋषि लोग स्मृतियों में विधान करते हैं, वे 'स्मार्त' कहाते हैं। गृह्यसूत्रोक्त यज्ञ भी स्मार्त यज्ञों में ही गिने जाते हैं। इन दोनों प्रकार के यज्ञों के नैत्यिक काम्य तथा नैमित्तिक ये तीन भेद हैं। 'नैत्यिक' कर्म वे कहाते हैं, जिन को यथावसर अवश्य करना होता है। यथा अग्नि-

---

१. यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्। अष्टा० ३।३।९०॥ यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्म। निरुक्त ३।२०॥

२. धात्वर्थाद् यज्ञस्त्रिधा भवति—(१) विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषाम् ऐहिकपारमार्थिक-सुखसम्पादनाय सत्करणम्, (२) सम्यक् पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणम्, नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानम्, (३) विद्यासुखधर्मादिशुभगुणानां नित्यं दानकरणमिति। यजुर्वेदभाष्य अ० १, मं० २।

३. यज्ञ प्रायः अग्नि में ही किये जाते हैं, परन्तु कहीं-कहीं जलादि में भी आहुति देने का विधान है—अप्सु जुहोति (कात्या० श्रौत १०.८।२६) [सोमक्रयण्या गोः] सप्तमे पदे जुहोति (तै० सं० ६।१।८)।

होत्रादि। 'काम्य' कर्म वे कहाते हैं, जो किसी इच्छा की पूर्ति के लिये किये जाते हैं। यथा—वर्षेष्टि पुत्रेष्टि आदि। 'नैमित्तिक' वे कहाते हैं, जो प्राकृतिक संयोग वा उत्पात के कारण अथवा दैव =भाग्य(=पूर्वकृत कर्म) के कारण सुख-दुःख के देनेवाले निमित्त उत्पन्न होते हैं। यथा—अचानक धनप्राप्ति वा धननाश आदि।

श्रौतकर्म अग्निहोत्र जैसे स्वल्पकाल-साध्य कर्म से लेकर सहस्रसंवत्सर साध्य-बहुविध कर्मों का शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में उल्लेख मिलता है। गोपथ ब्राह्मण १।१।१२ में अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् (पैप्पलाद शाखा ५।२८।१) मन्त्र के निर्देशपूर्वक २१ प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। वे ३×७=२१ प्रकार के यज्ञ हैं—७ पाकयज्ञ: ७ हविर्यज्ञ और ७ सोमयज्ञ। गोपथ ब्राह्मण में आगे १।५।२५ में इन के नामों का भी उल्लेख किया है। इन में ७ पाकयज्ञ स्मार्त हैं, शेष ७ हविर्यज्ञ तथा ७ सोमयाग श्रौत हैं।

ऋषि दयानन्द ने अपने आर्योद्देश्यरत्नमाला सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त' शब्दों से जिन यज्ञों का उल्लेख किया है, वे श्रौतयज्ञ हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में किन यज्ञों का प्राय: वर्णन मिलता है, इसके परिज्ञानार्थ हम यहां कात्यायन श्रौतसूत्र में उल्लिखित यज्ञों वा कर्मों का निर्देश करते हैं—

१—अग्न्याधान (अ० ४)	१३—गवामयन (अ० १३)
२—अग्निहोत्र (अ० ५)	१४—वाजपेय (अ० १४)
३—दर्शपौर्णमास (अ० २-३-४)	१५—राजसूय (अ० १५)
४—दाक्षायण यज्ञ (अ० ४)	१६—अग्निचयन (१६-१८)
५—आग्रयणेष्टि (अ० ४)	१७—सौत्रामणि (अ० १९)
६—दर्विहोम, क्रैडिनीयेष्टि, आदित्येष्टि, मित्रविन्देष्टि (अ० ५)	१८—अश्वमेध (अ० २०)
७—चातुर्मास्य (अ० ५)	१९—पुरुषमेध (अ० २१)
८—निरूढपशुबन्ध (अ० ६)	२०—अभिचार (अ० २२)
९—सोमयाग (अ० ७-११)	२१—अहीन अतिरात्र (अ० २३)
१०—एकाह (अ० १२,२२)	२२—सत्र [द्वादशाह से सहस्र संवत्सर-पर्यन्त] (अ० २४)
११—द्वादशाह (अ० १२)	२३—प्रायश्चित्त (अ० २५)
१२—द्वादशाह सत्ररूप (अ० १२)	२४—प्रवार्य (अ० २६)

कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में निर्दिष्ट यज्ञों में निरूढपशुबन्ध तथा सोमयाग और अन्य कतिपय यागों में अङ्गभूत पशुयागों का जो निर्देश मिलता है। इनके सम्बन्ध में हमने मीमांसा शाबरभाष्य व्याख्या भाग १ के आरम्भ में लिखित 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' निबन्ध में पृष्ठ१३० से १६९तक विस्तार से प्रतिपादन किया है। इस में दर्शाया है कि आदि काल में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी। उत्तर काल में जब मानव-समाज में मद्य मांस आदि का प्रचार बढ़ गया, तब यज्ञों में पशुहिंसा प्रारम्भ हुई। वस्तुतः पशुयज्ञों में पशु को यज्ञवेदि के समीप यूप में बांध कर पर्यग्निकरणपर्यन्त संस्कार करके उसे छोड़ दिया जाता था। शेष यज्ञकर्म पुरोडाश घृत पयस्या वा आमिक्षा से

यथाविधान पूरे किये जाते थे। इन का संकेत वर्तमान श्रौतसूत्रों में भी मिलता है। परन्तु कतिपय यज्ञों में पशु को मारने का विधान भी उपलब्ध होता है, वह वेदविरुद्ध और ऐतिह्यविरुद्ध होने से अप्रमाण हैं। ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों के विनियोग को प्रमाण मानते हुए भी युक्तिविरुद्ध, वेदादिशास्त्रविरुद्ध, तथा मन्त्रार्थ के अननुकूल विनियोगों को त्याज्य माना है (द्र०—पृष्ठ ३ का उद्धरण)। संस्कारविधि में वेदारम्भ संस्कार के अन्त में ऋग्वेद का ब्राह्मण श्रौत गृह्यसूत्र आदि के साथ अध्ययन का विधान करते हुए गृह्यसूत्र पर टिप्पणी दी है—'जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो, उसका प्रमाण न करना'। (द्र०—संस्कारविधि आ० स० शताब्दी सं० पृष्ठ १३१, राम लाल कपूर ट्रस्ट से मुद्रित)।

द्रव्ययज्ञों का आरम्भ—ऋषियों ने वेद में जिन कर्मों का विधान देखा, वे त्रेतायुग में विस्तृत हुए। ऐसा मुण्डक उपनिषद् १।२।१ के निम्न वचन से विदित होता है—

'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि'।

महाभारत तथा पुराणों में भी त्रेतायुग के प्रारम्भ में यज्ञों के प्रवर्तन का उल्लेख मिलता है। यथा—

त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे। महा० शान्ति० २३२।३२॥

यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्त्तनम्। वायु पु० ५७।८६॥

यज्ञों की प्रकल्पना भी शनैः-शनैः हुई। आरम्भ में केवल एकाग्नि और एकवेदसाध्य अग्निहोत्र का आरम्भ हुआ। तदनन्तर ऋग्यजुः दो वेदों से त्रेताग्नि में साध्य दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य प्रभृति यज्ञ प्रसृत हुए। तदनन्तर ऋग् यजुः साम तीन वेदों से, और दो यज्ञवेदियों में किये जानेवाले सोम-यागों का प्रवर्तन हुआ। शतपथ ब्राह्मण ४।६।७।१३ में लिखा है—

'यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं वितेनिरे। अथर्चाऽथ साम्ना। तदिदमप्येतर्हि यजुषा एवाग्रे यज्ञमतन्वत अथर्चाऽथ साम्ना।'

गोपथ ब्राह्मण १।५।२५ में भी पुराण-ऋषियों से तथा अर्वाचीन-ऋषियों से प्रवर्तित यज्ञों का संकेत मिलता है—

'ते सर्वे यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना यानृषयः सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः।'

उत्तरोत्तर इन यज्ञों में कुछ ऐसे कर्मों का भी सन्निवेश हो गया, जिन्हें आरम्भ में ऋषि लोग वैदिक नहीं मानते थे। यथा पशुहिंसा। द्र०—महाभारत शान्ति० अ० ३१७, अनु० ६।३४; ११६।५६-५८॥ तथा वायुपुराण ५७।९१-१२५ में उल्लिखित उपरिचरवसु की कथा।

यज्ञों की कल्पना का मूल आधार—द्रव्ययज्ञों की कल्पना का मूल आधार था—आधिदैविक जगत् में सतत प्रवर्तमान देवयज्ञ। ऋषियों ने आधिदैविक जगत् के रहस्यों को हृदयंगम कराने के लिये द्रव्यमय यज्ञों का प्रवर्तन किया। जैसे पृथिवी के परिज्ञान के लिये नकशे, और भूगोल की पुस्तक की कल्पना की गई, खगोल के परिज्ञान के लिये खगोल के चित्र तथा ज्योतिश्शास्त्र का प्रवचन किया गया। प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये रङ्गमञ्च की प्रकल्पना और नाटक ग्रन्थों की रचना की गई। इस तथ्य के लिये आगे अग्न्याधानकर्म के वर्णन में वेदि के रचनाक्रम को देखें।

यज्ञों की प्रकल्पना कब और क्यों की गई, इस का विस्तार से हमने मीमांसा-शाबर-भाष्य की आर्षमत विमर्शिनी हिन्दी-व्याख्या के प्रथम भाग में निर्दिष्ट श्रौत-यज्ञ-मीमांसा निबन्ध (पृष्ठ ६४-११२) में की है। यहां केवल संकेतमात्र किया है॥

—:०:—

अग्न्याधान-निरूपण

नित्य काम्य और नैमित्तिक जितने भी श्रौतकर्म हैं, वे आहवनीय दक्षिणाग्नि और गार्हपत्यसंज्ञक तीन अग्नियों में किये जाते हैं। अतः श्रौतकर्म प्रारम्भ करने से पूर्व इन अग्नियों का आधान करना आवश्यक होता है, 'यह अग्न्याधान' कहता है। इसे ही 'आधान' नाम से भी कहा जाता है।

अग्न्याधान का अधिकारी—अग्न्याधान का अधिकारी कृतदारकर्म (=विवाहित) पुरुष ही होता है। क्योंकि श्रौतकर्मों में यजमान और उसकी पत्नी दोनों से क्रियमाण कर्मों का निर्देश उपलब्ध होता है। पूर्व-मीमांसा के व्याख्याग्रन्थों में इस विषय का एक वचन उद्धृत मिलता है। वह इस प्रकार है – जातपुत्रः कृष्ण-केशोऽग्नीनादधीत (अनुपलब्धमूल)। इसका भाव है—जिसको पुत्र उत्पन्न हो गया है, और केश काले हैं, वह अग्नि का आधान करे। यह सामान्यकाल का बोधक वचन है।

अग्न्याधान का काल—ब्राह्मण के लिये वसन्त ऋतु, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म ऋतु और वैश्य के लिये शरद् ऋतु विहित है—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः (तै० ब्रा० १।१।२।६)। कात्यायन श्रौत ४।७।७ में वैश्य के लिये वर्षा ऋतु का विधान मिलता है। यह अग्न्याधान उक्त ऋतुओं में किसी अमावास्या अथवा पूर्णिमा के दिन किया जाता है। रथकार के लिये वर्षा ऋतु का विधान है—वर्षासु रथकारस्य[1] (आप० ५।३।१८)।

तीन प्रकार का आधानकर्म—क्रियमाण कर्म की दृष्टि से आधान कर्म तीन प्रकार का है—होमपूर्व, इष्टिपूर्व और सोमपूर्व।

होमपूर्व आधान—अग्निहोत्र करने के लिये अग्निहोत्र आरम्भ करने से पूर्व जो आधान किया जाता है, वह 'होमपूर्व आधान' कहाता है। अग्निहोत्र करने की इच्छावाला यजमान अमावास्या अथवा पूर्णिमा को अग्नियों का आधान करके, उसी दिन सायंकाल से अग्निहोत्र को आरम्भ करता है। इसी कारण सायंप्रातः क्रियमाण अग्निहोत्र मिलकर एक कर्म माना जाता है। यजुर्वेद अ० ३। मं० ९-१० में भी प्रथम सायंकालिक मन्त्रों का, तत्पश्चात् प्रातःकालिक मन्त्रों का, तत्पश्चात् प्रातःकालिक मन्त्रों का पाठ मिलता है।

इष्टिपूर्व आधान—दर्शपूर्णमास आदि इष्टियां करने का संकल्प करके, उन से पूर्व जो आधान किया

---

१. 'रथकार' शब्द के अर्थ में श्रौतसूत्र-व्याख्याताओं का मतभेद है। आपस्तम्ब श्रौत ५।३।१९ सूत्र में ब्राह्मणादि तीन वर्णों में से ही स्ववृत्ति से पीड़ित रथ बनाने का कार्य करते हैं, वे रथकार शब्द से यहां अभिप्रेत हैं—ये त्रयाणां वर्णानामेतत् कर्म कुर्युस्तेषामेष कालः। कात्यायन श्रौत १।१।९-११ तक रथकार' शब्द के विषय में विचार करके रथकार को त्रैवर्णिकों से भिन्न जात्यन्तर माना है। माहिष्य से करणी में उत्पन्न 'रथकार' कहाता है—माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते (याज्ञ० स्मृ० १।४२)। माहिष्यः—क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न पुरुष। करणी— वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न स्त्री। द्र०—कात्या० श्रौत १।१।९ पर टीका ग्रन्थ।

जाता है, वह 'इष्टिपूर्व आधान' कहाता है। आधान यदि अमावास्या को किया है, तो क्रमप्राप्त अगली पूर्णिमा के दिन पूर्णमासेष्टि की जाती है, तत्पश्चात् दर्शेष्टि। किन्तु यदि आधान पूर्णिमा के दिन किया है, तो अगली अमावास्या के दिन दर्शेष्टि न करके, उससे उत्तरवर्ती पूर्णिमा के दिन पूर्णमासेष्टि की जाती है। तात्पर्य यह है कि दर्शपूर्णमासेष्टि का आरम्भ प्रत्येक अवस्था में पूर्णिमा के दिन पौर्णमासेष्टि से होता है। पूर्णमासेष्टि और दर्शेष्टि मिलकर एक कर्म माना जाता है। यद्यपि यजुर्वेद और उसकी उपलब्ध समस्त शाखाओं में दर्शेष्टि के ही मन्त्र प्रथम पढ़ं गये हैं, पुनरपि इस कर्म का आरम्भ पूर्णमासेष्टि से ही होता है, यह सभी कर्मकाण्डीय ग्रन्थों का मत है। इष्टिपूर्व आधानपक्ष में भी आधान के अनन्तर उसी दिन सायंकाल से पूर्ववत् अग्निहोत्र किया जाता है।

सोमपूर्व आधान—प्रथम सोमयाग करने की इच्छा से, जो उससे पूर्व अग्नि का आधान किया जाता है, वह 'सोमपूर्व आधान' कहाता है। सोमयाग का काल वसन्त ऋतु है—वसन्ते-वसन्ते ज्योतिषा यजेत (द्र०-आप० श्रौत १०।२।५)। सोमपूर्व आधान करनेवाला त्रैवर्णिक आधान के विहित काल का अनुगमन नहीं कर सकता है, अतः सोमपूर्व आधान के लिये ऋतु आदि का प्रतिबन्ध नहीं है—सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्नीनादधीत नर्तुं प्रतीक्षेत न नक्षत्रम् (मी० शाबरभाष्य ५।४।६ में उद्धृत)। सोमपूर्व आधान करके सोमयाग करे। उसकी समाप्ति के अनन्तर उसी दिन सायं अग्निहोत्र करे, और आगामी पूर्णिमा से पूर्णमासेष्टि आदि का आरम्भ करे।

इस प्रकार तीनों पक्षों में स्वेच्छा से उनके विकल्प ग्रहण करने हैं। संकल्प में इनमें वैलक्षण्य है। अनुष्ठान में विलक्षणता नहीं है।

आधान से पूर्व का कृत्य—अग्न्याधान अमावास्या अथवा पूर्णिमा के दिन किया जाता है। 'जिस दिन पूर्व वा पश्चिम में चन्द्रमा का दर्शन न होवे, उस दिन उपवास करे'[1] ऐसा विधान होने से अमावास्या के दिन उपवास और अगले प्रतिपदा के दिन अग्नि का आधान होता है। पूर्णिमा के दिन अग्न्याधान के पक्ष में चतुर्दशी के दिन उपवास होता है। उपवास शब्द यहां विशिष्ट भोजन और ब्रह्मचर्य सत्यवादन आदि नियमों का विधायक है।

श्रौत अग्नियों का आधान करनेहारा यजमान पत्नीसहित पूर्व उक्त दिन में उपवास करे। शिखा को छोड़ केशों का वपन और नखों का कर्तन करे (पत्नी केवल नखों का कर्तन करे)। स्नान करके दो रेशमी वस्त्र (=उत्तरीय अधरीय) धारण करे। यजमानपत्नी भी समयोचित रेशमी वस्त्र पहने। तत्पश्चात् ब्रह्मचर्य तथा सत्य का व्रत ग्रहण करे। उपवास के दिन क्षुधा की शान्ति के लिये ब्राह्मण दूध, क्षत्रिय यवागू[2], और वैश्य आमिक्षा[3] का

१. यदहरेवैष न पुरस्तान्न पश्चाद् दृश्येत तदहरुपवसेत। शत० ११।१।४।२॥

२. सोलह गुने पानी में पकाये गये चावल, जो घुटकर जल के साथ एकाकार हो गये हों, 'यवागू' कहाते हैं (द्र०—मीमांसा कोश, पृष्ठ ३२, ३३)। यवागू में यव=जौ का सम्बन्ध नहीं है। मिश्रणार्थक 'यु' धातु से 'आगूच्' प्रत्यय होकर 'यवागू' शब्द निष्पन्न होता है (द्र०—उणादि ३।८१)। किन्हीं उणादि वृत्तिकारों ने यवचूर्ण का निर्देश किया है, वह याज्ञिक समयाचार से विरुद्ध होने से त्याज्य है।

३. उबलते हुए दूध में दही डालने से जो घना भाग एकत्रित हो जाता है, वह 'आमिक्षा' कहाता है। द्र०—तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा (मी० शाबरभाष्य ४।१।२२ में उद्धृत)। लोक में इसे पनीर वा छेना कहते हैं। इसका अवशिष्ट जल 'वाजिन' कहाता है।

अशन (=भक्षण) करे[1]। अभाव में आरण्य अन्नों[2] का, अथवा जिस अन्न की हवि देवों को नहीं दी जाती है,[3] उसका अशन करे। विहित द्रव्य का अशन भी उतना ही करे, जिससे अशन करने पर भी अनशन के समान स्थिति रहे[4]। पौराणिक याज्ञिक, संहिता ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में अनुक्त आभ्युदयिक श्राद्ध[5] आदि भी करते हैं।

आधान के लिये यजमान[6] संकल्प करके ऋत्विजों का वरण करे। अध्वर्यु शमी (=छोंकरा=खेजड़े) वृक्ष के गर्भ में उत्पन्न अश्वत्थ (=पीपल) के वृक्ष की, अथवा सामान्य अश्वत्थ वृक्ष की शाखा, जो छाया में सूखी हुई और कीड़ों से खाई हुई न होवे, उससे उत्तर अरणि और अधर अरणि[7] का सम्पादन करे। उन्हें अथवा पूर्व सम्पादित अरणियों को एक साथ आधान-स्थान में लावे।

वेदि और कुण्डों के निर्माण के लिये—(१) जल, (२) वराह विहत (सूअर से खोदी गई मिट्टी), (३) वल्मीक (=दीमक) की बांबी की मिट्टी, (४) ऊष (=ऊषर भूमि) की मिट्टी (=रेह), (५) सिकता (=बालू), (६) शर्करा (=छोटे-छोटे कंकर=रोड़ी[8]), और (७) हिरण्य (=सोना) इन पदार्थों का संग्रह करके एक पात्र में पृथक्-पृथक् इस प्रकार रखे, जिससे कि सभी का पृथक्-पृथक् ज्ञान होवे। इन्हें याज्ञिक ग्रन्थों में 'सम्भार' कहते हैं। इसी प्रकार (१) अश्वत्थ, (२) उदुम्बर (=गूलर), (३) पलाश, (४) शमी, (५) विकङ्कत, (६) अशनि (=बिजली) से दग्ध वृक्ष के काष्ठ, तथा (७) पद्मपत्र इनको संगृहीत करे। ये 'वानस्पत्य संभार' कहाते हैं। इन्हें भी एक स्थान में पृथक्-पृथक् रखे।

वेदि के पश्चिम भाग में गार्हपत्य अग्नि के लिये, पूर्व भाग में आहवनीय अग्नि के लिये, तथा गार्हपत्याग्नि या वेदि के दक्षिण में दक्षिणाग्नि के लिये स्थानों की रचना करे। ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इनके लिये पृथक्-पृथक् गृहनिर्माण का विधान मिलता है, परन्तु सम्प्रति याज्ञिक सुविधा की दृष्टि से एक ही चारों ओर से आच्छादित स्थान में तीनों अग्नियों का स्थापन करते हैं। इन तीनों अग्नियों के अतिरिक्त सभ्य और औपासन=आवसथ्य=गृह्यसंज्ञक दो अग्नियों की भी स्थापना की जाती है। सभ्याग्नि जहां बैठकर गुरु शिष्य को पढ़ाता है, वहां गुरु और शिष्य के मध्य स्थापित की जाती है। उसके साक्ष्य में गुरु शिष्य को पढ़ाता है। आवसथ्य अग्नि में गृह्यसूत्रोक्त संस्कार कर्म किये जाते हैं। आप० श्रौत ५।४।७-८ के अनुसार सभ्याग्नि को आहवनीयाग्नि से पूर्व

---

१. पयो ब्राह्मणस्य व्रतं यवागू राजन्यस्य आमिक्षा वैश्यस्य। तै० आ० २।८॥ तु०—तै०सं० ६।२।५॥

२. स वाऽऽरण्यमेवाश्नीयात्॥ शत० १।१।१।१०॥ ३. यस्य वै देवा हविर्न गृह्णन्ति। शत० १।१।१।९॥

४. यदेवाशितमनाशितं भवति तदश्नीयात्। शत० १।१।१।९॥

५. माङ्गलिक कर्मों में अभ्युदय के लिये जो श्राद्ध किया जाता है, वह 'आभ्युदयिक' कहाता है।

६. यजमान का निर्देश होने पर यजमानपत्नी का सहभाव सर्वत्र जानना चाहिये।

७. दोनों अरणियों का परिमाण और आकार का चित्र संस्कारविधि, पृष्ठ २६ (आ० स० शताब्दी सं० रालाकट्र मुद्रित) में देखें।

८. संख्या १-६ के लिये द्र०—मै० सं० १।६।३॥ शत० २।१।१।४-८ में अपः, हिरण्य, ऊष, आखुकिरीष (=चूहे की खोदी हुई मिट्टी), और शर्करा इन पांच द्रव्यों का उल्लेख मिलता है। विभिन्न शाखाओं में इन सम्भार द्रव्यों की संख्या में न्यूनाधिकता मिलती है।

और आवसथ्याग्नि को सभ्याग्नि से पूर्व एक ही आगार में स्थापित करते हैं। प्रथम तीन—गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिणाग्नि में श्रौत अग्नियां हैं, तथा सभ्य और आवसथ्य स्मार्त अग्नियां हैं। इन पांचों अग्नियों में यथाकाल कर्म करनेहारा पञ्चाग्नि-तप से पूत होता है। आजकल पाखण्डियों ने पञ्चाग्नि तप का अर्थ चारों ओर आग जलाकर, और ऊपर सूर्याग्नि के ताप से तपस्या करना मान लिया है। इस प्रकार का तप तपते हुए अनेक साधु देखे जाते हैं।

इसके पश्चात् क्षौम वस्त्र धारण किये हुए यजमान को अध्वर्यु दोनों अरणियां देवे। अध्वर्यु अपराह्ण में अरणियों से मन्थन करके, अथवा वैश्यकुल, अथवा महानस, अथवा भ्राष्ट्र(=भड़भूजे की भाड़), अथवा औपासन (=आवसथ्य) से अग्नि को लेकर गार्हपत्य में रख, उसे प्रज्वलित करके उस पर ब्रह्मौदन का पाक करे। यह चार शरावे(=सकोरे) परिमाण, अथवा चार मनुष्यों के भोजन के लिये पर्याप्त चावल स्थाली(बटलोई वा पतीले) में पकाया जाता है। ब्राह्मणों ऋत्विजों के भोजन के लिये तैयार किया गया चावल 'ब्रह्मौदन' कहाता है। ब्रह्मौदन के पक जाने पर अग्नि पर से उतार कर मध्य में गर्म करके उसमें घी का सेचन करे। उस घी में पीपल की तीन समिधाएं भिगो कर समिधाग्निम्, सुसमिद्धाय और तं त्वा समिद्भिः उन तीन ऋचाओं से एक-एक समिधा अग्नि में छोड़े। और उप त्वा इस चतुर्थ मन्त्र का जप करे[1]।

तत्पश्चात् ब्रह्मौदन के चार भाग करके चारों ऋत्विक् उस का भक्षण करें। यजमान ऋत्विजों को वर=अभिलषित गौ आदि द्रव्य प्रदान करे। ब्रह्मौदन का पाक रात्रि में किया जाता है।

इस प्रकार आधान का पूर्व कृत्य समाप्त करके, एक वर्ष अथवा बारह दिन अथवा तीन दिन के पश्चात् किया जाता है। जो सद्यः कर्म समाप्त करना चाहे, तो इस के अगले दिन ही शेष कर्म करे। इस पक्ष में पूर्व रात्रि में यजमान व्रतग्रहण (=नियम-स्वीकरण) करके वीणा आदि वाद्यों के वादन द्वारा जागरण करे, और उस अग्नि को समित् आदि के प्रक्षेप द्वारा सतत प्रज्वलित रखे।

प्रातःकाल अध्वर्यु उसी अग्नि में अरणियों को तपा कर पूर्वोक्त अग्नि को शान्त करके यजमान के हाथों में अरणियां देवे। तत्पश्चात् अध्वर्यु गार्हपत्य स्थान का खनन जलसिंचन आदि करके पूर्व स्थापित वराह-विहत मृत् आदि द्रव्यों को दो सम विभागों में बांटकर, एक भाग को पुनः दो भागों में बांटे। तदनन्तर इस प्रकार आधे भाग की आधी वराहविहत मृत्, वल्मीक की मृत्, ऊष, सिकता और शर्करा को क्रमशः गार्हपत्यायतन में बिछावे। सब से ऊपर हिरण्य रखे। इसी प्रकार अवशिष्ट को दक्षिणाग्नि के आयतन में बिछावे। अवशिष्ट आधा भाग (सम्पूर्ण द्रव्य का आधा) आहवनीय आयतन में बिछावे। इसी प्रकार तीनों स्थानों में पूर्वोक्त सात वनस्पतियों के काष्ठों को क्रमशः रखे।

गार्हपत्याधान—इस प्रकार तीनों अग्नियों के स्थानों में पूर्वोक्त सम्भारों को क्रमशः रखकर

---

१. यजुर्वेद के अ० ३ में १-४ तक क्रमशः समिधाग्निम्, सुसमिद्धाय, तन्त्वा समिद्भिः और उप त्वा अग्ने चार मन्त्र पठित हैं। इन में प्रथम तीन मन्त्रों से समित् का आधान होता है, और चतुर्थ मन्त्र का जप किया जाता है—तिस्रः समिधो घृतावक्ता आदधाति समिधाग्निमिति प्रत्यृचम्। उप त्वेति जपति। (कात्या० श्रौत ४।८।३४)। पक्षान्तर में द्वितीयां वा (का० श्रौत ४।८।५) से दूसरी सुसमिद्धाय ऋचा का जप, तथा प्रथम तृतीय चतुर्थ मन्त्र से

गार्हपत्याग्नि के आधान के लिये पूर्व बुझाई अग्नि के भस्म को हटाकर उ के ऊपर अरणियों को रखे। उसी के समीप एक श्वेत अश्व को बांधे। तत्पश्चात् अध्वर्यु अरणि का मन्थन करे। मन्थन (=रगड़) से अग्नि के उत्पन्न होने पर उसे सूखे कण्डे में लेकर फूंक देकर प्रज्वलित करे। उसे वेदि के पश्चिम भाग में अवस्थित गार्हपत्य कुण्ड में स्थापित करे। अग्नि के उत्पन्न होने पर यजमान अध्वर्यु को वर देवे। गार्हपत्य कुण्ड में अग्नि का स्थापन करने पर ब्रह्मा रथन्तर साम का गान करे, अथवा न करे।

आहवनीयाधान आहवनीय का आधान आप० श्रौत ५।१३। के अनुसार सूर्य के अर्धोदय काल में कहा है। आहवनीय अग्नि के आधान के लिये पलाश आदि वृक्षों की एक हाथ परिमाण की १८ या २१ समिधाएं 'इध्म' कहाती हैं, उन्हें कुशाओं से निर्मित रस्सी से बांधा जाता है (कात्या० श्रौत १।३।१४-१६) इन इध्मों को गार्हपत्याग्नि से प्रज्वलित करके आहवनीय अग्नि का उद्धरण किया जाता है। इस समय ब्रह्मा वामदेव्य साम का गान करता है। गार्हपत्य के समीप में बाधे गये अश्व को आहवनीय के समीप लाकर अध्वर्यु आहवनीय के उत्तर में प्राङ्मुख स्थित अश्व के दक्षिण पाद से आहवनीय स्थानस्थ हिरण्यादि संभारों को अतिक्रामित (=लंघवा) कर अश्व को पूर्व में लेजाकर दक्षिण ओर से घुमाकर पश्चिमाभिमुख खड़ा[1] करे। इस समय ब्रह्मा बृहत्साम का गान करता है[2]। प्रत्यङ् मुख स्थित अश्व के दक्षिण पाद से आहवनीयस्य संभार के ऊपर पैर के चिह्न को दो वार इध्मस्थ अग्नि से स्पर्श कराकर तीसरी वार स्पर्श के साथ ही भूर्भुवःस्वः मन्त्र से अग्नि को स्थापित करे। यजमान आहवनीय के पूर्व से आकर पश्चिमाभिमुख बैठकर स्थापित इध्म के पूर्वार्ध को हाथ

समिधाधान का विधान है। द्वितीय ऋचा का जप भी अन्त में होता है, मध्य में नहीं किया जाता है, ऐसा व्याख्याकारों का मत है। संस्कारविधि में समिधाग्निम् आदि तीन ऋचाओं से पूर्व अयन्त इध्म आत्मा मन्त्र भी समिदाधान में प्रयुक्त है। अर्थात् वहां भी तीन समिधायें और चार मन्त्रों का निर्देश है। इस प्रकरण की जैसी भाषा है—अयं त इध्म ⋯इस मन्त्र से एक, समिधाग्नि⋯इस से और सुसमिद्धाय इस मन्त्र से अर्थात् इन दोनों मन्त्रों से दूसरी।' इससे विदित होता है कि ऋषि दयानन्द समिधाग्नि मन्त्र का जप मानते हैं। इस पक्ष में, अर्थात् जब 'समिधाग्नि' मन्त्र से समित् का आधान नहीं किया जाता है, तब इस मन्त्र में 'स्वाहा' और 'इदमग्नये इदं न मम' का पाठ भी व्यर्थ होता है। अतः इनका उच्चारण नहीं करना चाहिये। प्रकृत में तीन समिधायें पार्थिव आन्तरिक्ष और द्युस्थ अग्नि को उद्देश्य करके दी जाती हैं। अतः यज्ञकर्म के तात्पर्य और यजुर्वेदस्थ मन्त्रक्रम की दृष्टि से समिधाग्निम् सुसमिद्धाय और तं त्वा समिद्भिः इन तीन मन्त्रों से है। पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष्य जातवेदा अग्नि, और द्युलोकस्थ आङ्गिरस अग्नि के लिये समित्-प्रक्षेप युक्त है। आप० श्रौत में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिये क्रमशः गायत्री त्रिष्टुप् और जगती छन्दस्क तीन-तीन ऋचाओं से समिदाधान कहा है (द्र०—आप० ५।६।२)।

१. 'यज्ञतत्त्वप्रकाश' के अनुसार आहवनीय स्थान के पूर्व दिशा में पश्चिमाभिमुख स्थित अश्व से आहवनीय स्थान को उल्लङ्घन करावे। अर्थात् आहवनीय को लांघकर अश्व पश्चिम भाग में पहुंचे, ऐसा यत्न करे। ऊपर का विवरण कात्यायन श्रौत की विद्याधरीय टीकानुसार है।

२. आप० श्रौत १४।३।५ के अनुसार इस समय आहवनीय स्थान के दक्षिण दिशा में स्थित ब्रह्मा रथ के चक्र को तीन बार घुमाता है।

से स्पर्श करते हुए द्यौरिव भूम्ना मन्त्र पढ़े, और आयं गौः आदि सार्पराज्ञी ऋचाओं से अग्नि का उपस्थान करे।

दक्षिणाग्नि का आधाम्नान[1] दक्षिणाग्नि के आधान में विकल्प है। चाहे गार्हपत्याग्नि से अश्वत्थ आदि के काष्ठों से अग्नि का उद्धरण करके, अथवा अन्य वैश्यादि कुल से अग्नि का आहरण करके, अथवा अग्नि का मन्थन करके दक्षिणाग्नि के कुण्ड में पूर्व स्थापित संभारों के ऊपर अग्नि का स्थापन करे। दक्षिणाग्नि की योनि (आनमनस्थान) के विकल्प होने इसे अनित्य भी कहा जाता है।

सभ्याग्नि का आधान—सभ्याग्नि का आधान अरणियों से मन्थित अग्नि अथवा लौकिक अग्नि से किया जाता है। कात्यायन के मत (श्रौत ४।९।१८) में अरणि-मन्थन से ही सभ्याग्नि का आधान कहा है। जहां पर गुरु छात्रों को पढ़ाता है, अथवा शास्त्रार्थविचार आदि किया जाता है, वह 'सभा' कहाती है। सभा में होनेवाली अग्नि सभ्याग्नि कहाती है (द्र०—यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृष्ठ ६, टि० ख)। सायणाचार्य ने तै. ब्रा० १।१।१० के भाष्य में 'जहां जुबा खेला जाता है, उस सभास्थ अग्नि को सभ्याग्नि कहा है।

आवसथ्याग्नि का आधान—आवसथ्याधानं दारकाले, दायाद्यकाले वा (पार० गृह्य १।२।१-२) वचनों के अनुसार विवाह-समय में आवसथ्याधान किया जाता है। अथवा दायभाग का बटवारा होने के पश्चात्। यदि इन समयों में भी आवस्थ्याधान न किया हो, तो श्रौताग्नियों के आधानकाल में किया जाता है। इसका आधान वैश्यकुल आदि से अग्नि को लाकर किया जाता है।

[आधान में 'अप:' से लेकर 'हिरण्य' पर्यन्त सम्भारों के, तथा विविध वानस्पत्य काष्ठों के स्थापन का, अरणि से अग्नि के मन्थन का, और अश्व के आनयन तथा उस के सुर का सम्भारों पर चिह्न करवाने का प्रयोजन है। इसकी व्याख्या आधानकर्म के अन्त में करेंगे।]

पूर्णाहुतिः—अग्नियों के आधान के अनन्तर स्रुव से १२ बार गृहीत घृत से जुहू पूर्ण करके सप्त ते अग्ने समिधस्सप्त जिह्वाः मन्त्र से पूर्णाहुति करे (द्र० आप० श्रौत ५।१८।१)। कात्यायन श्रौत में पूर्णाहुति का मन्त्र निर्दिष्ट नहीं है, तथा यजमान द्वारा अन्वारब्ध (= स्पृष्ट) अध्वर्यु पूर्णाहुति देवे, यह विधान मिलता है (द्र०—कात्या० श्रौत ४.४।५)। इस पूर्णाहुति से आधान कर्म समाप्त होता है।

पवमान इष्टियां—सभी अग्नियों के आधान के अनन्तर तीन पवमान[2] इष्टियां होती हैं, इन्हें तनूहवियां भी कहते हैं। प्रथमेष्टि का अग्नि पवमान देवता है द्वितीय का अग्नि पावक, और तृतीय का अग्नि शुचि। इनका अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य है। इनको आधान के दिन ही एक साथ करना होता है। कात्यायन श्रौत ४।१०।८-९ के अनुसार पवमानेष्टियां दो ही हैं प्रथम अग्नि पवमान देवतावाली, द्वितीय अग्निपावक और अग्निशुचि दो देवता वाली। पवमानेष्टि के पश्चात आदित्येष्टि होती है। इसमें अदिति देवता और चरु द्रव्य विहित है।

---

१. 'यज्ञतत्त्वप्रकाश' में दक्षिणाग्नि का आधान गार्हपत्य के पश्चात् अर्धोदित सूर्यकाल में विहित है। प्रतीत होता है, लेखन वा मुद्रण दोष से आहवनीय और दक्षिणाग्नि के आधान में व्यत्यास हो गया है।

२. यद्यपि पवमानेष्टियों में केवल प्रथम इष्टि का ही अग्नि पवमान देवता है। फिर भी सभी का पवमानेष्टि नाम से याज्ञिक सम्प्रदाय में व्यवहार होता है।

पवमान इष्टियां और आदित्येष्टि की प्रकृति दर्शपूर्णमास है। इस कारण सूत्रकारों ने प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या नियम से प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास से इन इष्टियों में सभी धर्म प्राप्त हो जायेंगे, यह मानकर इन इष्टियों का सामान्य निर्देशमात्र किया है।

आधान और पवमानेष्टियों का अङ्गाङ्गिभाव पवमानेष्टियां आधान कर्म के अङ्ग हैं, ऐसा भट्टकुमारिल का मत है।यदाहवनीये जुह्वोति इस स्वतन्त्र विधि से पवमानेष्टियों के अग्न्यङ्गत्व विधान से आधान के समान ही पवमानेष्टियां भी अग्नि की सम्पादक हैं, ऐसा मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी का मत है[1]। भट्ट-कुमारिल के मत में साङ्गकर्म के ही फलजनक होने से पवमानेष्टियों के अनुष्ठान के अनन्तर ही गार्हपत्य आदि अग्नियों की सिद्धि होती है। इसलिये पवमानेष्टियों के अनन्तर ही अग्निहोत्र का आरम्भ होता है। मीमांसाभाष्य-कार के मत में आधान और पवमानेष्टियों का अङ्गाङ्गिभाव नहीं है। अपितु पवमानेष्टियां भी आधान के तुल्य ही आहवनीयादि अग्नियों की सम्पादिका हैं। अतः दोनों का समुच्चय होता है। इस पक्ष में भी पवमानेष्टियों के बिना आहवनीयादित्व की निष्पत्ति न होने से पवमानेष्टियों के अनन्तर ही अग्निहोत्र का आरम्भ होता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में आधान और पवमानेष्टियों की पृथक्-पृथक् दक्षिणा कही है।

दक्षिणा—आपस्तम्ब श्रौत में अग्न्याधान की वस्त्र रथ गौ आदि पृथक् दक्षिणाओं का विधान किया है, और पवमानेष्टियों की शतमान १०० गुञ्जा (=रत्ती) सुवर्ण दक्षिणा कही है। इसका विभाग प्रथम दो इष्टियों की ३०+३० गुञ्जा, और तृतीय की ४० गुञ्जा (=३०+३०+४०=१०० गुञ्जा) सुवर्ण के रूप से किया है। कात्यायन श्रौत में दो पवमानेष्टियों[2] की ३+३=६, अथवा ६+६=१२, अथवा १२+१२==२४ गौवें दक्षिणा लिखी हैं। अधिक श्रद्धा होने पर अधिक का भी विधान किया है। यह आधिक्य न्यूनातिन्यून एक संख्या का माना गया है। आदित्येष्टि की एक धेनु (=सबरसा दूध देनेहारी गौ) दक्षिणा है।

दक्षिणा के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द का मत—ऋषि दयानन्द ने इस विषय में कात्यायन श्रौत का आश्रय लिया है। परन्तु कात्यायन श्रौत में ६, १२, २४ को प्रविभज्य (=बांट कर) अर्थात दोनों इष्टियों की सम्मिलित दीयमान गावों की संख्या कही है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आधान की दक्षिणा के सम्बन्ध में लिखा है—

'अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः, द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः, षट्पक्षे त्रयोदश। सर्वेषु पक्षेषु आदित्येष्टौ धेनुः। संस्कारविधि, पृष्ठ २४ (आ० स० श० सं०, रालाकट्० मुद्रित)।

यहां पर ऋषि दयानन्द ने कात्यायनोक्त ६, १२, २४ संख्या को एक-एक इष्टि की दक्षिणा मानकर दोनों इष्टियों की १२,२४,४८ गौ दक्षिणा स्वीकार की है। इस १२,२४,४८ में भूयसी विहित १ गौ को और गिनकर उन्होंने २४ पक्ष ४९, १२ पक्ष में २५ तथा ६ पक्ष में १३ गौवें दक्षिणा लिखी हैं। आदित्येष्टौ धेनुः[3]

---

१. द्र०—यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृष्ठ ७, टि० ख।

२. कात्या० श्रौत में दो ही पवनमानेष्टियां मानी हैं।

३. अजमेरमुद्रित पाठ आदित्येऽष्टौ धेनवः पाठ है। यह भ्रष्ट पाठ है। संस्कारविधि के दोनों हस्तलेखों में आदित्येऽष्टौ धेनुः पाठ मिलता है। इसमें लेखकप्रमाद से 'ऽ' का चिह्न लिखा गया है। इस कारण 'अष्टौ' पाठ

में एकवचनान्त धेनु का प्रयोग होने से आदित्येष्टि में एक धेनु दक्षिणा स्वीकार की है। कात्यायन का भी यही मत है।

संस्कारविधि का आधान-प्रकरण—संस्कारविधि ग्रन्थ मुख्यतया गृह्यकर्म संस्कारों के लिये लिखा गया है। पुनरपि इस ग्रन्थ का सामान्यप्रकरण श्रौतयज्ञों को ध्यान में रखकर संकलित किया गया है। यह दर्शपूर्णमास के पात्रों के लक्षण वा चित्रों से, तथा आधान-प्रकरण की दक्षिणा के निर्देश से स्पष्ट है। अतः हमें संस्कारविधिस्थ आधान-प्रकरण पर इस दृष्टि से विचार करना चाहिये। हमारे मत में संस्कारविधिस्थ आधान-प्रकरण श्रौत और गृह्यसूत्रोक्त अग्न्याधान का सम्मिलित, परन्तु संक्षिप्त रूप है। श्रौतसूत्रोक्त ३ तीन पवनमानेष्टियों में भिन्न-भिन्न देवता हैं। यहां तीनों का एक ही अग्नि पवमान देवता है। आदित्येष्टि के स्थान में यहां प्राजापत्याहुति है। ये चारों घृताहुतियां हैं। त्वन्नोऽग्ने आदि की आठ आहुतियां गृह्याधान के अनुसार हैं। संस्कारकर्मों की दृष्टि से यहां एक ही कुण्ड विहित है।

द्रव्यमय-यज्ञों की आधिदैविक सृष्टि-यज्ञों से तुलना

हम 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' में तथा मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या के प्रथम भाग में मुद्रित 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' में विस्तार से लिख चुके हैं कि जितने भी अग्न्याधान से लेकर सहस्र-संवत्सरसाध्य पर्यन्त श्रौतयज्ञ हैं, वे जो इस ब्रह्माण्ड में पृथिवी की रचना से लेकर प्रलयपर्यन्त दैव वा आसुर यज्ञ हो रहे हैं, उनका प्रत्यक्ष बोध कराने के लिये ऋषि-मुनियों द्वारा कल्पित किये गये हैं। वेद में साक्षात् उक्त यज्ञ आधिदैविक यज्ञ हैं, द्रव्ययज्ञों का साक्षात् विधान वेद में नहीं है। वेदोक्त आधिदैविक यज्ञों का ज्ञान कराने के लिये, उनके अनुसार जिन द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना ऋषि-मुनियों ने की, उन में यथावत् साम्य होने से आधिदैविक यज्ञों के विधायक मन्त्रों का ही द्रव्यमय यज्ञों में यथावत् विनियोग किया गया।

हम इसी तत्त्व का परिज्ञान कराने के लिये अग्न्याधानस्थ वेदिनिर्माण, और अग्न्याधान की प्रक्रिया का पृथिवी-निर्माण और उसके तल पर अग्नि की प्रथम उत्पत्ति के साथ तुलना दर्शाते हैं। यह विषय हम अपनी कल्पना से प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं, अपितु वैदिक ग्रन्थों में दोनों में जो साम्य दर्शाया है, उसे ही उपस्थित करते हैं—

श्रौतयज्ञों के आधारभूत वेदि-निर्माण और अग्न्याधान की प्रक्रिया, जिसका शाखाओं ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों में विस्तार से वर्णन किया हैं, उसका संक्षेप इस प्रकार है—

वेदि-निर्माण—सब से पूर्व वेदिनिर्माणार्थ यज्ञोपयोगी भूमि का निरीक्षण किया जाता है। तत्पश्चात् उस भूमि पर वेदि की रचना के लिये, भूमि के ऊपर की कुछ मिट्टी खोदकर हटाई जाती है, जिससे अशुद्ध मिट्टी वा घास-फूंस की जड़ें निकल जायें। तत्पश्चात् उस स्थान में निम्न क्रियायें क्रमशः की जाती हैं—

१—जल का सिञ्चन किया जाता है। तत्पश्चात्—

२—वराह-विहत (=सूअर से खोदी गई) मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्—

समझ कर मुद्रणकाल में 'अष्टौ' के सम्बन्ध से एकवचनान्त 'धेनुः' को धेनवः बहुवचनान्त बना दिया। 'अष्टौ' विच्छेद करने पर वाक्य का कोई अर्थ नहीं बनता है।

३—दीमक की बांबी की मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्—

४—ऊसर भूमि की मिट्टी (=रेह—पंजाबी में) फैलाई जाती है। तत्पश्चात्—

५—सिकता (=बालू) बिछाई जाती है। तत्पश्चात्—

६—शर्करा (=रोड़ी) बिछाते हैं। तत्पश्चात्—

७—ईंटें बिछाई जाती हैं। तत्पश्चात्—

८—सुवर्ण रखा जाता है।[1] तत्पश्चात्—

९—समिधायें रखी जाती हैं। तत्पश्चात्—

१०—अश्वत्थ (=पीपल) की अरणियों (=दो काष्ठों) को मथकर (=रगड़कर) अग्नि उत्पन्न करके समिधाओं पर धरते हैं।

पृथिवी-सृजन-प्रक्रिया और वेदिनिर्माण-विधि की समानता

अग्न्याधान में वेदिनिर्माण की जो उक्त क्रियायें की जाती हैं, वे हिरण्यगर्भाख्य महदण्ड से पृथिव्यादि के पृथक् होने के पश्चात् पृथिवी की जो सलिलमयी स्थिति थी, उस अवस्था से लेकर पृथिवी के पृष्ठ पर जब अग्नि की प्रथम उत्पत्ति हुई, तब तक की पृथिवी की विविध परिवर्तित स्थितियों का बोध कराती हैं। पृथिवी और वेदि का साम्य वेद स्वयं दर्शाता है—'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः' (यजु० २३।६२)। शतपथ-ब्राह्मण में इस काल को ९ विभागों में विभक्त करके नौ प्रकार के सर्ग (=सृष्टि) का वर्णन किया है। यथा—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत।...स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करा अश्मानम् अयोहिरण्यम् ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनमां पृथिवीं प्राच्छायदत्'॥ शत० ६।१।१।१३॥

यहां जो नौ प्रकार की सृष्टि कही है, उसमें फेन के प्रायःप्रधान होने से वेदि-निर्माण की उपर्युक्त प्रक्रिया में उसको सम्मिलित नहीं किया है। अब हम वैदिक-ग्रन्थों के आधार पर वेदिनिर्माण और पृथिवी के विविध सर्गों का वर्णन करते हैं, जिससे हमारे उक्त विचार स्पष्ट हो जायेंगे।

१. आरम्भ में पृथिवी सलिलमयी थी—'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शतपथ ११।६।१।६)। इस स्थिति को दर्शाने के लिये वेदि के स्थान में जलसिंचन किया जाता है।

२. अग्नि के संयोग से सलिलों में फेन उत्पन्न हुआ, जैसे दूध गरम करने पर उबाल के समय उत्पन्न होते हैं। वही फेन वायु के संयोग से घनत्व को प्राप्त होकर मृद्भाव को प्राप्त होता है। जैसे दूध पर मलाई जमती है (पर दूध को ढक देने से वायु का संयोग न होने से मलाई नहीं जमती)। इसके लिये शतपथ ६।१।३।३ में कहा है—'स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति'।

मृद की उत्पत्ति में सूर्य की किरणों का विशेष महत्त्व होता है। ये सूर्य की अङ्गिरस नामक किरणें वराह भी कहाती हैं[2]। उस समय पृथिवी का रूप वराह के मुख के सदृश छोटा-सा होता है। अत एव वेदि-निर्माण

१. हिरण्यमुपर्यके। कात्या० श्रौत ४।८।१५॥ 'सम्भाराणामुपरि हिरण्यनिधानमिच्छन्त्येक आचार्याः' इति-तद्व्याख्यासारः।

२. पुराणों में अनुश्रुति है कि विष्णु ने वराह का रूप धारण करके जल से पृथिवी को निकाला। सभी

में वराह (=सूअर) द्वारा खोदी गई बारीक मिट्टी बिछाई जाती है। इसलिये मैत्रायणी-संहिता १।६।३ में कहा है—'यावद् वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्। यद् वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते'। अर्थात् आरम्भ में पृथिवी उतनी ही थी, जितना वराह के मुख का अग्रभाग होता है। वराहस्य चषालम् पृथिवी-भाग की अल्पता का उपलक्षक है।

३. जब वही मृत् सूर्य की किरणों से सूख जाती है, तब उसे शुष्काप (=सूख गये हैं जल जिसके) कहते हैं। उसके नीचे जल होता है। यह सूखी हुई पपड़ीरूपी मृत् मसलने पर भुरभुरी हो जाती है। इसी शुष्कापरूप अवस्था का बोध कराने के लिये दीमक की बाम्बी की मिट्टी बिछाई जाती है। दीमक पृथिवी के अन्दर से गीली मिट्टी लाती है[1]। और वह हवा तथा धूप से सूख जाने पर मसलने से भुरभुरी होती है। इसीलिये मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यद् वल्मीकवपामुत्कीर्याग्निमाधत्ते'।

४—वही शुष्काप सूर्य की किरणों से तपकर ऊष (=जलानेवालेक्षारत्व) भाव को प्राप्त होते हैं। इसीलिये वेदि में ऊसर भूमि की 'रेह' बिछाई जाती है। मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते'।

५—वही ऊष=क्षार मिट्टी पुनः सूर्य-किरणों से, तथा पृथिवी-गर्भस्थ अग्नि से तप्त होकर सिकता=बालू का रूप धारण करती हैं[2]। इसीलिये वेदि में भी सिकता बिछाई जाती है—'यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते' (मै० सं० १।६।३)। इस अवस्था तक पृथिवी शिथिल=ढीली=पिलपिली थी। शुक्ल यजुः २०।१२ में कहा है—'अविरासीत् पिलिप्पिला'।

६. वही अन्तःस्थित सिकता भूगर्भस्थ अग्नि से तपकर शर्करा=रोड़ी[3] बन जाती है। पृथिवी के इस अन्तःपरिवर्तन का बोध कराने के लिये वेदि में शर्करा=रोड़ी बिछाई जाती है। इसीलिये मै० सं० १।६।३ में कहा है—'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते'।

पृथिवी-गर्भ में शर्करा की उत्पत्ति से भूमि में दृढ़त्व आता है। इस तथ्य को वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार दर्शाया है—'शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत' (मै० सं० १।६।३)।

पौराणिक अवतार विष्णु के अंश हैं। वेद में विष्णु सूर्य का नाम है, उसकी अङ्गिरसनामक किरणें वराह हैं—अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते (निरुक्त ५।४)। इन्हें जातिरूप से एकवचन में एमूष वराह भी कहते हैं। शतपथ १४।१।२।११ में कहा है—'तमेमूष इति वराह उज्जघान'। एमूष वराह का वर्णन ऋग्वेद के 'वराहमिन्द्र एमूषम्' (८।७७।१०) मन्त्र में भी आता है। एमूष का अर्थ है—आ=सब ओर से, ईम्=जलों को (=ईम् उदकनाम, निघण्टु १।१२), ऊष=तपानेवाला।

१. दीमक की बाम्बी के नीचे जल अवश्य होता है। इसीलिये राजस्थान में जलगवेषक दीमक की बाम्बी के स्थान में कुंआ खोदने को कहते हैं।

२. सिकता पृथिवी के ऊपर भी उपलब्ध होती है, जैसे राजस्थान में। और पृथिवी के अन्दर भी बनती है। आज भी कच्चे पहाड़ों में उपलब्ध कच्चे पत्थरों को मसलने पर बालू के कण पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

३. छोटे-छोटे पत्थर=कंकड़।

इसी अग्निरूप क'=प्रजापति के कर्म का वर्णन ऋग्वेद १०।१२१।५ में किया है—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'।

७.- वही शर्करा अन्तस्ताप से संतप्त होकर पाषाणरूप को धारण करती है। इसीलिये अग्निचयनसंज्ञक याग में वेदि में पाषाण के स्थान में प्रतिनिधिरूप ईटें बिछाई जाती हैं। तैत्तिरीय संहिता ५।२।८ में कहा है—'इष्टका उपदधाति'।

८.—वही पाषाण भूगर्भस्थ अग्नि से संतप्त होकर लोह से सुवर्णपर्यन्त धातुरूप में परिणत होता है।³ उसी धातूत्पत्ति-कालिक पृथिवी की स्थिति का वर्णन करने के लिये अग्निचयनसंज्ञक कर्म में कहा है—'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (द्र०—मीमांसाभाष्य १।२।१८); तथा 'रुक्ममुपदधाति' (मै० सं० ३।२।६)।

९.—पृथिवी-गर्भ में अयः (=लोह) से हिरण्य-पर्यन्त धातु-निर्माण हो जाने तक पृथिवी कूर्म-पृष्ठ (=कछुए की पीठ) के समान लोमरहित थी। उसके अनन्तर पृथिवी पर ओषधि-वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई। पृथिवी की इस स्थिति को बताने के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—

'इयं वाऽलोमिकेवाग्र आसीत्'। ऐ० ब्रा० २४।२२॥

'ओषधिवनस्पतयो वा लोमानि'। जै० ब्रा० २।५४॥

'इयं तर्हि ऋक्षाऽऽसीद् अलोमिका। तेऽब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै, यथाऽस्यामोषधयो वनस्पतयश्च जायन्त इति'। मै० सं० २।५।२॥

इसीलिये वेदि में हिरण्य रखकर समिधाएं अथवा तत्स्थानीय आरण्य उपले (=कण्डे) रखे जाते हैं।

वनस्पतिरूप बड़े-बड़े वृक्षों के उत्पन्न होने पर वायु के वेग से वृक्ष-शाखाओं की रगड़ से पृथिवी पर सब से प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई।⁴ अत एव वेद में कहा है—'तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे' (यजु० ३।५)।

पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथम अग्नि के प्रादुर्भाव का बोधन कराने के लिये वेदि में जिस अग्नि का आधान किया जाता है, उसे पीपल के काष्ठ से निर्मित दो अरणियों को मथकर ही उत्पन्न किया जाता है।

पुष्कर-पर्ण-विधि का रहस्य

आपस्तम्बादि श्रौतसूत्रानुसार आधान के वानस्पत्य सम्भारों में पद्मपत्र का भी निर्देश मिलता है।

---

१. ब्रह्माण्ड में यह 'क' अग्निरूप प्रजापति है। शरीर में 'क' अग्निरूप जीवात्मा प्रजापति है।

२. नियत अग्निचयन कर्म में श्येन आकारवाली वेदी में विभिन्न आकारवाली वे ईटें बिछाई जाती हैं। विभिन्न इष्ट आकारों में पत्थरों को घड़ना कष्टसाध्य है। इसलिये यहां प्रतिनिधिरूप में ईटें बिछाने का निर्देश किया गया है।

३. द्र०—'अश्मनो लोहसमुत्थितम्'। महा० उद्योग०; रसार्णवतन्त्र ८।११ में लोहसंकरज सुवर्ण का वर्णन मिलता है।

४. महावनों में वृक्ष-शाखाओं की रगड़ से दावाग्नि की उत्पति प्रायःहोती रहती हैं।

चयनयाग में भी 'तस्मिन् पुष्करपर्णम् अपां पृष्ठ इति (का० श्रौत० १३।२।२५) निर्देशानुसार पुष्करपर्ण को वेदि ने रखने का विधान मिलता है।

पूर्व संख्या ३ में शुष्कापरूप जिस पार्थिव स्थिति का वर्णन किया है, उस समय पार्थिव भाग जल पर वायु के वेग से पुष्करपर्ण (=कमल के पत्ते) के समान इधर-उधर डोलता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—'सा हेयं पृथिव्यलेलायत यथा पुष्करपर्णम्' (शत० २।१।१।८)। इसी का वर्णन वायुरूपी इन्द्र के कर्म के रूप में किया है—'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा' (ऋ० १०।११९।९) अर्थात् इन्द्र=वायु कहता है कि मैं इतना बलशाली हूं कि मैं जहां चाहूं इस पृथिवी को रख दूं।

पृथिवी की इसी पुष्करपर्णवत् स्थिति का निदर्शन अग्न्याधान वा चयन-याग में पुष्करपर्ण को रखकर कराया है। मत्स्यपुराण (१८६।१६ 'मोर' संस्क०) में इस विषय में लिखा है—

'एतस्मात् कारणात् तज्ज्ञैः पुराणैः परमर्षिभिः। यज्ञियैर्वेददृष्टान्तैर्यज्ञे पद्मविधिः स्मृतः'॥

अर्थात्—इसी कारण प्राचीन ऋषियों ने वेदनिर्दिष्ट दृष्टान्त से यज्ञ में पद्मविधि=पुष्करपर्ण के निधान का निर्देश किया है।

आहवनीय के आधान में अश्व की उपस्थिति

हम आहवनीय अग्नि के आधान-प्रकरण में लिख चुके हैं कि आहवनीय कुण्ड के समीप पहले पूर्वाभिमुख घोड़े को खड़ा किया जाता है। उसके दक्षिण पद से कुण्डस्थ संभारों का स्पर्श कराया जाता है, और तत्पश्चात् उसे घुमाकर आहवनीय कुण्ड की पूर्व दिशा में पश्चिमाभिमुख खड़ा करके उसका दहिना पैर कुण्ड में स्थापित सम्भारों पर जैसे पड़े उस प्रकार कुदाया जाता है, और कुण्डस्थ अश्व-पद-चिह्न से स्पर्श कर उस पर अग्नि रखी जाती है। आपस्तम्ब आदि कुछ श्रौतसूत्रों में इस समय ब्रह्मा के द्वारा रथचक्र को घुमाने का भी निर्देश मिलता है।

वेदि में स्थापित जो तीन अग्नियां हैं, उनमें गार्हपत्याग्नि पार्थिव अग्नि का प्रतीक है; आहवनीयाग्नि सौर अग्नि का; तथा दक्षिणाग्नि अन्तरिक्षस्थ अग्नि का प्रतीक है। सूर्य वा आदित्य का वेदों में बहुत्र 'अश्व' के नाम से निर्देश मिलता है। यथा—एको अश्वो वहति सप्तनामा (ऋ० १।१६४।२)। इस सूर्य की, स्वधुरि पर होनेवाली गति को ध्यान में रखकर उस का रथचक्र के रूप में भी वेद में बहुधा वर्णन मिलता है। यथा—त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम् (ऋ०१।१६४।२); सनेमि चक्रमजरं वि वावृत (ऋ० १।१६४ १४)। इस कारण सूर्यस्थानीय आहवीय अग्नि के स्थापन के समय प्रतीकरूप में अश्व को उपस्थित किया जाता है।

अध्यात्म-विज्ञान और अग्न्याधान

जिस प्रकार यज्ञीय अग्न्याधान की प्रक्रिया का आधिदैविक जगत् के सर्ग के साथ सम्बन्ध है, उसी प्रकार यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे नियम के अनुसार इस का सम्बन्ध अध्यात्म के साथ भी है। शरीरविज्ञान के वेत्ता जानते हैं कि माता के गर्भ में वीर्य और आर्तव के संयोग के पश्चात् शरीरनिर्माण की प्रक्रिया भी तरलावस्था से पूर्ण शरीर के निर्माण तक लगभग उन्हीं अवस्थाओं के अनुरूप होती हैं, जो पृथिवी-निर्माण की बताई गई है। शरीर-निर्माण की परिपूर्णता स्त्री-पुरुष के जननेन्द्रियों पर लोमोत्पत्ति पर पूर्ण होती है।

इस शरीर में भी तीन अग्नियों की स्थापना होती है। शरीर में गार्हपत्य शरीर का स्थानीरूप अग्नि है—वीर्याग्नि। आहवनीय अग्नि है—अधोभाग में अवस्थित वीर्य ऊर्ध्वगामी होता हुआ सूक्ष्मतमरूप से ओजरूप में परिणत होकर ब्रह्मगुहा में क्षरित होनेवाला पीताभ ब्रह्बिन्दु अथवा ब्रह्मवारि; जैसे सूर्य के तेज से पूरा सौरमण्डल प्रकाशित होता है, इसी प्रकार इस ओजरूप अग्नि से शरीर का प्रत्येक अवयव चमकता है। दक्षिणाग्नि——इस शरीर में जाठराग्नि है।

जैसे आधिदैविक जगत् में वेदिस्थानीय पृथिवी के ऊपर लोमस्थानीय ओषधि-वनस्पतियों की उत्पत्ति के पश्चात् वृक्षशाखाओं के घर्षण से पृथिवी के पृष्ठ पर अग्नि का आधान होता है, उसी प्रकार अध्यात्म में पृथिवी-स्थानीय है स्त्री। स्त्री के योनिप्रदेश पर लोमों की उत्पत्ति के पश्चात् ही स्त्री में पुरुष द्वारा वीर्यरूप अग्नि का आधान होता है। स्त्रीयोनि अधरारणिस्थानीय होती है, और पुरुष की उपस्थेन्द्रिय उतराणिस्थानीय। दोनों के घर्षण से पुरुष के शरीर से वीर्यस्राव होकर स्त्रीयोनि में उस का स्थापन होता है।

दक्षिणाग्नि पर विशेष विचार—यज्ञीय प्रक्रिया के अनुसार अग्न्याधान के अनन्तर गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों को सदा प्रज्वलित रखना होता है। इन के बुझ जाने पर पुनः आधान करना होता है। यह कर्म 'पुनराधान' कहाता है। सदा प्रज्वलित रहने पर भी आहवनीय और दक्षिणाग्नि का अग्निहोत्रादि के समय पुनः प्रणयन (=लाना) किया जाता है। क्योंकि याज्ञिक नियम है 'अपवृक्ते कर्मणि लौकिकः सम्पद्यते'=आहवनीय और दक्षिणाग्नि में कर्म करने के पश्चात् वह लौकिक अग्निवत् हो जाती है। अतः प्रत्येक कर्म के समय इन का अग्निप्रणयन द्वारा संस्कार किया जाता है। आहवनीय के लिये अग्नि का प्रणयन गार्हपत्य से ही होता है। परन्तु दक्षिणाग्नि के लिये दो पक्ष माने गये हैं। एक गार्हपत्याग्नि से, और दूसरा वैश्य कुलादि से। अतः दक्षिणाग्नि के सतत प्रज्वलित रहते हुए भी उसे अनित्य कहा गया है। पाणिनीय अष्टाध्यायी का एक सूत्र है—आनाय्योऽनित्ये (३।१।१२७)। जिस दक्षिणाग्नि की योनि आहवनीय के साथ समान है, अर्थात् जो यजमान दक्षिणाग्नि के लिये भी गार्हपत्याग्नि से ही अग्नि का प्रणयन करता है, वह दक्षिणाग्नि 'आनाय्य' कहाती है। और जो यजमान दक्षिणाग्नि के लिये वैश्यकुल आदि से अग्नि का प्रणयन करता है, वह दक्षिणाग्नि आनेय कहाती है। दक्षिणाग्नि के लिये अग्निप्रणयन का विकल्प होने से आधान समय में ही यजमान को संकल्प ग्रहण करना होता है कि वह दक्षिणाग्नि के लिये गार्हपत्य से अग्निप्रणयन करेगा, अथवा वैश्यकुल आदि से। और उसे अन्त तक निभाना होता है।

यज्ञकर्म में दक्षिणाग्नि के प्रणयन की ये दो योनियां क्यों कही गई हैं? आधानकर्म का आधिदैविक अग्नियों के साथ सम्बन्ध है। द्युलोकस्थ अग्नि की सतत प्रज्वलनशीलता पृथिवीस्थानीय जलतत्त्व पर निर्भर है। पार्थिव जल, पार्थिव अग्नि सौर अग्नि और वायु आदि के संयोग से सूक्ष्म होकर सूर्य सुषुम्ना किरणों के माध्यम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम होता हुआ सूर्यलोक तक पहुंचता है। उसी से सूर्य प्रज्वलित होता है। इसे वैदिकभाषा में 'पवमान सोम' कहते हैं। ऋग्वेद का नवम मण्डल इसी पवमान सोम का वर्णन करता है। शरीर में भी वीर्यरूप अप्तत्त्व सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा क्रमशः सूक्ष्म होता हुआ मस्तिष्क में ब्रह्मगुहा में क्षरित होता है। इसे आयुर्वेदज्ञ ओज के नाम से पुकारते हैं। योगीजन ब्रह्मबिन्दु ब्रह्मरस आदि नाम से इसका निर्देश करते हैं।

इसी पवमान सोम अथवा ब्रह्मरस अथवा ओजस्तत्त्व से जीवाग्नि कर्मशील बना रहता। इसी के पान से दैहिक इन्द्रियरूपी देव बलवान् होते हैं। ओज से रहित व्यक्ति निस्तेज आलसी बन जाता है।

शरीरस्थ दक्षिणाग्नि उदरस्थ पाचकाग्नि की दो योनियाँ हैं। दो से यह प्रज्ज्वलित होता है। जठराग्नि के यथावत् प्रज्वलित रहने के लिये शरीरस्थ वीर्याग्नि, और बाह्य भोजन के द्वारा प्राप्त ऊष्मा दोनों समान रूप से सहायक होते हैं। जो पुरुष निर्वीर्य हो जाता है, वीर्य का नाश अधिक करता है, उसकी जठराग्नि मन्द हो जाती है। इसी प्रकार चाहे कितना ही वीर्यवान् पुरुष क्यों न हो, यदि वह कुछ दिन भोजन आदि के द्वारा ऊष्मा को ग्रहण नहीं करता है, अर्थात उपवास करता है, तो उसकी जठराग्नि भी नष्ट हो जाती है (आधिदैविक जगत् में अन्तरिक्षस्थ दक्षिणाग्नि की दो योनियों की व्याख्या करने में, मैं असमर्थ हूं)। इसी के प्रतीकस्वरूप यज्ञकर्म में दक्षिणाग्नि का विकल्प विधान किया है।

आधिदैविक जगत् की तीनों अग्नियां तो प्राकृतिक नियम से अथवा सर्वनियन्ता ब्रह्म के नियम से सगरिम्भ से लेकर सर्गान्त सदा प्रज्वलित रही हैं। परन्तु शरीरस्थ तीनों अग्नियाँ पुरुष के अज्ञान, असद् आचार-व्यवहार के कारण शान्त सी हो जाती हैं। उन्हें जैसे चिकित्सा के द्वारा पुनः प्रज्वलित किया जाता है, इसी प्रकार यदि यजमान के प्रमाद से कोई अग्नि शान्त हो जाती है, तो पुनः पुनराधेय कर्म द्वारा अग्नियों का पुनः आधान करना होता है।

अग्निहोत्र

पूर्वोक्त प्रकार से हमारे आधिदैविक जगत् में पृथिवी के ऊपर अग्नि का आधान होने के पश्चात् जब मनुष्य उत्पन्न होता है, तो सब से प्रथम दिन और रात की परिवर्तनरूप स्थिति उसके अनुभव में आती है। यह इस आधिदैविक जगत् की सब से छोटी परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। इसी प्रकार अध्यात्म में भी यही दिन-रात का चक्र जागरित और सुषुप्ति (जागना और सोना) रूप में होता है। ये दोनों प्रकार (आधिदैविक और आध्यात्मिक) जगत् की स्वाभाविक परिणति हैं। इसी तत्त्व की व्याख्या ऋषियों ने अग्निहोत्र के रूप में की है।

पूर्वोक्त प्रकार से जिस सपत्नीक यजमान ने अग्नियों का आधान कर लिया है, उस आहिताग्नि पत्नीवाच्य दम्पती को समस्त श्रौतकर्मों के करने का अधिकार प्राप्त हो जाता। जिस प्रकार आधिदैविक जगत् में अहोरात्र का कालविभाग सब से छोटा है, उसी प्रकार श्रौतकर्मों में उसका प्रतिनिधिरूप अग्निहोत्र कर्म भी सबसे छोटा है। जिस प्रकार मनुष्य अहोराज का अनुभव यावज्जीवन करता है, उसी प्रकार अग्निहोत्र का अनुष्ठान भी यावज्जीवन करना होता है। भट्ट शबरस्वामी ने किसी लुप्त ऋग्वेदीय ब्राह्मण का 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' (=यावज्जीवन अग्नि-

होत्र करे) वचन मीमांसा २।४।१ के भाष्य में उद्धृत किया है। शतपथ ब्रा० १२।४।१।१ में अग्निहोत्र को 'जरामर्य सत्र' कहा है। इस कर्म से यजमान तभी मुक्ति पाता है, जब वह अत्यन्त जीर्ण (=शिथिलगात्र) हो जावे, अथवा उसकी मृत्यु हो जावे—'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्, जरया ह वा एतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा'। अत एव यह नैत्यिक कर्म माना गया है। अग्निहोत्र रात और दिन में दो बार किया जाता है। दोनों समय का मिलकर एक अग्निहोत्र कर्म होता है।

अग्निहोत्र का आरम्भ – आधान कर्म मध्याह्नोत्तर तक समाप्त होता है। तत्पश्चात् अग्निहोत्र का प्राप्त होनेवाला काल सायं है। अतः अग्निहोत्र कर्म का आरम्भ सायंकाल से होता है। तत्पश्चात् प्रातःकाल उपस्थित होने पर प्रातःकालिक अग्निहोत्र किया जाता है। यजुर्वेद के तृतीय अध्याय में भी पहले सायंकालीन अग्निहोत्र के मन्त्र पढ़े हैं, तदनन्तर प्रातःकालीन अग्निहोत्र के।

सायंकाल से आरम्भ करने का कारण– अग्निहोत्र का आरम्भ सायंकाल से क्यों होता है, इस का एक कारण हम पूर्व लिख चुके हैं। इस का दूसरा कारण है—जैसे दिन से पूर्व रात होती है, उसी प्रकार इस सृष्टि =सर्गरूप अहः=दिन से पूर्व रात्रि=प्रलयकाल होता है। वर्तमानकाल का भूतकाल के साथ नित्य संबन्ध है। अतः सर्ग का व्याख्यान करने से पूर्व प्रलयकाल का व्याख्यान आवश्यक होता है, अन्यथा सर्ग=उत्पत्ति का बोध नहीं हो सकता। ऋग्वेद मण्डल १० के नासदीय (१२९ वें) सूक्त में जिसे भाववृत्त (=भाव का वर्तन=सृष्टि की उत्पत्ति) सूक्त कहा जाता है, उस में भी प्रथम मन्त्र में प्रलयावस्था का वर्णन किया है। हमारे मानव धर्मशास्त्र, जिस का सम्बन्ध उत्पन्न हुए मानवों को उनके कर्त्तव्यकर्म का बोध कराने से है, उस का आरम्भ भी 'आसीदिदं तमोभूतम्' से होता है। इसी दृष्टि से यजुर्वेद में भी अग्निहोत्र का आरम्भ सायंकालीन अग्निहोत्र से किया है।

अग्निहोत्र नाम का कारण—'अग्निहोत्र' शब्द का अर्थ है—अग्नये हूयते अस्मिन् तद् अग्निहोत्रम् =जिस कर्म में अग्नि के लिये होम किया जाता है। यद्यपि अग्निहोत्र कर्म के दो देवता हैं—सायंकालीन कर्म का अग्नि, और प्रातःकालीन कर्म का सूर्य, तथापि इस होमकर्म का आरम्भ सायंकाल से होता है, रात्रि का देवता अग्नि है। मानव रात्रि में अग्नि के सहारे ही कार्य करने में समर्थ होता है, इस कारण उभयकालीन कर्म की संज्ञा अग्निहोत्र रखी गई है।

अग्निहोत्र का काल—प्रातःकालीन अग्निहोत्र के काल मानव धर्मशास्त्र में तीन कहे हैं—उदित, अनुदित और समयाध्युषित। यथा—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥ मनु० २।१५॥

उदित काल से अभिप्राय है– जब सूर्य का उदय=दर्शन हो जाये। अनुदित काल वह माना जाता है, जब तक सूर्योदय से पूर्व नक्षत्र दिखाई देते हैं। समयाध्युषित काल वह कहा जाता है, जब नक्षत्रों का दर्शन बन्द हो जाये, और सूर्य का उदय भी न होवे। यथा—

तथा प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले।
रविर्यावन्न दृश्येत समयाध्युषितं हि तत्॥

उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में उदित और अनुदित दो कालों में ही अग्निहोत्र करने का उल्लेख मिलता है। इस काल विभाग के अनुसार ऋग्वेदी, शुक्ल यजुर्वेदी और सामवेदी अनुदित कालवाले है तथा कृष्ण यजुर्वेदी तैत्तिरीय और मैत्रायणीय शाखावाले अनुदित होमी हैं। परन्तु न्यायदर्शन २।१।५७ के वात्स्यायन भाष्य में उदिते होतव्यम् अनुदिते होतव्यम्, समयाध्युषिते होतव्यम् तीनों कालों में अग्निहोत्र के विधायक वचन और यथाविहित समय में अग्निहोत्र न करने के निन्दारूप वचन उद्धृत हैं। इससे स्पष्ट है कि जिन शाखाओं और ब्राह्मणों में समयाध्युषित काल में अग्निहोत्र का विधान था, वे सम्प्रति लुप्त हो गये हैं।

प्रातःकालीन अग्निहोत्र के तीन कालों का विधान होने पर भी सायंकालीन अग्निहोत्र सूर्य के अस्त होने पर ही होता है।

अग्निहोत्र कालविषयक संकल्प—प्रातःकालीन अग्निहोत्र के लिये तीन कालों का विधान होने से अग्निहोत्र आरम्भ करने से पूर्व यजमान को संकल्प करना होता है कि मैं 'सूर्योदय से पूर्व' अथवा 'सूर्योदय के पश्चात्' अथवा 'समयाध्युषित काल में' अग्निहोत्र करूंगा। संकल्प करने के पश्चात् यावज्जीवन संकल्पित काल में ही अग्निहोत्र करना पड़ता है। अन्यथा काल का उल्लङ्घन करने पर वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसीलिये न्यायदर्शन २।१।५९ में अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् (=किसी एक काल को स्वीकार करके काल का उल्लङ्घन होने पर दोष कहने से) सूत्र का निर्देश हैं। वात्स्यायन भाष्य २।१।५९ में कालभेद होने पर दोषविधायक निन्दावचन इस प्रकार उद्धृत हैं—

श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति=जो अनुदित वा समयाध्युषित काल का संकल्प करके सूर्योदय होने पर अग्निहोत्र करता हैं, उसकी आहुति काले रंग का कुत्ता[1] खा जाता है।

शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति=जो उदित वा समयाध्युषित होम का संकल्प करके अनुदित काल में होम करता है, उसकी आहुति सफेद रंग का कुत्ता खा जाता है।

श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति—जो अनुदित वा उदित होम का संकल्य करके समयाध्युषित काल में होम करता है, उसकी आहुति काले और सफेद रंग के कुत्ते खा जाते हैं।

इन निन्दावचनों का तात्पर्य संकल्पित समय पर ही अग्निहोत्र करने की प्रशंसा करने में जानना चाहिये। मीमांसकों का एक 'नहि निन्दा' न्याय है—नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम् (द्र०—मीमांसा शाबरभाष्य १।४।२६)। अर्थात् निन्दा वचन निन्दा करने के लियें प्रवृत्त नहीं होते हैं, अपितु विधेय की स्तुति में उनका तात्पय होता है।

सभी पक्षों में अग्नि का प्रणयन—अग्नि का प्रणयन गार्हपत्य से अंगारों को उपवेष संज्ञक पात्र में

१. यद्यपि उक्त तीनों वचनों में श्याव शवल रंगवाची शब्द ही पठित हैं, 'श्वा' का निर्देश नहीं है, तथापि जैसे लोहित अथवा शोण कहने से लाल रंग की गौ और लाल रंग के अश्व का बोध होता है, वैसे ही उपर्युक्त वचन में जानना चाहिये। महाभाष्य (१।२।७१) में कहा है—समाने रक्ते वर्णे गौर्लोहित इति भवति, अश्वः शोण इति। समाने च काले वर्णे गौः कृष्ण इति भवति, अश्वो हेम इति। समाने ह शुक्ले वर्णे गौः श्वेत इति भवति अश्वः कर्क इति।

लेकर दक्षिणाग्नि वा आहवनीय में स्थापित करना रूप कर्म सभी पक्षों में सूर्य के उदय वा अस्त काल से पूर्व ही किया जाता है। तदन्तर उसे प्रज्वलित करके यथाकाल अग्निहोत्र किया जाता है।

प्रतिशाखा कर्म भेद—प्रतिशाखा अग्निहोत्र कर्म में कुछ-कुछ भेद है। यहां प्रथम कात्यायन श्रौत और आपस्तम्ब श्रौत के अनुसार सामान्य कर्म का निर्देश करते हैं। अग्न्याधान कर्म मध्याह्न तक प्रायः समाप्त हो जाता है। अतः पत्पश्चात् अग्निहोत्र की प्रथम प्राप्ति सायं काल में होती है, तदनन्तर दूसरे दिन प्रातः कालीन अग्निहोत्र प्राप्त होता है। इस प्रकार सायंकालीन और प्रातःकालीन अग्निहोत्र मिलकर एक अग्निहोत्र कर्म होता है। सायंकालीन अग्निहोत्र की देवता अग्नि है। अतः छत्रि-न्याय[1] से दोनों काल के होम की संज्ञा अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र के लिये कई हव्य द्रव्यों का उल्लेख मिलता है (इनका आगे उल्लेख करेंगे)। उनमें पयः (दूध) द्रव्य प्रधान और सर्व सामान्य माना गया है।

अनुष्ठान का प्रकार—सायंकालीन अग्निहोत्र के लिये सायंकालिकमग्निहोत्रमहं करिष्ये इस प्रकार संकल्प करके यजमान सूर्यास्त से पूर्व उपवेष संज्ञक पात्र से गार्हपत्य अग्नि से जलते हुए अंगारे को लेकर उसे दक्षिणाग्नि के कुण्ड में स्थापित करे। तदनन्तर पुनः गार्हपत्याग्नि से जलते हुए अंगारे को लेकर आहवनीय में रखे। दक्षिणाग्नि में अङ्गार का स्थापन विना मन्त्र के होता है। आहवनीय में अग्निपतयेऽग्नये से लेकर तं त्वया निदधामि पर्यन्त मन्त्रों[2] (द्र० आप० श्रौत ६।१।७, ६।२।१) को उच्चारण करते हुए अंगारे को रखते हैं। तत्पश्चात् यजमान समिधाओं का तीनों अग्नियों में आधान क्रम (गार्हपत्य आहवनीय दक्षिणाग्नि में) प्रक्षेप करता है। आहवनीय में इतनी समिधाएं रखे जिनसे दी जाने वाली आहुति अग्नि के नीचे न पहुंचे (आप० श्रौत० ६।२।४,६)। तदनन्तर अग्नि कुण्ड को सब ओर से मार्जन करके अलङ्कृत करे। सुगन्धित द्रव्य पुष्पादि से भी अग्नि को अलङ्कृत करते हैं (यह लौकिक विधि है)। कुण्ड के चारों ओर उदगग्र[3] अथवा प्रागग्र[3] कुशाओं को बिछाकर यजमान की जो अग्निहोत्री गौ (जिस गाय के दूध से यजमान अग्निहोत्र करता है) उस को यज्ञीय स्थान के दक्षिण में लाकर बांधे। तत्पश्चात् सूर्य के छिपने पर उस गाय को दूह कर दूध को पकाने के लिये मिट्टी के पात्र (हांडी) में डालकर गार्हपत्य अग्नि से अङ्गारों को पृथक् करके कुण्ड से बाहर वायव्य कोने में रखकर उसके ऊपर दूध के पात्र को रखकर दूध को पकावे (गरम करे)। जिस पात्र में दूध दोहा गया है, उसमें थोड़ा जल डालकर पात्र को धोकर उस पानी को स्रुव में भरकर दूध में डाले अथवा जल डाले।[4] तदनन्तर थोड़ी सी कुशाओं को जलाकर दूध

---

१. किसी समुदाय में एक व्यक्ति के हाथ में छाता होने पर पूरे समुदाय को उस से विशेषित करके छत्रिणो यान्ति का लोक में व्यवहार छत्रिन्याय कहाता है। यहां भी सायं काल के होम की अग्नि देवता है और प्रातः काल के होम की सूर्य देवता। दोनों देवतावाले कर्म को अग्नि से विशेषित करके अग्निहोत्र नामकरण किया गया है।

२. द्र० आप० श्रौत मैसूर मुद्रित भाग २, पृष्ठ ७ की ५ वीं टिप्पणी।

३. कुशाओं का अग्रभाग उत्तर में अथवा पूर्व में करके बिछावे। उदगग्र पक्ष में उत्तर से दक्षिण की ओर तथा प्रागग्र पक्ष में पूर्व से पश्चिम की ओर कुशाओं को बिछाया जाता है।

४. यह जल प्रक्षेप दूध के गरम होने पर उसे न्यून होने से बचाने के लिये किया जाता है। राजस्थान

दूध के पात्र के चारों ओर तीन बार घुमाए। इसे पर्यग्निकरण कहते हैं। कात्यायन श्रौत (४।१४।५) के अनुसार कुशाग्रों को थोड़ी-थोड़ी देर से तीन बार जलाकर उत्तर दिशा में फेंक देवे। यह तिनकों का जलाना दूध पका है वा नहीं इस को देखने के लिये है। इसलिये अन्य हवियों में इस कर्म का अभाव होता है। दूध के पक जाने पर पात्र को नीचे उतार कर उन अंगारों को वापस गार्हपत्याग्नि में डाल देते हैं।

तत्पश्चात् स्रुव तथा अग्निहोत्रहवणी[1] पात्रों को हाथ में लेकर आहवनीय में तपाकर और पोंछकर स्रुव से एक-एक करके चार बार अग्निहोत्रहवणी में दूध को डाले। (इसे हविरुन्नयन कर्म कहते हैं) उस उन्नीत (अग्निहोत्रहवणी में गृहीत) दूध को गार्हपत्यकुण्ड के पश्चिम भाग में रखकर हाथ को तपाकर उससे दूध का स्पर्श करे। तदनन्तर एक प्रादेश (नौ अङ्गुल) परिमाण की एक, दो या तीन समिधाओं को दुग्धपूरित अग्निहोत्र-हवणी के ऊपर धारण करके गार्हपत्य के ऊपर से लेकर आहवनीय के समीप में लाकर रखे। जल का स्पर्श करके उन लाई हुई समिधाओं को अग्नि में छोड़कर अग्निहोत्रहवणी के दूध से अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा मन्त्र से होम करे। उस के पश्चात् अग्निहोत्रहवणी के अग्र भाग में लगे हुए दूध को हाथ में लेकर भूमि पर गिरा कर पूर्ववत् स्रुव से एक-एक करके चार बार दूध अग्निहोत्रहवणी में लेकर प्रजापतये स्वाहा मन्त्र से दूसरी आहुति देवे। इसी प्रकार प्रातःकाल सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा से पहली और प्रजापतये स्वाहा से दूसरी आहुति देवे। ये चार आहुतियां ही सायं-प्रातःकाल के अग्निहोत्र की हैं। यजुर्वेद में इस प्रकरण में सायंकालीन तीन मन्त्र पढ़े हैं, और प्रातःकालीन चार। कात्यायन श्रौत-सूत्र में मन्त्रों का विकल्प कहा है।

होमकाल में अग्निहोत्रहवणी में स्थित पूरे दूध का होम नहीं करना चाहिये, किन्तु भक्षण के लिये कुछ बचा लेना चाहिये।

अग्निहोत्र-वाच्य मुख्याहुतियों के विषय में मत भेद—तैत्तिरीय और शुक्ल यजुर्वेदी पूर्वोक्त चार आहुतियों की ही अग्निहोत्र संज्ञा स्वीकार करते हैं। ऋग्वेदी आगे कही जानेवाली सायं गार्हपत्य-सम्बन्धी चार, दक्षिणाग्नि सम्बन्धी चार=आठ आहुतियां; इसी प्रकार प्रातःकाल की आठ आहुतियां। इन १६ आहुतियों के साथ पूर्वोक्त चार आहुतियों को मिलाकर २० आहुतियों की अग्निहोत्र संज्ञा स्वीकार करते हैं (द्र०—आश्वलायन श्रौत २।२)। दोनों में अन्तर इतना ही है कि तैत्तिरीय अग्निहोत्र की पूर्वोक्त चार आहुतियों को ही प्रधान मानते हैं। शेष १६ आहुतियां अङ्गरूप हैं। ऋग्वेदियों के मत में २० बीसों आहुतियां प्रधान हैं। इस मतभेद का फल 'नित्यकर्म में कारणवश साङ्ग कर्म की अशक्यता होने पर प्रधानमात्र कर्म करके यजमान कृतकार्य हो जाता है, पक्ष में तैत्तिरीयों और शुक्ल यजुर्वेदियों के मत में केवल चार आहुतियां करके कार्य-परिसमाप्त हो जाता है, जबकि ऋग्वेदियों को २० आहुतियां आवश्यक होती हैं।

अवशिष्ट आहुतियां—सायं व प्रातः पूर्वोक्त चार आहुतियों को देकर अग्निहोत्रहवणी को नीचे भूमि पर

में प्रसिद्धि है कि दूध में बिना जल मिलाये गरम करने से गौ के स्तन जल जाते हैं। इस लिये वहां के शुद्ध दुध बिक्रेता भी थोड़ा सा पानी अवश्य मिलाते हैं। इसे वे दूध में पानी मिलाना मानते ही नहीं हैं।

१. जिस स्रुक् से अग्निहोत्र किया जाता है, उसे अग्निहोत्रहवणी कहते हैं।

रखकर स्रुव से गार्हपत्य में चार और दक्षिणाग्नि में चार आहुतियां देवे। इनमें गार्हपत्याग्नि सम्बन्धी दो आहुतियों का अग्नि गृहपति देवता होता है। इनका होम मन्त्र है—अग्ने गृहपते परिषद्य जुषस्व स्वाहा। पक्षान्तर में गृहपति, रयिपति, पुष्टिपति, काम अन्नाद्य विशेषणों से विशिष्ट अग्नि देवता होता है। इस पक्ष में होम मन्त्र है—अग्नये गृहपतये रयिपतये पुष्टिपतये कामायान्नाद्याय स्वाहा। इसी प्रकार दक्षिणाग्नि में दी जाने वाली चार आहुतियों में प्रथम तृतीय चतुर्थ का मन्त्र है—अग्नेऽदाभ्य परिषद्य जुषस्व स्वाहा। दूसरी आहुति का मन्त्र है—अन्नपतेऽन्नस्य नो धेहि।

ये मन्त्र आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार हैं। अन्य श्रौत सूत्रों में मन्त्रों में भेद देखा जाता है। यहां हमारा अग्निहोत्र कर्म का सामान्य परिचय देना इष्ट है, श्रौतसूत्रकारों की प्रक्रियाभिन्नता दर्शाना इष्ट नहीं है। अतः किसी भी श्रौत सूत्र के अनुसार सामान्य परिचय दिया जा सकता है। आगे दर्शपूर्णमास आदि के परिचय में इसी प्रकार समझें।

अवशिष्ट कर्म—होम करके अग्नि के चारों ओर जल सिंचन करके आहवनीय के दक्षिणभाग में बैठकर अग्नियों का उपस्थान करे। तदनन्तर वेदि के मध्य में अग्निहोत्रहवणी को रखकर उसमें लगा तथा होम से अवशिष्ट दूध का भक्षण करके आचमन करे। हाथ धोकर अग्निहोत्रहवणी को जल से पूरण करके आचमन करे। तदनन्तर दर्भों से रगड़कर धोवे। तत्पश्चात् यजमान वेदि में हाथ फैलाकर उस पर जल छोड़कर उन्हें शिर पर छिड़के। यह अग्निहोत्र कर्म का संक्षिप्त परिचय है।

क्रिया करनेवाला—अग्निहोत्र में आहुति आदि कर्म कौन करे। यजमान वा अध्वर्यु? इस विषय विकल्प है। अध्वर्यु भी ऋत्विक् रूप से वरण किया हुआ कर्म करता है और केवल यजमान भी। प्रथम पक्ष में भी यजमान और उसकी पत्नी की विधमानता भी आवश्यक है। द्वितीय पक्ष में भी पत्नी साथ में रहती है।

देशान्तर गमन में—यदि यजमान परिवार सहित देशान्तर में जावे तो गार्हपत्यादि अग्नियों का अरणियों में आरोप करके नियत स्थान पर जाकर अरणिमन्थन से अग्नियों को सिद्ध करके पूर्ववत् कर्म करे। यदि अकेला जावे तो उसके अभाव में यजमान पत्नी, अध्वर्यु वा शिष्य अग्निहोत्र करे। यदि अध्वर्यु वा शिष्य कार्यकर्त्ता होवें तो यजमान पत्नी 'इदं न मम' रूप त्याग करे।

अग्निहोत्र के द्रव्य—श्रौत सूत्रों में नित्य (=निष्काम) अग्निहोत्र की सामान्य रूप से दूध ही हवि मानी गई है। तथापि कामना पूर्वक काम्य अग्निहोत्र की घृत दही यवागू तण्डुल (चावल) आदि का विधान मिलता है। यथा—यवाग्वा ग्रामकामः, तण्डुलैर्बलकामः, दध्नेन्द्रियकामः, घृतेन तेजस्कामः (कात्या श्रौत १५।१५।२१।२५)। इसके अतिरिक्त स्मार्त होमों में तैल दधि पयः सोम यवागू ओदन घृत तण्डुल फल आपः (जल) ये दश द्रव्य गिनाये हैं (द्र० स्मार्तोल्लास)।

नित्यकर्मों की अनिवार्यता में आपत्काल विषयक विचार—अग्निहोत्र की गणना नित्यकर्मों में सर्वप्रथम की गई है। जीवन में अनेक ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं जब यथाविहित साङ्ग कर्म करने में मनुष्य असमर्थ हो जाता है। वह असमर्थता स्व शरीरादि कृत तथा द्रव्यादि कृत अनेक प्रकार की हो सकती है। अतः अग्निहोत्र के विषय में शतपथ ब्राह्मण (११।३।१) में याज्ञवल्क्य और जनक का एक बहुत रोचक संवाद मिलता

हैं। उसे हम हिन्दी में लिखते हैं—जनक वैदेह ने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य! अग्निहोत्र को जानते हो? जानता हूं सम्राट्! वह क्या है? दूध ही है। यदि दूध न मिले तो किस से होम करे? जौ और धान से। यदि जौ और धान न मिलें तो किस से होम करे? जो अन्य ओषधियां (=अन्न) हैं उन से। यदि अन्य अन्न भी न मिलें तो किस से होम करे? जो जंगली अन्न (कोदों सावा आदि) हैं उन से होम करे। यदि अन्य जंगली अन्न भी न मिलें तो फिर किस से होम करे? वनस्पतियों (=फलवाले वृक्षों के फलों) से होम करे। यदि वानस्पत्य फल भी न मिलें तो फिर किस से होम करे! जलों से होम करे। यदि जल भी न मिले तो किस से होम करे? वह याज्ञवल्क्य बोला—यहां जब कुछ भी न मिले तो सत्य को श्रद्धा में ही होमे। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! तुम अग्निहोत्र को जानते हो, मैं सौ गौवें देता हूं।

इसी प्रसंग के अन्त में कहा है—प्राण ही अग्निहोत्र है। सम्भवतः इसी दृष्टि से भगवद्गीता में कहा है—

अपरे नियताहाराः प्राणान प्राणेषु जुह्वति। गीता ४।३०॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे॥ गीता ४।२९॥

इस प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि शास्त्रकारों ने यज्ञों का विधान करते हुए और उन की नित्यता पर बल देते हुए भी कर्म को प्रधान माना है और द्रव्यादि साधनों को गौण स्वीकार किया है। परन्तु इस का यह तात्पर्य नहीं कि सर्व साधन सुलभ होने पर भी विहित साधनों का परित्याग करके मनमाने रूप से अग्निहोत्रादि करें। साधनों की गौणता आपत्काल विषयक है। आपत्काल में कर्म का लोप न होवे, इस दृष्टि से कथंचित् भी उसे पूर्ण करने के विधान में शास्त्रकारों का तात्पर्य है।

कर्म और साधन की इसी प्रधानता और गौणता को ध्यान में रख कर ऋषि दयानन्द ने भी सन्ध्या के प्रकरण में आचमन के विषय में लिखा है—नो चेन्न। अर्थात् सन्ध्या का समय हो गया है और उस समय किसी कारण वश जल उपलब्ध नहीं है तो जल के आचमन को छोड़ कर संध्या कर ले। शास्त्रकारों की साधनों की गौणता के प्रति उचित निर्देश होते हुए प्रायः आर्यसमाज में अधिसंख्य ऐसे व्यक्ति हैं जो घर में रहते हुए भी सन्ध्या में आचमन नहीं करते। यह शास्त्रकार के नो चेन्न का दुरुपयोग है। अथवा साङ्ग कर्म के प्रति हमारी अनास्था का द्योतक है।

आधिदैविक अग्निहोत्र—इस सृष्टि में दिन और रात ही अग्निहोत्र का स्वरूप है। दिन का देवता सूर्य है और रात्रि का देवता अग्नि। इन्हीं के आश्रय चराचर जगत् दिन रात में कार्य करता है।

आध्यात्मिक अग्निहोत्र—प्राण और अपान ये अध्यात्म=शरीर के देवता हैं। ये जीवन धारण के आरम्भ से लेकर अन्त तक अग्निहोत्र को करते रहते हैं। इस अध्यात्म अग्निहोत्र में भी जो कुशल व्यक्ति हैं वे गीता के शब्दों में प्राणायाम की गति को अपने वश में करके प्राण में अपान और अपान में प्राण का होम करके अर्थात् प्राणायाम-परायण होकर समस्त इन्द्रियजन्य दोषों को नष्ट कर[1] के ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होते हैं।

इत्यग्निहोत्रः परिचयः समाप्तः॥

---

१. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु ३।७२॥

दर्श-पूर्णमास

आधिदैविक जगत् में प्रतिदिन दिन और रात के रूप में जो परिवर्तनशील दृश्य प्राणिमात्र से गृहीत होता है, उस के पश्चात् प्राणिमात्र से परिगृहीत होनेवाला जो विशेष परिवर्तन होता है, वह है रात्रि में प्रकाश और अन्धकार के रूप में उपस्थित होनेवाला दृश्य। यह परिवर्तन प्रतिदिन होते हुए भी पन्द्रह-पन्द्रह दिनों के दो विभागों में विभक्त होता हुआ पूर्णता को प्राप्त हुआ जाना जाता है। इन का लोक में शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के रूप में व्यवहार होता है। शुक्ल पक्ष में अमावास्या की पूर्ण अन्धेरी रात के पश्चात् सूर्यास्त के पीछे क्रमशः प्रकाश की मात्रा तथा समय बढ़ता जाता है, और पूर्णिमा की रात में पूर्णचन्द्र का प्रकाश होता है, और सारी रात प्रकाश रहता है। इसी प्रकार कृष्ण पक्ष में पूर्णिमा के पश्चात् चन्द्रोदय क्रमश दो-दो घड़ी (=४८ मिनट) देर से होता है, और उसकी प्रकाश की कलाएं शनैः शनैः लुप्त होने से अन्धकार की मात्रा बढ़ते-बढ़ते अमावस्या की रात में पूरा अन्धकार होता है। उस दिन चन्द्रोदय सूर्योदय के साथ होता है। इसीलिये अमा=सह वसतः सूर्यचन्द्रौ यस्याँ सा अमावास्या अमावस्या वा (काशिका वृत्ति, अष्टा० ३।१।१२२)। इसी आधिदैविक घटना चक्र के परिज्ञापन के लिये दर्शपूर्णमास संज्ञक कर्म का शास्त्रकारों ने वर्णन किया है।

अग्निहोत्र जैसे सायं प्रातः का मिलकर एक कर्म होता है। इसी प्रकार दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि मिलकर एक कर्म नहीं होता है तथापि दोनों के अपूर्वो से एक अपूर्व की उत्पत्ति होकर उससे फल की प्राप्ति होती है। इसीलिये दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत विधि वचन में दर्शपूर्णमासाभ्याम् में द्विवचन से निर्देश किया हैं।

पूर्णिमा और अमावास्या चन्द्रकला तथा प्रकाश के बढ़ने घटने की सीमारूप हैं। शेष १४ रात्रियों में बढ़ना घटना क्रिया प्रत्यक्ष परिगृहीत होती है। इसलिये दर्शपूर्ण मास में १३-१४ आहुतियां मुख्य होती हैं। दोनों में तीन-तीन प्रधानाहुतियां हैं, शेष ११ अङ्गरूप आहुतियां (इन का विशेष वर्णन आगे करेंगे)। पौर्णमासेष्टि में मुख्य हवि आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश अग्नीषोम देवताक घृत और अग्नीषोमीय एकादशकपाल पुरोडाश है। दर्शेष्टि में आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश और इन्द्र देवताक दही की और इन्द्रदेवताक पयः होता है। यतः दही और दूध दोनों हवियों का देवता एक है, अतः दोनों को मिलाकर एक बार ही दोनों की आहुति दी जाती। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से दर्शेष्टि में १३ आहुतियां होती हैं। यही निर्देश भगवान् जैमिनि ने संकर्ष काण्ड २।२।३० (पूर्व-मीमांसा १८।२।३०) में किया है—चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदश अमावास्यायाम् इति।

दर्शपूर्णमास सब यागों की प्रकृति—संहिता ब्राह्मण और श्रौत सूत्रों के अनुसार दर्शपूर्णमास को सब यागों की प्रकृति माना है। अतः यागों में सामान्य रूप से होनेवाले सभी कर्मों का दर्शपूर्णमास में पूर्ण रूप से निर्देश किया गया है। उत्तर यागों में जो-जो भिन्नता वा अधिकता होती है, उतने अंश का ही निर्देश किया है। शेष सभी अविरुद्ध विधियाँ प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या रूप अतिदेश से चातुर्मास्यादि उत्तर यागों में उपस्थित हो जाती हैं। इसी कारण हम भी यहां दर्शपूर्णमास कर्म का परिचय कुछ विस्तार से दे रहे हैं।

दर्शपूर्णमास के आरम्भ में विकल्प—हम आधान प्रकरण में आधान का होमपूर्वाधान सोमपूर्वाधान और इष्टिपूर्वाधान के रूप में त्रिविधत्व लिख चुके हैं (द्र० —पूर्व पृष्ठ १०-११)। इस प्रकार एक पक्ष में आधान के अनन्तर सोमयाग करके दर्शपूर्णमास किया जाता है तो दूसरे पक्ष में आधान के अनन्तर दर्शपूर्णमास आरम्भ कर के जब यजमान की सोमयाग करने की इच्छा वा सामर्थ्य हो, तब सोम याग किया जाता है। इन दोनों पक्षों में दर्शेष्टि की हवि में अन्तर पड़ता है।

सोमयाजी की दर्शेष्टि की हवि—दोनों पक्षों में आग्नेय पुरोडाश तो समान है, परन्तु शेष दो हव्य-द्रव्यों में अन्तर है। सोमयाजी अर्थात् जिस ने पहले सोमयाग किया है उस की हवि ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पयः होती है। दर्शपूर्णमास के अनन्तर यजमान जब सोमयाग कर लेता है तो उस के पीछे दधि और पय ही हव्य द्रव्य होते हैं। दूध और दहि रूप जो हवि है, इस का शास्त्रीय नाम सान्नाय है। अतः कात्या० श्रौत ४।२।२५ में कहा है—सोमयाजी सन्नयेत। तै सं. २।५।५ में असोमयाजी के लिये सान्नाय्य हवि का प्रत्यक्ष निषेध किया है—नासोमयाजी सन्नयेत्।

सान्नाय शब्द का अर्थ—भगवान् पाणिनि ने हवि विशेष के अर्थ में सान्नाय शब्द पाय्य-सान्नाय्य-निकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु (अष्टा० ३।१।१२९) सूत्र में निपातन किया है। इस शब्द में सम् उपसर्ग पूर्वक 'णीञ् प्रापणे' से ण्यत् प्रत्यय (=सम् नी ण्यत्=सम् नै य) में ऐकार को आय् आदेश और उपसर्ग को दीर्घत्व कहा है (=साम् नाय् य=सान्नाय्य)। इस का अर्थ होता है—अच्छे प्रकार इकट्ठी जो हवि दी जाती है, वह हवि सान्नाय्य कहती है। ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय दोनों द्रव्यों का एक देवता होने से दोनों को मिला कर इन्द्र के लिये दिया जाता है। अतः एव यह हवि सान्नाय्य कहाती है।

असोमयाजी की दर्शेष्टि की हवि—जो आधान के पश्चात् सोमयाग विना किये ही दर्शपूर्ण मास आरम्भ करता है, उसकी आग्नेय पुरोडाश के अतिरिक्त ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश और कतिपय वाजसनेयी तथा शाखायन शाखाओं के अनुसार वैष्णव अथवा अग्नीषोमीय उपांशुयाज भी होता है। मीमांसा १०।८।५८ में दर्शेष्टि में उपांशुयाज का प्रतिषेध कहा है।

दर्श शब्द का अर्थ—इस की व्युत्पत्ति कदाचिद् दृश्यते चन्द्रोऽत्र अर्थात् कदाचित् (जब चतुर्दशी भूयिष्ठ होने पर अमावास्या आरम्भ होती है तब) प्रातः सूर्योदय से पहले पूर्व दिशा में चन्द्र की सूक्ष्म लेखा दिखाई पड़ती है।

कर्म का आरम्भ—अग्न्याधान के प्रकरण में लिख चुके हैं कि अग्न्याधान अमावस्या के दिन अथवा पूर्णिमा में किया जाता है। अतः यदि अमावास्या को आधान किया है तो अगली पूर्णिमा को पौर्णमासेष्टि की जाती है, तत्पश्चात् दर्शेष्टि। किन्तु यदि आधान पूर्णिमा को किया है तो उत्तर प्राप्त अमावास्या में दर्शेष्टि न करके अगली पूर्णिमा से कर्म का आरम्भ करते हैं। अर्थात् दर्शपूर्णमास में पौर्णमासेष्टि प्रथम है और दर्शेष्टि अौत्तर कालिक। इस नियम का कारण सम्भवतः अमान्त मास मानना है। उत्तर भारत में पहले कृष्ण पक्ष माना जाता है और द्वितीय शुक्ल पक्ष अर्थात् पूर्णिमा पर मास समाप्त करते हैं। परन्तु गुजरात आदि प्रदेशों में पहले शुक्ल

पक्ष होता है, और अन्त में कृष्ण पक्ष अर्थात् अमावास्या को महीना पूर्ण होता है। चाहे उत्तर भारत का पंचाङ्ग होवे चाहे दाक्षिणात्य, दोनों में पूर्णिमा का संकेत १५ संख्या से किया जाता है और अमावास्या का ३० संख्या से। यह संकेत भी इस बात का ज्ञापक है कि प्राचीन काल में पहला पक्ष शुक्ल पक्ष और दूसरा कृष्ण पक्ष होता था। इसलिये इस कर्म को पौर्णमासेष्टि से ही आरम्भ करते हैं।

एक विचारणीय प्रश्न—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध सभी शाखाओं में जहां दर्श-पूर्णमास के मन्त्रों का पाठ मिलता है, वहां पहले दर्शेष्टि के मन्त्र हैं, तत्पश्चात् पौर्णमासेष्टि के। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के प्रथमाध्याय के व्याख्यान का आरम्भ महर्षि याज्ञवल्क्य ने दर्शेष्टि मन्त्रों को छोड़कर किया है। उन का व्याख्यान अन्त में किया है। अतः संहिता वा शाखाओं में दर्शेष्टि के मन्त्रों का पाठ आरम्भ में क्यों है? इतना ही नहीं, तै० सं० ३।५।१ में तो स्पष्ट कहा है—दर्शो वा एतयोः पूर्वः पूर्णमास उत्तरः। इस प्रश्न का उत्तर हमें अभी तक नहीं सूझा। क्या कभी पुराकल्प (=बहुत प्राचीन काल) में दर्शपौर्ण मास का आरम्भ दर्श से ही होता था?

दर्शपूर्णमास में कुछ याग है और कुछ होम। याग और होम का लक्षण शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है—

याग का लक्षण—तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोऽनुवाक्यावन्तो यजतयः [कात्या. श्रौत. १।२।६) अर्थात् जिस में खड़े होकर वषट्=वौषट् शब्द से आहुति दी जाये, जिन में पुरोऽनुवाक्या और याज्या मन्त्र होवें, उन्हें याग कहते हैं। इस के लिये यजेत शब्द का प्रयोग होता है। यथा—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत् (द्र०—आप० श्रौत ३।१४।८)।

होम का लक्षण—उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः (कात्या. श्रौत १।२।७) अर्थात् जिन में बैठकर 'स्वाहा' शब्द से आहुति दी जाये वह होम होता है। इस के लिये जुहोति जुहुयात् शब्दों का प्रयोग होता है। यथा—अग्निहोत्रं जुहोति (तै. सं. १।५।९)।

पुरोऽनुवाक्या और याज्या—याग में जिस देवता के लिये आहुति दी जाती है उस देवता वाली दो ऋचाओं में पहली ऋचा को पुरोऽनुवाक्या (=पहले बोली जाने वाली ऋचा) कहते हैं और उसके पश्चात् जिस से आहुति दी जाती है, उसे याज्या कहते हैं। याज्या के अन्त में 'वौषट्' शब्द जोड़ कर आहुति दी जाती है।

दर्शपूर्णमास का द्वैविध्य—दर्शपूर्णमास नित्य और काम्य (=कामना के लिये) भेद से दो प्रकार का है। भिन्न-भिन्न कामनाओं के लिये नित्य विहित कर्म में ही साधारण परिवर्तन कर दिया जाता है।

दर्शपूर्णमास याग करने की अवधि—नित्य दर्शपूर्णमास यावज्जीवन करना होता है। परन्तु अति जरावस्था में कर्म करने से असमर्थ हो जाये तो उसकी परिसमाप्ति भी की जा सकती है। इस अर्थ को कहने वाली श्रुति मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने (मी० २।४।४) इस प्रकार उद्धृत की है—जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्र दर्शपूर्णमासौ च। जरया ह वा एतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा अर्थात् अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास जरामर्य सत्र (=निरन्तर जारी रहनेवाले कर्म) हैं। इनसे वृद्धावस्था से छुटकारा होता है अथवा

मृत्यु में[1]। इस कर्म का तीस वर्ष तक निरन्तर करने के पश्चात् परित्याग भी माना गया है—त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत (शत० ११।१।२।१३)। जो यजमान दर्शपूर्णमास के साथ दाक्षायण याग भी करता है, वह पन्द्रह वर्ष के पश्चात् परित्याग कर सकता है—यद्यु दाक्षायणयाजी स्यादथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत। अत्रैव सा सम्पत् सम्पद्यते (शत० ११।१।२।१३)।

दाक्षायण यज्ञ कोई स्वतन्त्र कर्म नहीं है। दर्शपूर्णमास के साथ ही उसी दिन दुबारा कुछ भेद से किया जानेवाला कर्म है। (द्र०—मीमांसा अ० २, पाद, ३, अधि० ४, सूत्र ५-११)। इसीलिए कहा है—द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेत द्वे अमावास्ये (शत० ११।१।२।१३) अर्थात् साथ में दाक्षायण यज्ञ करता हुआ दो पौर्णमासी का यज्ञ करता है, दो अमावास्या का। इस प्रकार ३० वर्ष के बराबर १५ वर्षों में उतने दर्शपूर्णमास हो जाते हैं, जितने ३० वर्ष में होते हैं।

याग का अनुष्ठानकाल—दर्श और पौर्णमास कर्म का मुख्य काल अमावास्या वा पूर्णिमा और प्रतिपदा का सन्धिकाल है। परन्तु जब यह सन्धिकाल मध्याह्नोत्तर वा रात्रि के समय में आता है, तब मध्याह्नोत्तर वा रात्रि में कर्म का प्रतिषेध होने से दूसरे दिन (प्रतिपदा को) प्रातः अनुष्ठान किया जाता है।

दर्शेष्टि में दधिरूप हवि के लिये प्रथम दिन गोदोहनादि कर्म करने आवश्यक हैं। अतः सामान्यतया दोनों कर्मों के व्रत ग्रहण आदि कर्म प्रथम दिन (अमावास्या) और पूर्णिमा के दिन प्रातः किये जाते हैं, और मुख्य कर्म प्रतिपदा के दिन प्रातः। कतिपय शास्त्रकारों के मतानुसार पूर्णमासेष्टि के सभी कर्म प्रतिपदा के दिन ही किये जा सकते हैं—सद्यो वा प्रातः (कात्या० श्रौत २।१।१६)।

सामान्य नियम—जहां पर हव्य द्रव्य तथा देवता का विकल्प होवे। यथा—व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा (व्रीहि=धान) से याग करे, वा जौ से, तथा विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽग्नीषोमौ वा (=दर्शेष्टि में विष्णुदेवता का उपांशुयाग करे, अथवा अग्नीषोमदेवताक वाजसनेयों तथा शांखायनों के मत में)। ऐसे विकल्प के विषय में प्रथम याग के समय ही एक द्रव्य वा देवता का संकल्प करना होता है, और आगे यावज्जीवन उसी के अनुसार कर्म करना होता है।

मन्त्र-पाठ का प्रकार—यज्ञ में पढ़े जानेवाले मन्त्रों के विषय में सामान्य नियम यह है कि जप-मन्त्र, न्यूंख[2] और साममन्त्र सस्वर पढ़े जाते हैं, और अन्य मन्त्र एकश्रुति से—यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु (अष्टा० १।२।३४); एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ यज्ञकर्मणि, सुब्रह्मण्या सामजपन्यूंखयाजमानवर्जम् (कात्या०श्रौत १।८।१९) अर्थात् यज्ञकर्म में एकश्रुति होती है, सुब्रह्मण्या साम जप न्यूंख तथा यजमान सम्बन्धी मन्त्रों को छोड़कर। तैत्तिरीय अध्वर्यु से पाठ्यमानमन्त्रों को चातुःस्वर्य (उदात्त अनुदात्त स्वरित एकश्रुति) से पढ़ते हैं। होता से पढ़े

---

१. इस श्रुति का तात्पर्य दर्शपूर्णमास के प्राशस्त्य दर्शाने में है। संन्यास आश्रम केवल ब्राह्मण (=ब्रह्मवेत्ता) के लिये विहित है। शेष क्षत्रिय और वैश्य के लिये वानप्रस्थ अन्तिम आश्रम है। वानप्रस्थ में यज्ञ करने का विधान है। अतः वह अति जरावस्था अथवा मृत्युपर्यन्त दर्शपूर्णमास कर सकता है। संन्यास लेनेवाला जब भी चाहे कर्म का त्याग कर सकता है। तीस वर्षवाला पक्ष सभी अवस्था में कर्म के परित्याग का विधायक है।

२ न्यूंखसंज्ञक १६ ओंङ्कार हैं। उन में कुछ उदात्त हैं, कुछ अनुदात्त (द्र० आश्वलायन श्रौत ७।११)।

जानेवाले मन्त्र एकश्रुति से पढ़े जाते हैं। शेष पूर्ववत्। जप नाम उन मन्त्रों का है, जिनसे कोई कर्म नहीं किया जाता है, केवल पाठमात्र होता है। सुब्रह्मण्या नाम का एक निगद (मन्त्रसमूह) है। यह सोमयाग में प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार होता से उच्चार्यमाण ऋङ् मन्त्र ऊंचे स्वर से बोले जाते हैं, उद्गाता से गेय सामगान भी उच्चैः उच्चारण किया जाता है। अध्वर्यु से पठ्यमान याजुष मन्त्र उपांशु (इतनी न्यून ध्वनि से बोलना, जिस से समीपस्थ व्यक्ति भी स्पष्ट न सुन सके) बोले जाते हैं उच्चैर्ऋचा क्रियते उच्चैः साम्ना उपांशु यजुषा। (मंत्रा० सं० ३।६।५)। अध्वर्यु से पठ्यमान प्रैष मन्त्र उच्चैः पढ़े जाते हैं, क्योंकि प्रैष =कर्म करने के लिये आज्ञा वा अनुज्ञा देने के लिये प्रैष मन्त्रों का उच्चैः प्रयोग आवश्यक है। यदि साथी प्रैष सुनेगा ही नहीं तो वह कर्म कैसे करेगा ? याज्या मन्त्र के अन्त में उच्चार्यमाण वौषट् शब्द याज्य मन्त्र से भी अधिक ऊंचे से बोला जाता है— उच्चैस्तरां वा वषट्कारः (अष्टा० १।२।३५)।

दर्शपूर्णमास के ऋत्विक्- दर्शपूर्णमास कर्म में ब्रह्मा अध्वर्यु होता और अग्नीत् चार ऋत्विक् होते हैं—दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः (तै० ब्रा० २।३।६।२)।

ऋत्विजों का कार्य— यज्ञ में जितनी आहुतियां दी जाती हैं, उन्हें होता देता है—जुहोतीति होता। होता का सम्बन्ध ऋग्वेद से होता है, अतः ऋग्वेद की संज्ञा हौत्रवेद भी है। शेष जितना यज्ञीय कर्म होता है, उसे अध्वर्यु पूर्ण करता है। अध्वर्यु का सम्बन्ध यजुर्वेद के साथ है, अतः वह आध्वर्यव वेद कहाता है। अग्नीत् नामा ऋत्विक् अध्वर्यु का सहायक होता है। ब्रह्मा सारे कर्म का द्रष्टा होता है। कर्म में भूल-चूक होने पर उस का निदर्शक होता है – यज्ञस्य हैष भिषग् यद् ब्रह्मा (ऐ० ब्रा० ५।३४) अर्थात् ब्रह्मा यज्ञ का भिषक् =चिकित्सक =भूल-चूक को पूर्ण करनेहारा होता है। इसलिए ब्रह्मा को ऋक् यजुः साम तीनों वेदों का जाननेवाला होना चाहिये—अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति ? त्रय्या विद्ययेति (ऐ० ब्रा० ५।३३; द्र० - शत० ब्रा० ११।५।८।७)।

दर्शपूर्णमासोपयोगी पात्र वा द्रव्य

दर्शपूर्णमास में जिन पात्रों वा द्रव्यों की सामान्यतया आवश्यकता होती है, उन का निर्देश आगे किया जाता है। इनमें प्रथम उन पात्रों वा द्रव्यों का निर्देश करेंगे, जिन का ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि के सामान्य-प्रकरण में निर्देश किया है, तथा पात्रों के चित्र भी दिए हैं। यहां उसी के अनुसार पात्रों का परिमाण और चित्र हम दे रहे हैं। प्रत्येक शाखा वा श्रौतसूत्रों में इनके परिमाण वा आकार में कुछ-कुछ भेद देखा जाता है। यहां सामान्य परिचय देनामात्र हमारा लक्ष्य है।

१. जुहू—यह पलाश-वृक्ष की होती है। अग्रभाग हथेली के बराबर चौड़ा, ६ अङ्गुल खोदा हुआ, हंस-मुख सदृश नाली से युक्त, और पीछे का भाग दण्डाकार होता है। इसकी पूरी लम्बाई बाहुमात्र होती है। दण्डे के अन्तिम छोर से कुछ पूर्व नीचे की ओर सहारे के लिए टेक होती है। जिस से जुहू सीधी रखी जा सके, उसमें डाला हुआ घृत गिर न जाये। जुहू से आहुतियां दी जाती हैं-- हूयतेऽनयेति जुहूः।

२. उपभृत् यह अश्वत्थ (=पीपल) वृक्ष की होती है। इसका आकार वा परिमाण आदि जुहू के समान होता है।

३. ध्रुवा– यह विकङ्कत वृक्ष की होती है। शेष जुहू के समान जानें।

४. अग्निहोत्रहवणी—यह भी विकङ्कत वृक्ष की होती है। शेष जुहू के समान जानें। इस से अग्निहोत्र किया जाता है अग्निहोत्रं हूयतेऽनयेति।

ये चारों सामान्यतया 'स्रुच्' कही जाती हैं। इनका आकार एकसा होता है, केवल काष्ठमात्र का भेद होता है। चारों में भिन्नता का बोध कराने के लिये भिन्न-भिन्न निशान कर दिये जाते हैं।

५. स्रुव—यह खदिर (खैर) वृक्ष का होता हैं। अंगूठे के पर्व (पोर) आकार में खुदा हुआ अरत्नि (=२२ अंगुल) प्रमाण लम्बा गोल दण्डेवाला होता हैं। संस्कारविधि में दी हुई स्रुव की आकृति ठीक नहीं है। जो आकृति दी है, वह दर्वि (कड़छी) की है।

६. कूर्च—यह वरण वृक्ष का होता है। मकराकार बाहुमात्र लम्बा। यह अग्निहोत्रहवणी के नीचे रखा जाता है।

७. वज्र=स्फ्य—यह खदिर वृक्ष का होता है। खड्ग (=कृपाण) की आकृतिवाला अरत्नि प्रमाण का होता है।

८. उलूखल (=ऊखल)—यह वरण वृक्ष का अथवा सुदृढ़ अन्य वृक्ष का होता है। किन्हीं के मत में पलाश वृक्ष का भी होता है। यह बैठे हुए व्यक्ति के नाभिपर्यन्त ऊंचा होता है।

९. मुसल (=मूसल)—यह भी वरण वृक्ष का अथवा अन्य सुदृढ़ वृक्ष का होता है। किन्हीं के मत में खैर का होता है। यह बैठे हुए व्यक्ति के शिरपर्यन्त ऊंचा होता है।

विशेष—ऊखल और मूसल सुदृढ़ काष्ठवाले वृक्ष के होने चाहियें, जिस से व्रीहि वा जो को कूटने में न टूटें। आधुनिक याज्ञिक यज्ञ के समय विहित व्रीहि और यव को कूटने वा पीसने की साक्षात् क्रिया नहीं करते। पहले से पीसे-पिसाये तण्डुल (चावल) वा जौ को अदृष्ट के लिये ऊखल में डाल कर मूसल से कूटते हैं, सूप=छाज में डालकर फटकते हैं, और शिला पर रखकर पिसे को पीसते हैं। इसलिये आजकल के याज्ञिक खैर और पलाश जैसे कमजोर काष्ठ का भी बनाते हैं। परिमाण में भी छोटे खिलौनेमात्र होते हैं।

आगे लिखे गये लकड़ी के सभी पात्र वरण वृक्ष के होते हैं। वारणान्यहोमसंयुक्तानि—जिन पात्रों का होम=आहुति के साथ सम्बन्ध नहीं होता है, वे सब वरण वृक्ष के बनाये जाते हैं।

१०. शूर्प (=सूप)—यह बांस की पतली सीकों का अथवा सरकण्डे का बना होता है। इस में चर्म वा नाड का प्रयोग वर्जित है।

११. कृष्णाजिन—यह काले मृग का अखण्डित चर्म होना चाहिये। अखण्डित कहने का तात्पर्य है—गोली वा बाण आदि से मारे गये मृग का नहीं होना चाहिये (हमारे विचार में सम्प्रति इसके अभाव में ऊन के वस्त्र का प्रयोग उचित होगा)। यह ऊखल के नीचे बिछाने के लिये होता है। जिस से व्रीहि वा जो को कूटते समय उछल कर गिरनेवाले दाने भूमि पर न गिरें।

१२. दृषद् उपल (=शिला तथा लोढ़ी)—यह सुदृढ़ पत्थर के होने चाहियें, जिस से व्रीहि वा जौ के पीसने पर पत्थर घिस कर न उतरे। दृषत् =शिला का प्रमाण १२ अंगुल चौड़ी, १८ अंगुल लम्बी, तथा उपल =लौढ़ी का परिमाण ६ अंगुल जानना चाहिये।

१३. इडापात्री—यह वरण वृक्ष की होती है। एक हाथ (=२४ अंगुल) अथवा अरत्नि (=२२ अंगुल) लम्बी ४ अंगुल ऊंची, बीच में सुकड़ी हुई तथा मध्य में खुदी हुई होनी चाहिये। पकड़ने के लिये इसमें चार अंगुल का दण्डा होता है।

१४. आसन—ब्रह्मा अध्वर्यु आग्नीत् होता यजमान तथा यजमान पत्नी के बैठने के लिये २२ अंगुल लम्बे चौड़े कुशा के अथवा लकड़ी के होते हैं। लकड़ी के आसन के स्थान में ऊन का आसन सुविधाजनक होता है। यह चित्र में पाटला नाम से निर्दिष्ट है, पायों द्वारा भूमि से ऊंचा दर्शाया है। यह ठीक नहीं है। यजमान आदि के आसन भूमि से सटे हुए अग्नि स्थान से ऊंचे नहीं होने चाहियें।

१५, योक्त्र – यह मूंज की तीन लड़ी बटी हुई व्याम (=चार हाथ) लम्बी रस्सी होती है। यह यज्ञ-कर्म में यजमान-पत्नी के कटिप्रदेश में बांधने के लिये होती है।

१६. पुरोडाश-पात्री (दो) - प्रादेश (=६ अंगुल) लम्बी, ८ अंगुल चौड़ी (पक्षान्तर में चौकोर), मध्य में ६ अंगुल भाग खुदी हुई होती है। दर्शपूर्णमास में दो-दो पुरोडाश होते हैं। अतः उन्हें पृथक्-पृथक् रखने के लिये दो पुरोडाशपात्री होती हैं। पकड़ने के लिये चार अंगुल का दण्डा होता है।

१७. शृतावदान—प्रादेश (=६ अंगुल) लम्बा, दो अंगुल फैला हुआ, अग्रभाग तीखा (घरों में प्रयुक्त पलटे जैसा) होता है। यह पके हुए पुरोडाश आदि के विभाग के लिये होता है।

१८. प्राशित्र-हरण (दो)—चौकार अथवा गोल अथवा गौ के कान के समान आकृतिवाले, मध्य में थोड़े खोदे हुए होते हैं। पकड़ने के लिये ४ अंगुल का दण्डा होता है।

१९. षडवत्त—छः अंगुल लम्बा कङ्कत (=कघी) की आकृतिवाला दोनों ओर खुदा हुआ होता है।

२०. अन्तर्धान कट—१२ अंगुल का अर्धचन्द्राकार, आठ अंगुल ऊंचा होता है।

२१. उपवेश—अरत्नि (२२ अंगुल) लम्बा होता है। आगे का भाग हथेली और सटे हुए अंगूठे वा अङ्गुलियों के सदृश होता है।

२२. रज्जु (रस्सी)—यह मूंज की होती है, समिधा आदि के बांधने के लिये।

२३. शङ्कु—खदिर (खैर) की लकड़ी के १२ अंगुल लम्बे, माथे पर ४ अंगुल चौड़े, इनके अग्रभाग तीखे होते हैं। यह वेदि-निर्माण के लिये स्थान नापने के काम में आते हैं। इनकी आवश्यकता के अनुसार संख्या जाननी चाहिये।

२४. पूर्णपात्र (दो)—यजमान और उसकी पत्नी के लिये १२ अंगुल लम्बे ४ अंगुल चौड़े, ४ अंगुल खुदे हुए होते हैं।

२५ प्रणीता पात्र—यह १२ अंगुल लम्बा, ४ अंगुल चौड़ा, ४ अंगुल गहरा खुदा हुआ, जल रखने का पात्र होता है। इसे पकड़ने के लिये ४ अंगुल का दण्डा होता है।

२६. आज्य-स्थाली — घृत रखने के लिये १२ अंगुल चौड़ा, (गोल आकारवाला), प्रादेश (९=अंगुल ऊँचा होता है।

२७. चरु-स्थाली — यह चरु (=बिना मांड निकाले चावलों) के पकाने के लिये १२ अंगुल चौड़ा, ९ अंगुल ऊंचा होता है।

२८. अन्न-हार्यपात्र (स्थाली) — ४ पुरुषों के खाने योग्य चावल पकाने के लिये।

विशेष — संख्या २५-२६-२७ के पात्र पीतल वा भरत[2] के होने चाहियें। कहीं-कहीं ताम्र (=तांबे) का भी निर्देश मिलता है। यदि ताम्र के हों तो अन्दर कलई किये हुये होने चाहियें[1]। गरम वस्तु ताम्र के पात्र में दूषित हो जाती है। अतः ताम्र के पात्र केवल जल रखने के लिये ही व्यवहृत होते हैं।

संस्कारविधि में इन पात्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य पात्रों वा द्रव्यों के चित्र तथा चित्र-विवरण भी दिये हैं। उन का निर्देश नीचे किया जाता है—

२९. अभ्रि—यह २४ अंगुल लम्बी कीले के समान ऊपर से चौड़ी और अग्रभाग में तीक्ष्ण होती है।

३०. अरणी— इस के उत्तरारणि और अधरारणि दो भेद हैं। यह शमी (=खेजड़े) के वृक्ष में उत्पन्न पीपल अथवा सामान्य पीपल की होती है। इन के लक्षण संस्कार-विधि में नहीं हैं, चित्रमात्र हैं। चित्र पर उत्तरारणि का प्रमाण १८ अंगुल लिखा है, यह अशुद्ध है विशेष सं० २९-३० चित्रों में देखें)। अधरारणि ६ अंगुल ६ अंगुल मोटी, चौड़ी तथा १२अंगुल लम्बी होती है। इसे बीच में उत्तरारणि के नीचे के स्थूल भाग के बराबर खोदा हुआ होता है। ये दोनों तथा अगली ओवली अग्निमन्थन (रगड़ कर आग उत्पन्न करने) के लिये प्रयुक्त होती हैं।

३१. चात्र—संस्कारविधि में इसका लक्षण नहीं है। चित्रमात्र छपा है। चित्र पर १२ अंगुल प्रमाण लिखा है। इस नाम का हमें अन्यत्र कोई पात्र नहीं मिला। प्रतीत होता है। चित्र ठीक नहीं है। सं० २९ में उत्तरारणि का चित्र भी कुछ ठीक नहीं है। संस्कृत में उत्तरारणि की लम्बाई नहीं लिखी है। चित्र पर १२ अंगुल छपा है। वस्तुतः उत्तरारणि लगभग ६ अंगुल लम्बा दो तीन अंगुल मोटा, नीचे से स्थूल, ऊपर कुछ पतला होता है। इसे प्रमन्थ संज्ञक दण्ड में मन्थन के समय लगाते हैं। जैसे बढ़ई छेद करने के लिये गोल आकार की लकड़ी में नीचे बर्मा लगाते हैं। यह प्रमन्थ दण्ड १२ अंगुल का होता है। यहाँ जो 'चात्र' का चित्र छपा है वह प्रमन्थ दण्ड का ही प्रतीत होता है। नीचे का भाग उत्तरारणि का टुकड़ा है ऊपर के भाग में इसे पुनः सूक्ष्म दिखाना चाहिये। जिस से वह ओवली के छिद्र के बैठ सके।

३२. प्रोक्षणी— यह जल सेचन आदि के लिये होती है।

३३. पिष्टपात्री— इस पात्र का लक्षण संस्कारविधि में नहीं दिया है, केवल चित्र छपा है। वह भी ठीक नहीं है। इस के लिये संख्या ४२-४३ देखें। ये दो पात्र हैं। चित्र में दोनों पात्र मिल गये हैं।

---

१. मुसलमानों में चावल आदि पकाने के लिये देग (बड़े पात्र) तथा देगची (छोटे पतीली आदि) ताम्बे के व्यवहृत होते हैं। परन्तु इन में कलई की हुई होती है। तांबे के पात्र अग्नि से अन्य पीतल आदि के पात्रों की अपेक्षा कम जलते हैं। अतः पीतल के पात्रों की अपेक्षा चिरस्थायी होते हैं।

२. भरत पीतल और कांसे के संमिश्रण से बनी धातु होती है। इस के बटलोई (दाल आदि पकाने के) आदि पात्र पहले बनते थे। अब इन का प्रायः अभाव सा हो गया है।

३४. शम्या—इस का लक्षण संस्कारविधि में नहीं है, चित्रमात्र है। शम्या यह प्रादेश (=६ अंगुल) की लकड़ी की खूंटी के सदृश होता है।

३५. ओवली—यह अग्निमन्थन के समय उत्तरारणि के ऊपर रख कर इस से दबाया जाता है। जैसे बढ़ई लकड़ी में छेद करते समय छेद करनेहारे कीले को ऊपर से दबाकर रस्सी से दहि-मन्थन के समान रगड़ते हैं। इस के मध्य में भी अरणि के ऊपरी भाग को बैठाने के लिये खोदा जाता है।

३६. नेत्री (नेतु-नेती)—यह ४ हाथ लम्बी, गौ के बालों की तीन लड़वाली रस्सी है। इसे उत्तरारणि में लपेट कर दोनों हाथों से अग्निमन्थन के लिये दधिमन्थन की रस्सी के समान खींचते हैं।

विशेष—संख्या २९-३०-३१ के द्रव्य अग्न्याधान के लिये उपयोगी हैं। इनका दर्शपूर्णमास के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

३७. इध्म—पलाश की १८ समिधाएं एक हाथ लम्बी। ये अग्नि को प्रज्वलित करने के काम में आती हैं।

३८. परिधि—पलाश की ३ समिधा बाहुप्रमाण लम्बी। इन्हें आहवनीय अग्नि के कुण्ड के तीन ओर (पूर्व को छोड़कर) रखते हैं।

३९. सामिधेनी-समित्—पलाश की पन्द्रह समिधाएं प्रादेशमात्र (=९ अंगुल)।

४०. समीक्षण—यह पांच लड़ी दर्भ की बनाई रस्सी है। इसे ३ लड़ी बनाने का भी विधान है। यह समिधाएं बांधने के काम में आती है।

अब हम उन पात्रों वा वस्तुओं का निदश करते हैं, जिनका संस्कारविधि में उल्लेख नहीं है, परन्तु जो दर्शपूर्णमास के लिये आवश्यक हैं—

४१. मदन्तीपात्र—मदन्ती उष्ण जल को कहते हैं। व्रीहि वा जौ के पीसे हुए आटे को मिलाने के लिये गरम पानी की आवश्यकता होती है। उसी के लिये यह पात्र है।

४२. मेक्षण—यह वरण वृक्ष का अरत्निप्रमाण (=२२ अंगुल) का होता है। इस से व्रीहि वा जौ के आटे को गरम पानी के साथ मिलाया जाता है। यह पूर्व सं० १७ का शृतावदान पात्र ही प्रतीत होता है।

४३. पिष्टलेप-पात्री—इसमें पिसे हुए आटे को मिलाते समय पात्र में जो अंश लग जाता है, उसे पानी से धोकर रखा जाता है।

४४. फलीकरण-पात्र—इस में ऊखल-मूसल से कूटे हुए व्रीहि वा जौ को सूर्प से निकाले गये तुषों को रखा जाता है। यह वरण वृक्ष का प्रादेशमात्र (=९ अंगुल) होता है।

४५. शकट (गाड़ी)—दर्शपूर्णमास आदि में उपयुक्त होनेवाले हवि द्रव्य को ग्रहण करने के लिये यज्ञशाला के समीप इस गाड़ी में व्रीहि वा यव को रखकर लाते हैं। आजकल के याज्ञिक केवल अदृष्ट की उत्पत्ति के लिये लकड़ी की छोटीसी गाड़ी बनाते हैं, और उसी से व्रीहि वा यव के पहले से पिसे आटे का स्पर्शमात्र कराते हैं। बहुत प्राचीन काल में ऋषि लोग घडे तथा कपड़े वा चमड़े की थैली से ही यज्ञोपयोगी द्रव्य का ग्रहण करते थे (द्र०—शत० १।१।२।७)।

४६. कपाल—ये मिट्टी के बने हुए, छोटे-छोटे पतले, अग्नि से पके हुए फूटे घड़े की ठीकरियों जैसे होते हैं। इन पर पुरोडाश को रखकर पकाया जाता है। दर्शपूर्णमास में १९ कपाल उपेक्षित होते हैं।

४७. कुशा—वेदि में बिछाने के लिये, तथा घृत आदि के उत्पवन=शुद्धिकरण आदि के लिये अपेक्षित होती हैं।

४८ व्रीहि वा यव—पुरोडाश बनाने के लिये।

४९. आज्य—गोघृत। गोघृत के अभाव में भैंस वा बकरी का। इन के अभाव में अथवा मिलावट होने की शङ्का होने पर घृत का प्रतिनिधिभूत शुद्ध नारियल के तेल का प्रयोग हो सकता है। यह हमारा विचार है। क्यों कि घृत और नारियल के तेल में बहुत समानता है।

ये सभी पात्र वा द्रव्य पूर्णमास तथा दर्श के (असान्नाय्य हवि के लिये) पक्ष में अपेक्षित हैं। साम्नाय्य हवि के लिये निम्न पात्रों वा द्रव्यों की आवश्यकता होती है—

१. गौ—दूध के लिये।

२. दोहनपात्र—दूध जिस में दुहा जाये। यह लकड़ी का होता है। इस का परिमाण दूध के परिमाण पर निर्भर करता है।

३. कुम्भी - यह मिट्टी की पकी हुई हण्डिया है। इस में दूध गरम किया जाता है। ग्रामों में दूध को गरम करने के लिये अभी भी प्रयोग में लाई जाती है। इस का परिमाण भी दूध के परिमाण पर निर्भर है।

४. अभिधानी—गौ के गले में बांधने की रस्सी।

५. निदान—गाय को दुहते समय गौ के पैरों में बांधने वाली रस्सी।

६. पिधान-पात्र—पके हुए दूध को ढकने के लिये मिट्टी वा किसी धातु का पात्र।

७. शिक्य (=छींका) – दहि के पात्र को सुरक्षार्थ लटकाने के लिये। यह मूंज आदि का बनाया जाता है।

८. याजमान-पात्र (दो) यजमान के भक्षण के लिये हविशेष दूध और दहि के रखने के लिये। यज्ञीय वृक्ष से निर्मित दो पात्र।

९. पलाश-शाखा अथवा शमी-शाखा—गोदोहन के पश्चात् बछड़े-बछड़ी को हटाने के लिये।

इन सभी पात्रों का उपयोग आगे दर्शपूर्णमास की विधि के निर्देश-काल में किया जायेगा।

अब हम संस्कारविधि में दिये गये यज्ञपात्रों के चित्र छापते हैं। वे बिना क्रम के छपे हैं। अतः हम पात्र-विवरण की संख्या पात्र के चित्र के ऊपर दे रहे हैं।
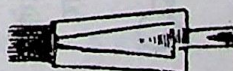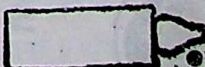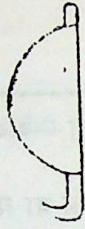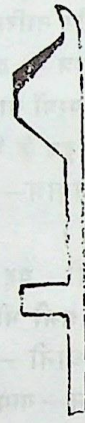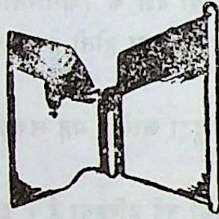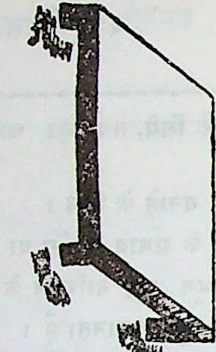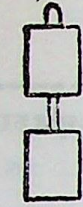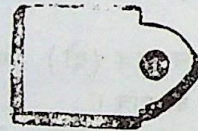
नं० २४
पूर्णपात्र अं० १२, चौड़ा अंगुल ६
नं० १, २, ३, ४
स्रुच सर्वे ४, बाहुमात्र
नं० १२
मूलेखात दृषद्
नं० २१
उपवेश १, अं० २४
नं० १०
नं० १४
पाटला ४, लम्बा २४ अंगुल
नं० ८
उलूखल नाभिमात्र
नं० ९
मुसल
नं० ३०
अंगुल ६ पोली अंगुल ४ ऊंची अधरारणी
नं० १८
प्राशित्रहरणे दर्पणाकार
नं० ३३
पिष्टपात्री
नं० १६
षडवत्त अं० २५
नं० ६
पुरोडाशपात्री
नं० १३ इडापात्री
नं० २०
अन्तर्धान १, अं० १२
नं० ७
खांडा अंगुल २४
नं० ३०
उत्तरारणी टुकड़ा
नं० २५
प्रणीता अं० १२
नं० ३२
प्रोक्षणी अं० १२
अंगोछा २८ अं० लंबा
नं० ५
स्रुवा ४, अंगुल २४
नं० ३४
शम्या प्रादेश १
प्ररणी
प्ररणी ४

पूर्णमासेष्टि

दशपूर्णमास में प्रथम कर्तव्य इष्टि—पूर्व पृष्ठ ३१ पर लिख चुके हैं कि दर्शपूर्णमास इष्टियों में पहले पूर्णमासेष्टि ही की जाती है। अथर्ववेद ७।८०।४ में भी कहा है—पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियाऽऽसीत् अर्थात् पौर्णमासी प्रथम यज्ञीय है। अतः पौर्णमासेष्टि की प्रक्रिया प्रथम लिखते हैं—

पौर्णमासी दिन का कृत्य—पूर्णिमा के दिन यजमान प्रातःकाल नैत्यिक कर्म करके प्रातःकालीन अग्निहोत्र करके गार्हपत्य से आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि के प्रणयन के लिये अग्नि का उद्धरण[1] करके, उन्हें आहवनीय वा दक्षिणाग्नि में रखकर तीनों अग्नियों में उसे प्रदीप्त करने के लिये दो दो करके छः समिधाओं को छोड़ा जाता है।[2] इसमें प्रथम ममाग्ने वर्चः मन्त्र से छोड़ी जाती है और दूसरी विना मन्त्र के।

पञ्च भूसंस्कार—देवयाज्ञिक प्रभृति पद्धतिकारों का मत है कि पूर्वोक्त भूसंस्कार करके ही अग्नि का स्थापन करना चाहिये। ये संस्कार हैं—१. कुण्ड का परिसमूहन—तीन दर्भों से अग्निकुण्डस्थ पांसु=धूलि को दूर करना। २. कुण्ड का उपलेपन—गोमय=गोबर और जल से कुण्ड को लीपना। ३. तीन बार उल्लेखन—हस्तप्रमाण खादिर खड्गाकृति स्फ्य से पूर्व से उत्तर तक अग्निकुण्ड के बराबर तीन रेखाओं का करना। ४. पांसु का उद्धरण—स्फ्य से पूर्व खींची गई रेखाओं की मिट्टी को अनामिका और अङ्गुष्ठ से उठाकर पृथक् करना। ५. जल से अभ्युक्षण—जल से अग्निकुण्डों का प्रोक्षण करना अर्थात् जल छिड़कना (पारस्कर गृह्य १।१।२ जयराम टीका)।

इन पांच कर्मों का पारस्कर गृह्यसूत्र में निर्देश किया है। व्याख्याकारों के मतानुसार ये पांच भूसंस्कार अग्निकुण्डों में अग्निस्थापनार्थ हैं। यज्ञीय भूमि के संस्कारार्थ नहीं हैं।

मांस मैथुन वर्जन तथा सत्य-वदन व्रत का ग्रहण—यजमान कर्म के दोनों दिन मांस और मैथुन का परित्याग करें, तथा अग्ने व्रतपते मन्त्र से अनृत का परित्यागपूर्वक सत्यवदन का व्रत लेवें।[3]

केशश्मश्रुवपन—अनन्तर यजमान शिखा छोड़कर केश और श्मश्रु का वपन=मुण्डन और नखों का कर्तन करावे। यजमान-पत्नी केवल नख का कृन्तनमात्र करावे।

कुशाहरण—वपनानन्तर स्नान करके यजमान पूर्व वा उत्तर दिशा में जाकर करिष्यमाण कर्म के लिये

---

१. गार्हपत्यादाहवनीयदक्षिणाग्न्योः पृथक् करणम् अग्न्युद्धरणम्। तयोः स्वस्वकुण्डे स्थापनम् अग्निप्रणयनमुच्यते।

२. द्र०—कात्या० श्रौत २।१ में इस विषय के कई मत लिखे हैं। यह अग्न्यन्वाधान यजमान के स्थान में अध्वर्यु भी कर सकता है। यतः प्रथम अग्नि का आधान 'अग्न्याधान' कर्म से किया जा चुका है, अतः इस आधान को अन्वाधान कहते हैं।

३. पर्वों में मांस-मैथुन त्याग का धर्मशास्त्रों में सामान्य निषेध किया ही है। इसी प्रकार अनृत न बोलने का भी विधान किया है। पुनः यहां इन व्रतों का विधान कर्माङ्गरूप से जानना चाहिये। इन का लोप होने पर यजमान को याजुर्वदिक श्रौत प्रायश्चित्त करना होगा। यदि इनका यहां विधान न करते, तो स्मार्त प्रायश्चित्त होता।
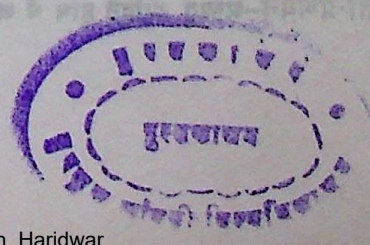
कुशा वा दर्भों का बर्हिर्देवसदनं दामि मन्त्रोच्चारणपूर्वक दर्भ को काट कर, गृह में लाकर आहवनीय स्थान में ऊपर छींके आदि में रख देवे, जिससे कार्य के समय सरलता से ग्रहण किया जा सके। कुशा तीन पांच सात आदि अयुग्म-संख्याक मुष्टिपरिमित लानी चाहियें। इनमें प्रथम काटी हुई कुशमुष्टि प्रस्तर कहाती है।

इध्माहरण—कुश आनयन काल में ही पलाश वृक्ष की २१ इध्मसंज्ञक काष्ठ गीले वा सूखे त्वक् युक्त लाने चाहियें। इन २१ काष्ठों में १५ सामिधेनी के लिये, तीन परिधि के लिये, दो आघार समित् और एक अनुयाज के लिये होती है (यज्ञतत्त्व-प्रकाश)। संस्कारविधि के अनुसार १५ सामिधेनी समित् प्रादेशमात्र (११ अंगुल), परिधि के लिये ३ इध्म बाहुमात्र होती हैं।

व्रतोपायन—अपराह्ण में दम्पती जिस अन्न की आहुति न देनी हो, उस हविष्य अन्न का भक्षण करे। भक्ष्यमाण अन्न घृत से उपसिक्त होवे अर्थात् स्निग्ध होवे, रूखा न होवे। तथा इतनी मात्रा में भक्षण करें, जिससे खाया हुआ भी न खाये हुए के बराबर होवे—यदशितमनशितं स्यात् तदश्नीयात् (शत० १।१।१)।

रात्रि में शयन—पूर्णिमा के दिन सायं अग्निहोत्र का अनुष्ठान करके यजमान गार्हपत्य अथवा आहवनीय के समीप भूमि पर मृगचर्म वा ऊन का वस्त्र बिछाकर सोवे, अथवा रात्रिभर जागरण करे।

पक्षान्तर—पूर्णमासेष्टि में एक पक्ष यह है कि पूर्व दिन जो कर्म किया है, उसे प्रतिपत् के दिन ही करके पूर्णमासेष्टि करे।

प्रतिपत् दिन का कर्म—अगले प्रतिपत् के दिन यजमान प्रातः उठकर नैत्यिक कर्म तथा अग्निहोत्र करके पूर्णमासेष्टि कर्म का आरम्भ करे।

छः आसन—सब से प्रथम गार्हपत्य के उत्तर में ब्रह्मा और यजमान के लिये दो आसन, आहवनीय के दक्षिण में ब्रह्मा का आसन, इसकी पश्चिम दिशा में यजमान का आसन, गार्हपत्य के उत्तर में अध्वर्यु के बैठने के लिये एक आसन, और प्रणीता के प्रणयन के लिये आहवनीय के उत्तर में अध्वर्यु का द्वितीय आसन। इस प्रकार छः आसन रखे। ये आसन मृगचर्म कुशा ऊन अथवा काष्ठ के होते हैं।

ब्रह्मा का वरण और प्रार्थना—गार्हपत्य के उत्तर में उत्तर की ओर मुख करके बैठकर यजमान बायें हाथ में स्फ्य ग्रहण करके दक्षिण हाथ पूर्वाभिमुख बैठे ब्रह्मा का दाहिना घोटूं पकड़कर—'मैं अमुक गोत्र का अमुक नाम का पौर्णमासेष्टि से यजन करूंगा। उसमें मैं आप को ब्रह्मा स्वीकार करता हूं' ऐसा कह कर ब्रह्मा का वरण करे। वरण किया हुआ ब्रह्मा अहं भूपतिरहं आदि मन्त्र का जप करे। तत्पश्चात् यजमान वाचस्पते यज्ञं गोपाय (=हे वेद के पति! मेरे यज्ञ की रक्षा करो) ऐसी ब्रह्मा से प्रार्थना करे। तदन्तर ब्रह्मा गोपायामि (=रक्षा करता हूं) कहे।

स्व-आसन पर ब्रह्मा का बैठना—वरण के पश्चात् वरणस्थान से उठकर ब्रह्मा आहवनीय के पश्चिम वा पूर्वभाग से होकर अपने आसन पर बैठे।

विशेष नियम—अपने आसन पर बैठकर ब्रह्मा अनुयाज कर्म अथवा भाग-परिहरण पर्यन्त मौन रहे। आवश्यकता पड़ने पर अल्पाक्षर संस्कृतवाक् ही बोले।

प्रणीता-प्रणयन—अध्वर्यु दाहिने हाथ में जल से पूर्ण पात्र लेकर, उससे बाये हाथ में धारण किये वारण

वृक्ष निर्मित चमसाकार प्रणीतापात्र में जल डालकर दाहिने हाथ से उस पात्र की गार्हपत्य के उत्तर में धरे। तत्पश्चात् मन्त्रपूर्वक प्रणीता पात्रस्थ जल को स्पर्श करके अध्वर्यु ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि (=हे ब्रह्मन्! मैं जल का प्रणयन करूंगा) ऐसा ब्रह्मा से पूछे। साथ ही यजमान को कहे–वाचं यच्छ (=मौन धारण करो)। तत्पश्चात् ब्रह्मा ओं प्रणय कह कर अध्वर्यु को प्रणीता के प्रणयन की अनुज्ञा देवे। ब्रह्मा की अनुज्ञा प्राप्त होने पर अध्वर्यु उस प्रणीतापात्र को पकड़कर आहवनीय के उत्तर में कुण्ड के साथ सटाकर बिछे दर्भों पर रखे, और ऊपर से भी दर्भों से ढक देवे।

आहवनीय आदि अग्नित्रय का परिस्तरण—पूर्व काटकर लाये गये प्रागग्र अथवा उदगग्र दर्भतृणों से आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि का क्रमशः परिस्तरण करे। इस की विधि इस प्रकार है–पहले पूर्व दिशा में उत्तर को अग्रभागवाले दर्भों से, दक्षिण में पूर्व को अग्रभागवाले दर्भों से, पश्चिम में उत्तर को अग्रभागवाले दर्भों से, और उत्तर में पूर्व को अग्रभागवाले दर्भों से प्रत्येक अग्नि का परिस्तरण करे।

पात्रासादन—तत्पश्चात् अध्वर्यु अथवा यजमान आहवनीय के पश्चिम में अथवा उत्तर में दो दो पात्रों को रखे। यदि आहवनीय के पश्चिम में रखे, तो पश्चिम से पूर्व पूर्व की ओर पात्रों का अग्रभाग में करके धरे। यदि गार्हपत्य के उत्तर में धरे, तो दक्षिण से उत्तर की ओर पात्रों का अग्रभाग पूर्व में रखते हुए करे। यहां पात्र शब्द का अर्थ यज्ञसाधनमात्र अभिप्रेत है, पीयतेऽनेन पात्रम् अर्थ अभिप्रेत नहीं है। अतएव शूर्प आदि भी पात्र शब्द से कहे जाते हैं।

दो दो पात्रों का जोड़ा—(१) शूर्प और अग्निहोत्रहवणी, (२) स्फ्य और कपाल, (३) शम्या और कृष्णाजिन (कृष्ण मृग का चर्म), (४) ऊखल और मूसल, (५) दृषद् उपल (शिला और लोढी), (६) शकट अथवा पात्री और व्रीहि वा यव, (७) पवित्र छेदन तीन और दो पवित्र, (८) उपवेश और संयवन उदक का पात्र, (९) आज्यस्थाली और आज्य, (१०) वेद के लिये कुशमुष्टि और दक्षिणार्थ अन्वाहार्य तण्डुल, (११) वेदि तृण और अभ्रि, (१२) इध्म और बर्हि, (१३) स्रुव और जुहू, (१४) उपभृत् और ध्रुवा, (१५) दो प्राशित्र-हरण, (१६) शृतावदान और पुरोडाशपात्री, (१७) योक्त्र और यून-कुशा, (१८) परिधियां और कुशास्तीर्ण होतृषदन, (१९) इडापात्री और षडवत्त, (२०) अन्तर्धान कट और पूर्णपात्र (भीमसेन विरचित दर्शपौर्णमास पद्धति)। इन पात्रों के द्वन्द्व में पद्धतिकारों में कुछ भेद है।

यज्ञतत्त्वप्रकाश (कृष्ण यजुर्वेद) के अनुसार आहवनीय के उत्तर में कुशाओं को बिछाकर, उनके ऊपर यज्ञार्ह पात्रों को औंधे (मुख नीचे) रखे, ये पात्र हैं—स्रुव, जुहू, उपभृत्, ध्रुवा, वेद, पात्री, आज्यस्थाली, प्राशित्रहरण, इडापात्र, प्रणीताप्रणयन (ये दश पात्र)। इसी प्रकार गार्हपत्य अग्नि के उत्तर में दर्भों को फैलाकर उनके ऊपर पात्रों को औंधे रखे। वे पात्र हैं—स्फ्य, कपाल २१, अग्निहोत्रहवणी, शूर्प, कृष्णाजिन, शम्या, ऊखल, मूसल, दृषत्, उपल (ये दशपात्र)। इन्हीं पात्रों के उत्तर में योक्त्र[1], मदन्ती, मेक्षण, वेदाग्र, अन्वाहार्य-स्थाली, अश्मा, उपवेष, पिष्टलेपपात्र, फलीकरणपात्र।

---

१. योक्त्र यजमानपत्नी की कमर में बांधने के लिये मूंज की बनी हुई रज्जु होती है। मदन्ती नाम उष्ण जल का है। पिसे हुए व्रीहि वा जौ को जल के साथ मिलाने के लिये काष्ठनिर्मित पात्र मेक्षण कहाता है।

हविनिर्वाप—हवि-निर्वाप का अर्थ है-- यज्ञ के लिये नियत परिमाण में हवि को ग्रहण करना। हवि वा निर्वाप हविष्य अन्न से भरी गाड़ी से किया जाता है। शकट को गार्हपत्य के पश्चिम में प्रागग्र अथवा उदगग्र खड़ा करके, अध्वर्यु शूर्प और अग्निहोत्रहवणी को लेकर उन्हें गार्हपत्य अग्नि में तपाकर अन्तरिक्षमन्वेमि मन्त्र को बोलकर शकट के पश्चिम में जावे, और उसके दक्षिण और उत्तर घू:[1] का स्पर्श करे। गाड़ी के जो आगे से पीछे तक दो लम्बे काष्ठ होते हैं उन्हें ईषा कहते है, और उनका अग्रभाग भूमि का स्पर्श न करे इसके लिये जो रोक लगाई जाती है उसे उत्तम्भन (ऊपर उठाये रखनेवाला) कहते हैं। अध्वर्यु देवानामसि मन्त्र से उत्तम्भन के पीछे ईषा का स्पर्श करता है। तदनन्तर पहिये पर खड़ा होकर हविष्य अन्न को देखे। तदनन्तर हविष्य अन्न में कोई तिनका या पत्थर हो, तो उसे दूर करके अन्न का स्पर्श करे। तत्पश्चात् देवस्य त्वा मन्त्र से अग्नि देवता के लिये चार मुट्ठी हवि का शूर्प पर रखी अग्निहोत्रहवणी में निर्वाप=प्रक्षेप करे। चार मुट्ठी निर्वाप में प्रथम तीन मुट्ठी का निर्वाप प्रति मुट्ठी मन्त्र बोलकर करे, और चतुर्थ मुट्ठी का विना मन्त्र के निर्वाप करे। इसी प्रकार अग्नीषोम देवता के लिये भी चार मुट्ठी हवि का निर्वाप करे। तत्पश्चात् अवशिष्ट हवि का स्पर्श करके, अग्निहोत्रहवणी से शूर्प में पृथक्-पृथक् हवि को रखे। तदनन्तर इसे गार्हपत्य अथवा आहवनीय के पश्चिम में रखे।

विशेष—शकट के स्थान में इडापात्री में अन्न भर कर उससे भी हविनिर्वाप का पक्षान्तर में विधान है। शतपथ १।१।२।७ में लिखा है कि प्राचीन ऋषि लोग चमड़े वा कपड़े की थैली से ही हवि का निर्वाप करते थे। उनके लिये अन: (शकट) सम्बन्धी मन्त्र थैली से ही सम्बद्ध थे। ८ मुट्ठी हवि के ग्रहण के लिये गाड़ी भर कर अन्न गार्हपत्य के समीप में लाना दिखावे से ही प्रेरित है। आजकल याज्ञिक लोग एक वा डेढ़ बालिस्त की गाड़ी बनाकर उससे हवि का स्पर्शमात्र कराते हैं। इतना ही नहीं, ये लोग आगे कही व्रीहि को कूटना छिलका निकालना पीसना आदि कर्म भी नहीं करते हैं। पिसा हुआ चावल या जौ का आटा प्रयोग में लाते हैं। परन्तु कल्पित अदृष्ट की उत्पत्ति के लिये पिसे आटे को ही ऊखल में डालते हैं, कूटते हैं, सूप से छिटकते हैं, और शिला पर डाल कर पीसते हैं। ऊखल मूसल भी अदृष्ट की उत्पत्ति के लिये छोटे से बनाते हैं। वस्तुत: यह सब कार्य शास्त्र के विरुद्ध है। या तो पूर्णतया शास्त्रानुकूल विधि करनी चाहिये, अथवा देशकाल की परिस्थिति के अनुसार उस का संक्षेपीकरण कर देना चाहिये। ऋषि दयानन्द ने द्वितीय मार्ग को अपनाकर संस्कारविधि में सीधे चावलों का निर्वाप कहा है, तथा उनको धोकर चरु बनाने का निर्देश किया है।

हवि का प्रोक्षण—तदनन्तर अध्वर्यु हवि के प्रोक्षण के लिये जल को लेकर ब्रह्मा से हवि के प्रोक्षण (=गीला) करने की अनुज्ञा मांगे—ब्रह्मन्! हविः प्रोक्षिष्यामि। तत्पश्चात् ब्रह्मा के अनुज्ञा देने पर अध्वर्यु अग्नये

उपविष्ट वत्स के जानु आकार के दर्भ तृण वेद कहाते हैं, और वेद के तिनकों के कटे हुए अग्रभाग वेदाग्र। ऋत्विजों को दक्षिणारूप में दीयमान चावलों को पकाने का पात्र अन्वाहार्य स्थाली कहाती हैं। पिसे व्रीहि वा जौ के आटे को पानी से गूंथने के समय पात्री में संलग्न पिष्टांश—पिष्ट लेप होता है। उस को रखने का पात्र पिष्टलेप पात्र कहाता है। दूसरी बार व्रीहि को कूटने पर चावलों के ऊपर का जो सूक्ष्म त्वक् निकलता है, वह फलीकरण कहाता है, और उसको रखने का पात्र—फलीकरण पात्र होता है।

१. बैल के कन्धे पर जो युग रखा जाता है, उस के दोनों ओर के भाग घू: कहाते हैं।

त्वा तथा अग्नीषोमाभ्यां त्वा मन्त्र से क्रमशः दोनों हवियों का प्रोक्षण करे। यह प्रोक्षण व्रीहि और यव के तुष को गीला करके नरम करने के लिये किया जाता है, जिससे आगे कूटने में सुगमता से तुष दूर हो जाये।

हवि का अवहनन– तदनन्तर अध्वर्यु कृष्णाजिन को हाथ में पकड़ कर पात्रों से दूर ले जाकर उसे झाड़े। तत्पश्चात् गार्हपत्य के उत्तर में अथवा उत्कर[1] के समीप प्राग्ग्रीव कृष्णाजिन को बिछाकर उस पर ऊखल को रखे। शूर्प में पृथक् रखी दो हवियों को दाहिने हाथ से मिलाकर बायें हाथ से ऊखल में डाले। मूसल को ऊखल में रखकर हविष्कृदेहि मन्त्र से तीन वार व्रीहि को कूटने के लिये यजमान की पत्नी अथवा अग्नीत् को पुकारे। वह आकर हवि को कूटे।

विशेष–शतपथ ब्राह्मण १।१।४।१२ में लिखा है–ब्राह्मण यजमान के लिये हविष्कृदेहि निर्देश होता है। वैश्य और क्षत्रिय यजमान के लिये क्रमशः हविष्कृदागहि तथा हविष्कृदाद्रव और शूद्र यजमान के लिये हविष्कृदाधाव। ऐसा ही निर्देश तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी मिलता है। इससे स्पष्ट है पुराकल्प में शूद्र को भी यज्ञकर्म का अधिकार था।[2]

हवि का पेषण—हवि को ऊखल में कूटते समय अग्नीत् शिला को शम्या से दो बार और लोढी को एक बार कूटे (टांचे)[3]। तत्पश्चात् अध्वर्यु हाथ में सूप लेकर कुटी हुई हवि को ऊखल से बाहर निकाल कर सूप में रखे, तत्पश्चात् सूप से तुषों को दूर करे। तत्पश्चात् तुष से विमुक्त हुए चावलों को पृथक् करके तुषयुक्तों को पुनः ऊखल में डालकर कूटे, और शूर्प से तुषों को पृथक् करे। तदनन्तर तुषों को उत्कर[1] स्थान में डाल देवे। तत्पश्चात् अध्वर्यु चावलों को शिला पर डाल कर पीसे, और इसी समय अग्नीत् कपालों का उपधान करे।

कपालों का उपधान—अध्वर्यु के पेषण करते हुए अग्नीत् कपालों का उपधान करे। उस का क्रम इस प्रकार है– अग्नीत् गार्हपत्य के अङ्गारों को हस्ताकृति उपवेष पात्र से कुण्ड के पूर्व भाग में इकट्ठा करे। अङ्गारों के नीचे की जो तप्त भूमि है, उस पर कपाल रखे जायें। प्रथम उपवेष द्वारा पूर्व एकत्रित अंगारों में से एक अंगार को गार्हपत्य के पश्चिम भाग में दाहिनी ओर रखे जानेवाले पुरोडाश के स्थान में रखे। तत्पश्चात् उस अङ्गार पर ध्रुवमसि मन्त्र से मध्यम कपाल को सीधा धरे। धरुणमसि मन्त्र से मध्यम कपाल के पश्चिम भाग में दूसरा कपाल रखे। धर्त्रमसि मन्त्र से मध्यम कपाल के पूर्व में तीसरा कपाल रखे। विश्वाभ्यः मन्त्र पढ़कर मध्यम कपाल के दक्षिण में चौथा कपाल रखें। चितस्थः मन्त्र से अथवा तूष्णीं शेष अवशिष्ट चार कपालों को बराबर (दो दो) बांटकर दक्षिण और उत्तर में रखे। इस प्रकार आग्नेय पुरोडाश को पकाने के लिये आठ कपाल रखने की व्यवस्था कही है।

---

१. वेदि के उत्तर में एक गड्ढा खोदा जाता है। इसे उत्कर कहते हैं। इसमें कूड़ा कचरा डालाजाता है।

२. इसीलिये ऋ० द० ने संस्कारविधि में सर्वथा अपठित शूद्र के यहां भी यज्ञ करने-कराने का विधान किया है।

३. शम्या काष्ठ की बनी होती है, उस से शिला और लोढ़ी को टांचा नहीं जा सकता। पेषण के लिये शिला और लोढी का टांचा हुआ होना आवश्यक है। अतः टंची टंचाई शिला और लोढ़ी को यज्ञकाल में लकड़ी की शम्या से अदृष्टार्थ टांचने की क्रिया करते हैं।

अग्नीषोमीय एकादश कपाल के स्थापन की विधि इस प्रकार जानें—पहले मध्यम कपाल रखे। तत्पश्चात् मध्यम के पश्चिम में दूसरा, मध्यम से पूर्व में तीसरा, मध्यम से दक्षिण में चौथा, चतुर्थ कपाल से पूर्व एक कपाल का स्थान छोड़कर पांचवां, चतुर्थ और पञ्चम के मध्य षष्ठ, चतुर्थ के पश्चिम में सातवें, उसके पीछे आठवें, और सब से उत्तर में नवम दशम एकादश कपालों को रखे।

यह कपाल का उपधान-प्रकार कात्यायन श्रौत अनुसारी है। अन्य श्रौतसूत्रों में कपालों के उपधान में कुछ भेद मिलता है।

कपालों को तपाना—भृगूणामङ्गिरसाम् मन्त्र से गार्हपत्य के प्रज्वलित अङ्गारों से सब कपालों को ढक देवे।

तण्डुलों का पेषण—कृष्णाजिन के ऊपर शिला को रखकर, उसके पश्चिम भाग में उदगग्र शम्या को रखे। इससे शिला आगे को नीची हो जाती है। तत्पश्चात शिला पर उदगग्र लोढी को रखकर शिला पर तण्डुल रखे। तदनन्तर प्राणाय त्वा पिनष्मि आदि मन्त्रों से तण्डुलों को पीसे।

वेद का निर्माण—एक मुट्ठी दर्भों को दाहिनी ओर लपेटके दुहरा करके एक प्रादेशमात्र परिमाण में बैठे हुए बछड़े के घोंटू के तुल्य वेदोऽसि मन्त्र से वेद को बनावे। यह वेदि के संमार्जन के काम में आता है। यह वेद शब्द अन्तोदात्त है। ऋगादि को कहनेवाला वेद शब्द आद्युदात्त होता है। स्वरभेद से अर्थ-भेद होता है, इसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।

पिसे तण्डुलों को पानी से गूंथना (मांडना)—अध्वर्यु पात्री में पवित्र (=दो कुश) रखकर कृष्णाजिन से पिसे चावलों को पात्री में डाले। अग्नीत् स्फ्य को बांयें हाथ में लेकर आटा मिलाने के लिये अध्वर्यु की दाहिनी ओर से उपसर्जनी नामक जल को समाप ओषधीभिः मन्त्र से धीरे-धीरे गिराये, और अध्वर्यु आटे को मांड़े (=गूंथे)। मांड़े हुए आटे के दो बराबर के पिण्ड बनाकर इदमग्नेः, इदमग्नीषोमयोः बोलकर स्पर्श करे।

पुरोडाशों का पकाना—अध्वर्यु तपे हुए ८ कपालों पर आग्नेय पुरोडाश के और ११ कपालों पर अग्नीषोमीय पुरोडाश के पिण्ड को रखे। तत्पश्चात् उरु प्रथस्व मन्त्र से उन्हें उतना फैला दे कि वे पूरे कपालों पर आ जावें[1]। तत्पश्चात् उनको अङ्गारमिश्रित तप्त भस्म से ढक देवे (जिस तरह बाटी को पकाते हैं, उसी प्रकार यह प्रक्रिया है)।

अन्वाहार्य पाक—चारों ऋत्विजों की तृप्ति योग्य चावल लेकर अन्वाहार्य स्थाली में डालकर दक्षिणाग्नि पर पकावे। यह अन्वाहार्य ओदन ऋत्विजों की दर्शपौर्णमास की दक्षिणा के लिये है।

वेदि-निर्माण—तत्पश्चात् आहवनीय कुण्ड के पश्चिम भाग में दक्षिण श्रोणि से उत्तर श्रोणि तक तीन अरत्नि (=६६ अङ्गुल), और गार्हपत्य के पूर्व में दक्षिण श्रोणि से उत्तर श्रोणि तक ४ अरत्नि (=८८ अङ्गुल) परिमाण होना चाहिये। दोनों अग्नियों के मध्य की वेदि की लम्बाई छः हाथ अथवा आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक होती है। वेदि बीच में संकुचित, और पूर्व वा उत्तर की ओर ढलवां होवे। वेदि स्त्रीलिङ्ग शब्द है। अतः वेदि

---

१. आपस्तम्ब श्रौत के अनुसार कूर्म (कछुए) के आकारवत् फैलाया जाता है, और उस पर मुख की आकृति भी आपस्तम्बानुयायी बनाते हैं। मुखाकृति बनाने का साक्षात् विधान आपस्तम्ब श्रौत में नहीं है।

की रचना स्त्री के मध्यभाग सदृश बनाई जाती है। आहवनीय शिरोभाग है, उस के नीचे का दोनों कन्धों का चौड़ा भाग पूर्व की दक्षिण श्रोणि और उत्तर श्रोणि है। स्त्री का नितम्ब भाग स्थूल होता है, अतएव वेदि की पश्चिम की दक्षिण उत्तर श्रोणि भाग पूर्व की अपेक्षा चौड़ा रखा जाता है, और मध्य भाग स्त्री के कटि प्रदेश के समान संकुचित होता है। गार्हपत्य और आहवनीय के मध्य उत्तर-पूर्व भाग में तृणादि के डालने के लिये उत्कर नाम का स्थान बनाए।

वेदि का परिग्रह[1]— वेदि के नापे हुए चारों ओर के प्रदेश में स्फ्य से रेखा करना परिग्रह कहाता है। अध्वर्यु पूर्व परिग्रह करने के लिये ब्रह्मा से पूछता है—ब्रह्मन्! पूर्वं परिग्रहं परिगृहीष्यामि। ब्रह्मा के ओं परिगृहाण इस प्रकार अनुज्ञा देने पर दक्षिण दिशा में वेदि की नैर्ऋत कोण से आग्नेय कोण तक पूर्व परिग्रह (=स्फ्य से रेखा) करे। इसी प्रकार पश्चिम भाग में दक्षिण श्रोणि से उत्तर श्रोणि तक द्वितीय परिग्रह, और उत्तर दिशा में वायव्य कोण से ईशान कोण तक तृतीय परिग्रह करे।

स्रुगादि का संमार्जन—अग्नीत् स्रुव को गार्हपत्य में तपाकर जल का स्पर्श करके अग्नि के समीप पूर्व में जाकर वेद की रचना के अग्रभाग के काटे हुए (=वेदाग्र) तृणों से पहले अंगुष्ठ पर्वमात्र खुदे हुए भाग का, तत्पश्चात् मूल से लेके अग्रभाग पर्यन्त सम्मार्जन (=साफ) करे। पुनः उसे अग्नि पर तपाकर अध्वर्यु को देवे, और वह स्रुवा को उत्कर के पूर्व में रख देवे। तदनन्तर अग्नीत् जुहू को तपाकर स्रुव के समान भीतर और बाहर से साफ करके अध्वर्यु को देवे। इसी प्रकार उपभृत् और ध्रुवा नामक स्रुचों को तपाकर साफ करके अध्वर्यु को देवे। तत्पश्चात् प्राशित्रहरण शृतावदान पुरोडाशपात्री प्रत्येक को तपा कर साफ करके अध्वर्यु को देवे। अध्वर्यु इन्हें यथास्थान रखे। तत्पश्चात् वेद के अग्रभाग के तृण जिन से अग्नीत् ने सम्मार्जन किया था उन्हें उत्कर में फेंक देवे।

योक्त्र-बन्धन—अध्वर्यु पूर्व तीन लर वा पांच लर की बनाई दर्भ की रस्सी को पत्नी के कटिप्रदेश में वस्त्रों के ऊपर बांधे। बांधने में गांठ न लगावे। दोनों छोरों को खोस देवे

आज्य-ग्रहण—आज्य को तपाने के लिये पहले गार्हपत्य में आज्यस्थाली को रखा था। वहां से अध्वर्यु उसे उठाकर पुरोडाश के पूर्व में पत्नी के सामने भूमि पर रखकर पत्नी को आज्य के अवेक्षण (=घी को देखने) के लिये कहे।

जुहू आदि में घृत का ग्रहण—अध्वर्यु बांये हाथ से जुहू और वेद को पकड़कर दाहिने हाथ से स्रुवा को पकड़ कर उससे आज्यस्थाली से आज्य लेकर धाम नामासि प्रियं मन्त्र से जुहू में चार स्रुवा घृत छोड़े (एक बार मन्त्र से घृत को छोड़ा जाता है, तीन बार तूष्णीम्)। इसी प्रकार उपभृत् में एक बार मन्त्र से और सात बार तूष्णीम् अर्थात् ८ बार स्रुवा से घृत डाले। तत्पश्चात् ध्रुवा में एक बार मन्त्र से और तीन बार तूष्णीम् स्रुवा से घृत ग्रहण करे।

इध्म और बर्हि का प्रोक्षण तथा प्रस्तर-ग्रहण—तत्पश्चात् अध्वर्यु इध्म के प्रोक्षण के लिये ब्रह्मा

---

१. परिग्रह अर्थ में परिग्राह शब्द का भी प्रयोग मिलता है। पाणिनि ने अष्टा० ३।३।४७ में यज्ञीय 'परिग्राह' शब्द का निर्देश किया है।

से अनुज्ञा लेकर इध्म का प्रोक्षणी पात्रस्थ जल से प्रोक्षण करे। तत्पश्चात् पूर्ववत् बर्हि का प्रोक्षण करे। तदनन्तर बर्हि का बन्धन खोलकर बर्हि के पूर्व प्रदेश से 'प्रस्तर' संज्ञक कुशाग्रों को हाथ में लेकर ब्रह्मा को देवे।

वेदि का स्तरण बर्हि के बन्धन को खोलकर जितना बर्हि है, उसका तीसरा भाग लेकर आहवनीय के पश्चिम भाग में दक्षिण अंश से उत्तर अंश की ओर कुशा बिछावे। इस में कुशा का अग्रभाग पूर्व में होवे काटा हुआ मूलभाग पश्चिम में। तदनन्तर बर्हि के द्वितीय भाग से पूर्ववत् स्तरण करे। इसमें यह ध्यान रखा जाये कि पूर्व बिछाये दर्भों के मूलभाग पर द्वितीय बार बिछाये जा रहे दर्भों का अग्रभाग रखा जाये, जिससे मूल ढक जाये। इसी प्रकार तृतीय भाग से तीसरी बार स्तरण करे। यह त्रिवृत् स्तरण कहाता है। दर्भों के स्तरण से वेदि पूरी तरह ढक जानी चाहिये। यदि दर्भ तृण छोटे हों तो पांच बार वा सात बार भी स्तरण किया जा सकता है। यह स्तरण प्रकार पश्चादपवर्ग (=पश्चिम में निवृति) कहाता है। पक्षान्तर में प्राग् अपवर्ग भी वेदि का स्तरण होता है। इस में पूर्ववत् पश्चिम दिशा से स्तरण आरम्भ करके पूर्व में उसकी समाप्ति होती है।

परिधि-परिधान—गन्धर्वस्त्वा मन्त्र से आहवनीय कुण्ड के पश्चिम में उत्तर की ओर अग्रभाग करके परिधि संज्ञक काष्ठ को रखे (परिधि का परिमाण पहले कह चुके)। इसी प्रकार इन्द्राय बाहुरसि मन्त्र से आहवनीय के दक्षिण भाग में प्रागग्र (पूर्व की ओर अग्रभाग) दूसरी परिधि को रखे। इसी प्रकार मित्रावरुणौ मन्त्र से आहवनीय के उत्तर भाग में प्रागग्र तीसरी परिधि को रखे।

विधृति का रखना और प्रस्तर का स्तरण—दर्भों में से दो तिनके, जिनका अग्रभाग टूटा हुआ न हो अरत्नि (२२ अंगुल) लम्बे हों उन्हें लेकर आहवनीय की पश्चिम दिशा में वेदि के मध्य पहले से बिछाई गई बर्हि के ऊपर उत्तर की ओर अग्रभाग करके रखे। दोनों के मध्य कुछ अन्तर रहे। इन दो विधृतियों पर पूर्व पृथक् किये प्रस्तर संज्ञक बर्हि का स्तरण होता है। पहले वेदि में जो स्तरण किया है वह प्रागग्र दर्भों से किया है। विधृति संज्ञक दो तिनकों को उन पर उत्तराग्र रखा जाता है। उन पर पुनः प्रस्तर का प्रागग्र स्तरण किया जाता है। पूर्व वेदि में आच्छादित बर्हि और प्रस्तर दोनों के प्रागग्र स्तरण होने से मिल न जायें इस के लिये दोनों के मध्य में उदग्र विधृति संज्ञक तृण रखते हैं। प्रस्तर को विशेष रूप से धारण करने वा पार्थक्य का बोध कराने के कारण इन्हें विधृति कहते हैं।

प्रस्तर पर जुहू आदि का स्थापन—तत्पश्चात् अध्वर्यु वाम हाथ को प्रस्तर पर रख हुए अग्नीत् से दी गई जुहू को दाहिने हाथ से ग्रहण करके घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना मन्त्र से जुहू को प्रागग्र प्रस्तर पर रखे। तदनन्तर वाम हाथ से वेद को पकड़ कर अग्नीत् से दी गई उपभृत् को दाहिने हाथ से ग्रहण करके घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना मन्त्र से जुहू से उत्तर में प्रागग्र रखे। तत्पश्चात् ध्रुवा को घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना मन्त्र से विधृति के अग्रभाग पर प्रागग्र रखे। इन तीनों को प्रस्तर पर इस प्रकार रखे कि ये परस्पर में सटे नहीं (=कुछ दूर दूर रहें) तथा जुहू से उपभृत् कुछ नीचे की ओर रहे, उससे नीचे ध्रुवा रहे।

पुरोडाशों का पुरोडाशपात्री में स्थापन—स्रुचों के स्थापन के पश्चात् अध्वर्यु दक्षिण हाथ से आज्यस्थाली और स्रुव को पकड़ कर तथा बांये हाथ से पुरोडाश पात्री और वेद को लेकर प्रदक्षिण घूम कर गार्हपत्य के पीछे बैठकर गार्हपत्य के उत्तर में आज्यस्थाली को धरके उस के उत्तर में पुराडाश पात्री को उदक्-

संस्थ (=उत्तर दक्षिण में लम्बायमान) रख कर वेद से दोनों पुरोडाशों की भस्म=राख को झाड़ कर आज्यस्थाली से घृत ग्रहण किये हुए स्रुव से दोनों पुरोडाशों का मौन अभिधारण करे (जैसे लोक में गरम राख में दबी हुई बाटियों को निकाल कर पोंछ कर उन पर घी डाला जाता है तद्वत् पुरोडाशों पर स्रुव से घृत छोड़े)। एक ही पुरोडाशपात्री में दोनों आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाशों को क्रमशः उत्तर दक्षिण में रखे।

कपालों का अञ्जन तथा उद्वासन — तत्पश्चात् जिस क्रम से कपालों को अङ्गारों पर धरा था उसी क्रम से यानि घर्मे कपालानि मन्त्र से स्रुव में गृहीत आज्य से अञ्जन करे (=थोड़ा सा घृत कपालों पर लगावे)। प्रति कपाल अञ्जन करते हुए मन्त्र की आवृत्ति करे और मन्त्र के अन्त में प्रथममुद्वासयामि (=प्रथम कपाल को अङ्गारों पर से उतारता हूं) द्वितीयमुदवासयामि इत्यादि बोल कर कपालों को अङ्गारों से उतारे।

हवियों का स्पर्श — तत्पश्चात् सब हवियों को वेदि के समीप में लाकर वेद को हाथ में लेकर प्रियेण धाम्ना मन्त्र से ध्रुवा संज्ञक स्रुच् से उत्तर कुशाग्रों पर आज्यस्थाली को रखे। तदनन्तर स्फ्य को हाथ में लेकर आज्यस्थाली के उत्तर में पूर्वमन्त्र से उत्तर दक्षिण दोनों पुरोडाशों को धरे। उसके पश्चात् ध्रुवा असदन् मन्त्र से आज्यस्थाली के घृत को, जुहू उपभृत् ध्रुवा स्रुचों के घृत को और दोनों पुरोडाशों का स्पर्श करे। और अध्वर्यु पाहि मां यज्ञन्यम् मन्त्र से अपने हृदय का स्पर्श करे।

सामिधेनी मन्त्रों का पाठ — तत्पश्चात् अध्वर्यु वेदि की उत्तर श्रोणि के उत्तर में वारण आदि काष्ठ का बना हुआ आसन रख कर एहि होतः मन्त्र से होता को आमन्त्रित करे। होता के आचमन कर लेने पर अध्वर्यु एक समिधा हाथ में लेकर होता को कहे अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि (—प्रज्वलित हो रही अग्नि के लिये मन्त्र पाठ करो)। होता ब्रह्मा से सामिधेनी संज्ञक मन्त्रों के पाठ के लिये अनुज्ञा (=स्वीकृती) मांगे — ब्रह्मन् सामिधेनीरनुवक्ष्यामि (=हे ब्रह्मन्! मैं सामिधेनी मन्त्रों का पाठ करूंगा)। ब्रह्मा के ओमनुब्रूहि (=हां, सामिधेनी मन्त्र बोलो) ऐसी स्वीकृती देने पर होता जोड़े हुए हाथों को हृदय के समीप रख कर आकाश और पृथिवी के मध्य (अर्थात् न उन पर, न नीचे, सीध में देखता हुआ) सामिधेनी संज्ञक मन्त्रों का पाठ करे।

सामिधेनी संज्ञक मन्त्र ११ हैं। प्रथम और उत्तम (=अन्त्य) मन्त्र को तीन तीन बार बोला जाता है — त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्। इस प्रकार चार की वृद्धि होकर दर्शपूर्णमास में १५ सामिधेनी मन्त्र होते हैं।

सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण प्रकार — सामिधेनी मन्त्रों को एक दूसरे से मिलाकर बोला जाता है और प्रति मन्त्र अन्त्य के 'टि' संज्ञक भाग (=अन्त्य स्वर अथवा कहीं व्यञ्जन परे हो तो उसको लेकर अन्त्य स्वर) के स्थान में प्रणव (ओ३म्) का आदेश होता है। यथा — भूर्भुवः स्वरोम्। प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयो३म् अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषो३म् तन्त्वा……

पाणिनि ने प्रणवष्टेः (८।२।८६) सूत्र से ऋचा के अन्त में यज्ञकर्म में जो 'टि' संज्ञक भाग को प्रणव (ओ३म्) आदेश कहा है, वह वहीं होता हैं जहां मन्त्र के अन्त में स्वाहा अथवा वौषट् पद लगाकर आहुति नहीं दी जाती है। आर्यसमाज में अनेक शास्त्रज्ञानविहीन इस सूत्र को देखकर मन्त्र और स्वाहा के मध्य ओ३म् का प्रयोग करते हैं। वह शास्त्रविपरीत है।

सामिधेनी मन्त्र से समित् का प्रक्षेप—अध्वर्यु प्रत्येक सामिधेनी मन्त्र के अन्त में ओ३म् के उच्चारण के साथ एक-एक समित् अग्नि में डाले। परन्तु समिद्धोऽग्न इस बारहवें मन्त्र से पूर्व ११ वें मन्त्र के अन्त में ओ३म् के उच्चारण के साथ १ समिधा बचाकर शेष सभी समिधाओं का अग्नि में प्रक्षेप कर देवे। बचाई हुई समित् अनुयाजों में काम आयेगी।

इध्म=समित् १८ हैं यह पूर्व पृष्ठ ३८, सं० ३७ पर कहा है। उन में से दो समित् का प्रक्षेप वीतिहोत्रम् और समिदसि मन्त्र से (कात्या० २।८।२-३) आहवनीय पर परिधि के निधान (स्थापन) काल में प्रक्षेप होता है। शेष १६ समित् रहीं। उन में से सामिधेनी के १० मन्त्रों से १० समिधाओं का प्रक्षेप होता है। ११ वें मन्त्र से ५ समिधों का प्रक्षेप कहा है। १ समित् अनुयाजार्थ शेष रहती है। इस प्रकार समित् १८—२ =१६। १०+५+१=१६॥

आघाराहुति दो—सामिधेनी मन्त्रों के पाठ के अनन्तर आघार संज्ञक दो घृत की आहुतियाँ दी जाती है। इन की पूर्वाघार और उत्तराघार संज्ञाएं हैं। पूर्वाघार आहुति मन में प्रजापतये स्वाहा बोलकर दी जाती है। और यजमान इदं प्रजापतये न मम से स्वत्व का त्याग करता है। उत्तराघार आहुति इत इन्द्रो वीयम-कृणोत् मन्त्र से दी जाती है। यजमान इदमिन्द्राय न मम बोलता है।

आघाराहुति देने का प्रकार—आघार आहुतियां सीधी दीर्घ (=स्थूल) और सतत (=लगातार) दी जाती हैं। अर्थात् पूर्व आघार आहुति उत्तर दिशा में पश्चिम से पूर्व को सोधी, दीर्घ=स्थूल धारवाली और सन्तत (मध्य में न टूटे इस प्रकार) दी जाती है। ऋजुमाघारयति, दीर्घमाघारयति, सन्ततमाघारयति। इस प्रकार द्वितीय आघार की दक्षिण में पश्चिम से पूर्व की ओर दी जाती है। इस में पक्षान्तर भी है। उसका निर्देश यहां नहीं किया है।

संस्कारविधि में भूल—आघार और आज्यभाग की आहुतियों के मन्त्रों का क्रम लेखक-प्रमाद से पूर्वापर व्यत्यास (आगे पीछे) हो गया है। वहां पाठ है—

"ओमग्नये स्वाहा। इदमग्नये-इदं न मम। इस मन्त्र से वेदी के उत्तरभाग अग्नि में, ओं सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय इदं न मम इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी। तत्पश्चात् ओं प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये-इदं न मम। ओमिन्द्राय स्वाहा॥ इदमिन्द्राय इदं न मम इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी।"

यहां आघाराहुति के मन्त्रों के स्थान पर आज्यभागाहुति के मन्त्र छप गये हैं। हिन्दी भाग ठीक है। इसी प्रकार आज्यभागहुति के मन्त्रों के स्थान में आघाराहुति के मन्त्र छप गये हैं। हिन्दी भाग यहां भी ठीक है। केवल मन्त्रों का पाठ ऊपर नीचे हो गया है।

प्रवराश्रावण अथवा प्रवरवरज—आघाराहुतियों के अनन्तर यजमान अपने प्रवरों को सुनाता है—अग्निर्देवो दैव्या होता देवान् यक्षद् विद्वांश्चिकित्वान् मनुष्वद भरतवत् मन्त्र के अन्त में अपने प्रवरों का उच्चारण करता है। यथा किसी यजमान का काश्यप गोत्र है तो वह क्रमशः पौत्र पुत्र और पिता के नामों का उच्चारण करता हुआ कहता है—कश्यपवत् अवत्सारवत् नैध्रुववत्। अर्थात् जैसे कश्यपने अवत्सार और

नेध्रुव ने यज्ञ किया वैसे मैं करता हूं। यदि भारद्वाजगोत्र है तो भरद्वाजवत बृहस्पतिवद् अङ्गिरस्वत्। भारद्वाज गोत्र का मूल पुरुष है—भरद्वाज उसके पिता बृहस्पति और पितामह अङ्गिरा का वरण करना होता है। प्रवर शब्द का अर्थ है विशेषरूप से श्रेष्ठ। प्रवर नाम वे ही होते हैं जो गोत्र के मूल पुरुष की पीढ़ियों में क्रमशः मन्त्र-कृत्=मन्त्रद्रष्टा पुत्र पिता और पितामह होते हैं। प्रवरों के वरण से गोत्र के पूर्व पुरुषों का ज्ञान सुरक्षित रहता है। किस गोत्र के क्या प्रवर हैं, इन का वर्णन श्रौतसूत्रों के प्रवराध्याय में मिलता है।

होतृवरण—प्रवरवरण के पश्चात् होता का वरण किया जाता है। यहां से दर्शपूर्ण मास में होता का कर्म आरम्भ होता है।

प्रयाज संज्ञक ५ याग—प्र शब्द प्राक् अर्थ का वाचक हैं। किसी भी इष्टि का जो प्रधान याग है उससे पूर्व जो याग किये जाते हैं उन्हें प्रयाज कहते हैं। दर्शपूर्णमास में पांच प्रयाज होते हैं। अन्यत्र न्यूनाधिक देखे जाते हैं। प्रयाज शब्द में प्रपूर्वक यज धातु से घञ् प्रत्यय होता है। प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे (अष्टा० ७।३।६२) से यज्ञ का अङ्ग जाना जाए तो जकार को गकार नहीं होता है। ये प्राधान याग के अङ्ग याग हैं। इन पाँच यज्ञों के देवता हैं—१ समित्, २ तनूनपात् अथवा नराशंस, ३. इड, ४. बर्हि, ५. स्वाहा। नराशंस देवताक, द्वितीय, प्रयाज वसिष्ठ, शुनक अत्रि, वध्र्यश्व, कण्व कश्यप, और संस्कृत प्रवरों के यजमानों का होता है इन से भिन्न प्रवरों वाले यजमानों का तनूनपात् देवता वाला द्वितीय प्रयाज होता है।

श्रौत यागों में याग का प्रकार—अध्वर्यु जुहू और उपभृत को लेकर पूर्व स्थापित की हुई हवियों के उत्तर और परिधियों के पश्चिम से बायें पैर से वेदी के दक्षिण में जाकर ईशान दिशा की ओर मुख करके जिस देवता के लिये याग करना हो उसको ध्यान में रखकर—

अध्वर्यु—ओ३ श्रा३वय ऐसा बोले। उत्तर में

अग्नीत्—अस्तु श्रौ३षट् ऐसा कहे। तत्पश्चात् उस देवता वाली पुरोऽनुवाक्या को पढ़ने के लिये—

अध्वर्यु—[अग्नये] अनुब्रू३हि ऐसा होता को प्रेष देता है। इस के पश्चात् होता—उस देवता वाली [अग्निर्मूर्धा दिवः] पुरोऽनुवाक्या को पढ़ता है। तदनन्तर यजनीय देवता को लक्ष्य में रखकर—

अध्वर्यु—[अग्निं] यज ऐसा होता को कहता है। तत्पश्चात् होता—उस देवता वाली याज्या ऋचा के पूर्व ये३यजामहे जोड़ा जाता है—[ये३यजामहे अग्निं भुवो यज्ञस्य] मन्त्र को पढ़कर मन्त्र के अन्त में वौ३षट उच्चारण करता है। वौषट् उच्चारण के समकाल में अध्वर्यु आहुति देता है।

यह एक याग की आहुति की क्रिया है। प्रति याग इसी प्रकार क्रिया करनी होती है। ऊपर कोष्ठ में अग्नये अग्निर्मूर्धादिवः अग्निं भुवो यज्ञस्य मन्त्रांश पढ़े हैं वे सब याग का प्रकार दिखाने के लिये अग्नि देवताक याग के अंश उद्धृत किये हैं। किसी भी देवता के लिये याग हो सर्वत्र यही क्रम आदृत होता है इस लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है।—

'ओ श्रावय' इति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषट्' इति चतुरक्षरम्, 'ये यजामहे' इति पञ्चाक्षरम्, 'यज' इति द्व्यक्षरम्। द्व्यक्षरो 'वषट्' कारः। एष वै सप्ताक्षरः छन्दस्य प्रजापतिर्यज्ञमनुविहितः। (महाभाष्य ४।४।१४० में उद्धृत)

अर्थात्—'ओ श्रावय' यह चार अक्षर, 'अस्तु श्रौषट्' ये चार अक्षर, 'ये यजामहे' ये पंचाक्षर, 'यज' ये दो-अक्षर और 'वौषट्' ये दो अक्षर, मिलकर १७ अक्षरों वाला वेद में प्रतिष्ठित प्रजापति यज्ञ में विहित है।

पुरोऽनुवाक्या और याज्या—जिस मन्त्र से याग (=आहुति देने) से पूर्व देवता को स्मरण किया जाता है (पौराणिकों के मत में 'देवता का आह्वान' किया जाता है) उस ऋचा को पुरोऽनुवाक्या (पूर्व पाठनीया ऋचा) कहते हैं। और जिस मन्त्र को बोलकर देवता के लिये आहुति दी जाती है उसे याज्या ऋक् कहते हैं। प्रत्येक याग की पुरोऽनुवाक्या और याज्या नियत हैं। मैत्रायणी संहिता के अन्त में 'याज्यापुरोऽनुवाक्या-काण्ड' में क्रमशः पढ़ी हुई मिलती हैं।

इसी याग क्रम को ध्यान में रखकर पाणिनि ने निम्न सूत्र पढ़े हैं—

१—ये यज्ञकर्मणि (८।२।८८)—यज्ञ कर्म में 'ये यजामहे' में 'ये' प्लुत होता है ये ३ यजामहे-अग्निं भुवो यज्ञस्य।

२—प्रणवष्टेः (८।२।८९)—यज्ञ कर्म में ऋचा के 'टि' संज्ञक भाग को प्लुत प्रणव आदेश होता है—अग्निर्मूर्धा—अपां रेतांसि जिन्वतो३म्। (इस विषय में पूर्व पृष्ठ ४९ पर जो लिखा है उसे भी देखें)

३—याज्यान्तः (८।२।९०) यज्ञ कर्म में याज्या मन्त्र के अन्त्य 'टि' संज्ञक भाग को प्लुत होता है—ये३यजामहे-अग्निं भुवो यज्ञस्य——चक्रुषे हव्यवाहं३ वौ३षट्।

४—ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः (८।२।९१)—यज्ञ कर्म में ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट्, आवह पदों के आदि को प्लुत होता है—अग्नये ऽनुब्रू३हि, अग्नये गोमयान् प्रे३ष्य, अस्तु श्रौ३षट्, चक्रुषे हव्यवाहं३ वौ३षट्, अग्निमा३वह।

५—अग्नीत्प्रेषणे परस्य च (८।२।९२)—यज्ञ कर्म में अग्नीत् ऋत्विक् को प्रैष (आज्ञा) देने में जो वाक्य प्रयुक्त होता है, उसके आदि अक्षर को तथा उस से परे वर्तमान अक्षर को प्लुत होता है—ओ३ श्रा३वय।

आज्यभागाहुति—प्रयाज संज्ञक यागों के पश्चात् अग्नि और सोम देवता के लिये घृत की दो आहुतियां दी जाती है। इन्हें आज्यभागाहुति कहते हैं। इन में आग्नेय आहुति उत्तर पूर्वार्ध में, और सोमाहुति दक्षिण पूर्वार्ध में दी जाती है।

प्रधान याग—'पूर्णमासेष्टि में तीन प्रधान याग हैं—१. अग्नि देवता के लिये अष्ट कपालों में संस्कृत पुरोडाश का, २. अग्नीषोम देवता के लिये आज्य का, ३. अग्नीषोम देवता के लिये एकादश कपालों में संस्कृत पुरोडाश का।

अवदान का प्रकार=आहुति देने के लिये यज्ञीय द्रव्य के ग्रहण का प्रकार—आहुति देने के लिये जो भी घृत पुरोडाश आदि हव्य पदार्थ हैं उन से प्रत्येक आहुति के लिये चार अवदान (दो अवखण्डने) चार भाग लिये जाते हैं। चतुरवत्तं जुहोति यह सामान्य नियम है। जामदग्न्य गोत्र वालों के लिये पञ्चावत्तं जुहोति=पांच भाग लेने का विधान है। यहां चार अवदान का प्रकार लिखा जाता है।

घृत से आहुतियों के लिये—यज्ञीय घृत आज्यस्थाली में रहता है। उस से चार स्रुवा भर कर ध्रुवा

संज्ञक स्रुच् में लिया जाता है ध्रुवा से होम के लिये घृत का ग्रहण किया जाता है। अध्वर्यु स्रुव से चार स्रुवा घृत जुहू में ग्रहण करता है। प्रत्येक बार ध्रुवा से स्रुवा भर कर जुह्वा में ग्रहण करने के पश्चात् आज्यस्थाली से एक स्रुवा भर कर ध्रुवा में डाला जाता है इस प्रकार ध्रुवा में चार स्रुवा घृत सदा बना रहता हैं। वह खाली नहीं होती। यही ध्रुवा का ध्रुवत्व है। इस प्रकार एक घृताहुति के लिए चार बार स्रुवा के द्वारा घृत से अवदान किया जाता है। यह सार्वत्रिक प्रक्रिया है।

पुरोडाश की आहुतियों के लिये—पुरोडाश की आहुति देने के लिये पहले ध्रुवा से एक स्रुवा भर के जुहू में छोड़ा जाता हैं[1]। इसको उपस्तरण कहते हैं। तत्पश्चात् जिस पुरोडाश की आहुति देनी हो उसके मध्यभाग से शृतावदान पात्र से अङ्गुष्ठ पर्व के बराबर तिरछा टुकड़ा काट कर जुहू में रखा जाता है। तत्पश्चात् पूर्वार्ध से उसी प्रकार एक टुकड़ा काट कर जुहू में रखते हैं। पुरोडाश से अवदान करने के पश्चात् स्रुव में घृत भर कर जहां से अंगुष्ठ पर्वमात्र पुरोडाश लिया है, उस क्षतिग्रस्त स्थान में घृत से अभिघारण करते हैं। इस कर्म को प्रत्यभिघारण कहते हैं। तत्पश्चात् ध्रुवा से एक स्रुव भर के उस से क्रमशः दोनों पुरोडाश भागों का अभिघारण करते हैं। इस प्रकार १ अवदान उपस्तरणार्थ घृत का, २ अवदान पुरोडाश के और पुनः १ अवदान अभिघारण के लिये घृत का। सब मिलाकर चार अवदान होते हैं। पञ्चावदान वाले जामदग्न्य पुरोडाश के पश्चात् भाग से एक अवदान अधिक करते है। इस प्रकार २ अवदान घृत के ३ पुरोडाश के=५ अवदान।

आग्नेय याग--आज्यभागाहुतियों के पश्चात् अध्वर्यु होता से कहता है—अग्नयेऽनुब्रू३हि (=अग्नि देवता के लिये पुरोऽनुवाक्या पढ़ो। तत्पश्चात् होता—अग्निर्मूर्धा------जिन्वतो३म् ऋचा पढ़ता है। तदनन्तर पूर्वनिर्दिष्ट प्रकार से प्रथम आग्नेय पुरोडाश से हवि का ग्रहण करके पूर्वप्रक्रियानुसार अध्वर्यु अग्नीत् से ओ३ श्रा३वय कहता है। उत्तर में अग्नीत् कहता है—अस्तु श्रौ३षट्। पुनः अध्वर्यु होता से कहता है—अग्नि यज। होता—ये ३ यजामहे—अग्निं भुवो……चक्रुषे हव्यवाह३ वौ३षट् याज्या को पढ़ता है। अध्वर्यु वौषट् शब्द के साथ ही जुहू में स्थापित पुरोडाश की आहुति देता है। इस समय यजमान इदमग्नये न मम बोल कर त्याग करता है।[2]

---

१. जितनी बार स्रुव के द्वारा ध्रुवा से घृत लिया जाता है उतनी ही बार आज्यस्थाली से स्रुव भरकर ध्रुवा में डालते है=ध्रुवा का पूरित करते हैं।

२. यज्ञ में जिस देवता के लिये आहुति दी जाती है उसके पश्चात् उस देवता का निर्देश करके इदं न मम रूप त्यागांश का पाठ अवश्य किया जाता है। इस के विना आहुतिप्रदान अधूरा रहता है। इसे लौकिक उदाहरण से इस प्रकार समझें। कोई निर्धन ब्राह्मण किसी यजमान से गौ मांगता है। यजमान 'मैं देता हूं' कह कर गाय की रस्सी ब्राह्मण को पकड़वा देता है। इतना होने पर भी दान की प्रक्रिया पूरी नहीं होती है। सन्देह रहता है कि यजमान ने सर्वथा सर्वदा के लिये मुझे गाय दे दी अथवा कुछ समय के लिये दी है। अतः दान की प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिये गाय की रस्सी ब्राह्मण के हाथ में देते हुए दाता को इयं तव न मम यह गाय तुम्हारी है, मैंने अपना स्वामीपन इस पर छोड़ दिया है। इसे ही संस्कृत में स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादनं दानम् (=अपने अधिकार का त्याग करते हुए जिस को दान दिया जाये उसके अधिकार को स्थापित करना दान कहाता है) शब्दों से कहा गया है।

संस्कारविधि में बहुत्र इदं न मम का अभाव—संस्कारविधि में अनेक मन्त्रों से आहुति का विधान तो

अग्नीषोम देवताक उपांशु याग—आग्नेय याग के समान ही अग्नीषोम देवता के लिये चतुरवत्त (=जुहू में चार स्रुवा घृत लेकर घृत की आहुति दी जाती हैं। इस कर्म में अग्नीषोम पद का उच्चारण उपांशु किया जाता है। इसी कारण यह उपांशु याग के नाम से प्रसिद्ध है। उपांश से तात्पर्य है समीप में बैठा हुआ न सुन सके इतना मन्द उच्चारण।

अग्नीषोमीय याग—यह याग आग्नेय याग के समान अग्नीषोम देवता वाला ग्यारह कपालों में संस्कृत जो पुरोडाश हैं उससे किया जाता है। इसकी सब विधि आग्नेय पुरोडाश याग के समान जाननी चाहिये।

स्विष्टकृद् याग=प्रधान याग के पीछे स्विष्टकृद् याग किया जाता है। इसके लिये सब कार्य आग्नेय याग के समान ही होता है। केवल पुरोडाश के अवदान में इतना भेद है—इसके लिये दोनों पुरोडाशों के उत्तरार्ध

मिलता है, परन्तु 'स्वाहा' के पश्चात् इदं न मम का निर्देश नहीं है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार सर्वत्र उस देवता का निर्देश करते हुए इदं न मम त्यागांश का पाठ अवश्य कर्त्तव्य है। यथा—सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। इदं सूर्याय-इदं न मम।

याज्ञिक प्रक्रिया के ज्ञान से शून्य विद्वान् कहते हैं कि जितना ऋषि दयानन्द ने लिखा है उतना ही हम पढ़ेंगे। यदि यहां इदं न मम आवश्यक होता तो क्या ऋषि दयानन्द स्वयं न लिख देते? ये विद्वान् अपना अज्ञान छिपाने के लिये कर्मकाण्ड की प्रक्रिया में परम निष्णात ऋषि दयानन्द को कर्मकाण्ड-प्रक्रिया-विहीन घोषित करते हुए नहीं लजाते है। इन्होंने ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से भी इस मर्म को नहीं समझा। समझें तो तब जब इन्हें कर्मकाण्ड की प्रक्रिया का कुछ ज्ञान होवे। इस विषय में हम एक उदाहरण देते हैं—

ऋषि दयानन्द ने पंचमहायज्ञविधि और सत्यार्थप्रकाश में भूरग्नये प्राणाय स्वाहा आदि मन्त्र विना त्यागांश इदं न मम के पढ़े हैं। संस्कारविधि में इनके आगे इदं न मम त्यागांश पठित है—भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। इदमग्नये प्राणाय इदं न मम आदि। शास्त्रीय सिद्धान्त है—इङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्र प्रबन्धेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते (महाभाष्य ६।१।३।। ८।२।३)। अर्थात् हाथ के इशारे से शरीर की चेष्टा से आंख झपकने से अथवा महान् सूत्र प्रबन्ध से पाणिनि आचार्य का अभिप्राय लक्षित होता है। तात्पर्य यह है कि आचार्य मुखतः ही कहें तब ही उनका अभिप्राय जाना जावे ऐसी बात नहीं है। उनके साधारण संकेत से भी आचार्य के तात्पर्य को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। इस महाभाष्यकार के निर्देश के प्रकाश में एक स्थान पर इदं न मम रहित मन्त्र पाठ देते हुए ऋषि दयानन्द जब दूसरी जगह इदं न मम अंश सहित पढ़ा हैं तो उनका अभिप्राय स्पष्ट है कि जहां जहां इदं न मम अंश नहीं पढ़ा है वहां पर भी उसका उच्चारण करना चाहिये। कुछ मनचले विद्वान् दयानन्द के प्रति अगाध श्रद्धा का डिण्डिम घोष पीटने के लिये कहते हैं कि पंचमहायज्ञविधि में इदं न मम रहित मन्त्र पाठ नित्ययज्ञ करनेवालों के लिये हैं। और उसका जो इदं न मम सहित पाठ संस्कारविधि में है वह काम्य अथवा कदाचित् यज्ञ करनेवालों के लिये है। परन्तु इन्हें यह ज्ञात नहीं कि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में नैत्यिक, काम्य और नैमित्तिक तीनों प्रकार के यज्ञों में स्वाहा के अनन्तर इदं न मम अंश अवश्य पठनीय माना गया है। शास्त्रों में यज्ञ की परिभाषा ही द्रव्यं देवता त्यागः (कात्या० श्रौत १।२।२) लिखी है। तदनुसार विना त्यागांश के याग ही पूरा नहीं होता है। अतः शास्त्रीय नियम के अनुसार संस्कारविधि में जहां जहां त्यागांश पठित नहीं है वहां सर्वत्र उसकी पूर्ति करके अग्निहोत्रादि करना चाहिये।

से एक एक भाग लिया जाता है। यहां पुरोडाश के जिस भाग से अवदान किया है उसका प्रत्यभिघारण नहीं किया जाता है। यह आहुति अग्नि के उत्तरार्ध में प्रज्वलित अग्नि में दी जाती है। इस याग की याज्या में जिन देवताओं के लिये प्रधान याग में यजन किया उनका नाम निर्देश पूर्वक उल्लेख किया जाता है और स्विष्टकृद् अग्नि से प्रार्थना की जाती है। यजमान आहुति के अनन्तर इदमग्नये स्विष्टकृते न मम त्यागांश बोलता है।

स्विष्टकृद् याग का स्थान—यद्यपि प्रधान याग के अनन्तर अन्य अङ्ग याग और भी होते हैं तथापि स्विष्टकृद् याग सदा सर्वत्र प्रधान याग के पश्चात् ही होता है। क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से प्रधान याग ही मुख्य है अङ्ग याग तो उसके सहायक मात्र होते हैं। किसी कारण वश यदि यजमान साङ्ग सम्पूर्ण नित्य कर्म न कर सके तो प्रधान याग मात्र की निष्पत्ति से उसे कृतार्थ माना जाता है।

संचार-मार्ग का प्रोक्षण—जिस मार्ग से कर्म करने के लिये अध्वर्यु ने गमनागमन किया है उस मार्ग को जल से प्रोक्षित करने (=छींटे देने) के पश्चात् उत्तर क्रिया की जाती है।

प्राशित्र-हरण—यज्ञीय पात्रों के वर्णन में 'प्राशित्रहरण' नामक पात्र का निर्देश पूर्व (पृष्ठ ३६ संख्या १८) कर चुके हैं। अध्वर्यु प्राशित्रहरण पात्र को बायें हाथ से पकड़कर आज्यस्थाली के घृत से उसका उपस्तरण करके आग्नेय पुरोडाश के मस्तक (=उपरि) भाग से यव के बराबर अथवा पीपल के फल के बराबर दो टुकड़े लेकर अग्नीषोमीय पुरोडाश से भी इसी प्रकार दो भाग लेकर उपर घृत से अभिघारण करे। तत्पश्चात् द्वितीय प्राशित्र हरण पात्र से ढककर अध्वर्यु पूर्व गमनागमन मार्ग से जाकर उस प्राशित्र को ब्रह्मा को अर्पित करे। समर्प्यमाण प्राशित्र को मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे मन्त्र से ब्रह्मा देखे। तत्पश्चात् उस प्राशित्रहरण पात्र को वेदि के दक्षिण अंस में रखकर देवस्य त्वा सवितुः इत्यादि मन्त्र से प्राशित्र भाग को उठाकर अग्नेष्ट्वाऽऽस्येन प्राश्नामि मन्त्र बोलकर भक्षण करे। तदन्तर आचमन करके प्राशित्रहरण पात्र को उत्कर स्थान में जल से धोकर या अप्स्वन्तर्देवताः आदि मन्त्र से नाभि का स्पर्श करके हाथ धोवे।

इडा का पञ्चावत्त करना—तत्पश्चात् अध्वर्यु इडापात्री को गार्हपत्य में तपाकर उस में पञ्चावदान (१ उपस्तरण, २ अवदान, २ अभिघारण) करे। आज्यस्थाली के घृत से उपस्तरण, पुरोडाश के दक्षिण और मध्य भाग से अवदान, इसी प्रकार द्वितीय पुरोडाश के दक्षिण और मध्य से अवदान करके दो बार आज्यस्थाली के घृत से अभिघारण करें।

आग्नीध्रभाग—तत्पश्चात् षडवत्त पात्र के दो स्थानों में आज्यस्थाली के घृत से उपस्तरण करके आग्नेय पुरोडाश के अनियत स्थान से एक एक अवदान करके रखे और आज्यस्थाली के घृत से ही अभिघारण करे। यह आग्नीध्र का भाग है। पश्चात्

ब्रह्मभाग आग्नेय पुरोडाश के अनियत स्थान से अवदान करके ध्रुवा में रखे। यह ब्रह्मा का भाग है तत्पश्चात्

यजमानभाग—आग्नेय पुरोडाश के पूर्वार्ध से थोड़ा सा किन्तु लम्बायमान भाग का यजमान के लिये अवदान करके ध्रुवा के पूर्व में दर्भों पर रखे।

इन भागों में कुछ का परिमाण इस प्रकार जानना चाहिये। प्रधान याग के लिये जो अवदान किया जाता है वह अङ्गुष्ठ पर्व के बराबर होता है। स्विष्ट कृत् के लिये उससे बड़ा अवदान किया जाता है और इडा के लिये उस से बड़ा।

होता को तर्जनी के पर्वों का घृत से अञ्जन—अध्वर्यु पश्चिम मुख होकर इडापात्र को होता के हाथ में देकर अपने हाथ को इडापात्र से न हटाते हुए होता के आगे पश्चिम मुख बैठकर होता से समर्पित इडापात्र को लेकर उसी के घृत से होता की तर्जनी अङ्गुली (अंगूठे के पास वाली) के मध्यम और उत्तम पोरों को चुपड़े। होता उस घृत को दोनों होठों पर लगावे। कई आचार्यों के मत में होठों पर घृत लगाने के स्थान में नासिका से सूंघने का विधान है। होता जल का स्पर्श करे।

इडा का उपह्वान—तत्पश्चात् अध्वर्यु होता के हाथ में स्थित इडा से पांचवें भाग का अवदान करे। वह उस पांचवें भाग को ग्रहण करे। तदनन्तर पुनः होता को इडा पात्र देकर उसमें स्थित पुरोडाशादि का सब ऋत्विजों के स्पर्श करते हुए उपहूतं रथन्तरं आदि मन्त्र होता पढ़े।

आग्नेय पुरोडाश का चतुर्धाकरण—उक्त मन्त्र के पढ़ते समय अध्वर्यु अवशिष्ट आग्नेय पुरोडाशके चार भाग करके ब्रध्न पिन्वस्व—मन्त्र के अन्त में चारों भागों को कुशाग्रों पर रखे। और उन चारों भागों को यह ब्रह्म का, यह होता का, यह अध्वर्यु का, यह अग्नीत् का, इस प्रकार ऋत्विजों के भागों का निर्देश करे

तत्पश्चात् यजमान यथानिर्दिष्ट भागों को उस-उस ऋत्विक् का नाम लेकर समर्पित करें। पश्चात् होता से उपहूते द्यावापृथिवी अंश के पढ़ते समय षडवत्त अग्नीत् को समर्पित करे। और उपहूतोऽयं यजमानः ऐसा होता के पढ़ते हुए मर्यादमिन्द्र मन्त्र का यजमान सस्वर जप[1] करे।

यज्ञशेष-भक्षण—सब ऋत्विक् और यजमान वेदि से बाहर जाकर अपने-अपने भाग का भक्षण करें। अग्नीत् पहले चतुर्धाकरण से प्राप्त भाग का भक्षण करके आचमन करे। तत्पश्चात् प्रथम अवत्त षडवत भाग को खाकर आचमन करके षडवत्त के द्वितीय भाग को खाकर इडा के भाग का भक्षण करे। अन्य सब ऋत्विक् भी पहले चतुर्धाकरण से प्राप्त अपने भाग को खाकर इडा का भक्षण करें। यजमान भी इडा में विभक्त किये गये पांचवें भाग का भक्षण करे।

अन्वाहार्य-समर्पण—पश्चात् अध्वर्यु ऋत्विजों के भक्षण के लिये जो ओदन पकाया गया है उसका स्रुवा से आज्यस्थालीस्थ आज्य से अभिघारण करके अग्नि पर से उत्तर की ओर से उतार कर गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के मध्य से लेकर वेदि में धर के प्राणापानौ मे पाहि आदि मन्त्र को पढ़कर ओदन का स्पर्श करे। तत्पश्चात् यजमान 'इस पौर्णमासेष्टि की समृद्धि के लिये अन्वाहार्य दक्षिणा ब्रह्मादि ऋत्विजों को समान विभाग से देता हूं' ऐसा संकल्प करके प्रत्येक ऋत्विक् को उस का भाग देवे। [इस का भक्षण ऋत्विक् इष्टि के अनन्तर करेंगे]।

अनुयाज—दर्शपूर्णमास में तीन अनुयाज होते हैं। प्रधान के अनु पश्चात् याग होने से इन्हें अनुयाज कहते हैं। इस की प्रक्रिया इस प्रकार है—

अध्वर्यु आहवनीय से निकाले गये दो अंगारों को आहवनीय में रखकर सामिधेनी मन्त्रों के पाठ के समय जो १ समिधा बचाई थी उसे हाथ में लेकर ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि (हे ब्रह्मन् मैं अनुयाजों के लिये प्रस्थान करुंगा) ऐसा पूछकर अध्वर्यु समिधमाधायाग्निमग्नीत् संमड्ढि (हे अग्नीत् समित का आधान करके अग्नि को साफ करो) ऐसा कहे। ब्रह्मा 'एतं ते ……ओम्प्रतिष्ठ मन्त्र से अध्वर्यु को अनुयाजों के लिये अनुमति देवे। अग्नीत् आहवनीय के उत्तर में खड़ा रह कर समिधा को अग्नि में छोड़कर अग्नि का मार्जन करे

१. जप मन्त्र का उच्चारण इतने हलके स्वर से किया जाता है, जिसे समीप बैठा हुआ पुरुष न सुने।

[सितम्बर १९८० के अङ्क में छपे पृष्ठ ४९-५७ से आगे]

तत्पश्चात् अध्वर्यु उपभृत् में रखे आज्य के कुछ भाग को छोड़ कर बाकी आज्य को जुहू में लेकर यजति-स्थान में जाकर ओ३श्रा३वय से अग्नीत् को प्रैष देवे। अग्नीत् के अस्तु श्रौ३षट् ऐसा कहने पर अध्वर्यु देवान् यज इस प्रकार होता को प्रेरित करे। तदनन्तर होता ओम्—देवं बर्हिर्वसुवने इत्यादि याज्या को पढ़े और वौ३षट् ऐसा कहने पर अध्वर्यु जुहू में स्थित आज्य के तीसरे भाग से प्रथम अनुयाज की आहुति देवे। इसी प्रकार द्वितीय तृतीय अनुयाज करके देवेभ्यः स्वाहा से अध्वर्यु बैठे हुए एक आहुति देवे।

सूक्तवाक और प्रस्तर-प्रक्षेप—अध्वर्यु प्रथम परिधि का स्पर्श करके ओ३श्रा३वय ऐसा अग्नीत् को प्रैष देवे। अग्नीत् के अस्तु श्रौ३षट ऐसा कहने पर अध्वर्यु इषिता दैव्या····सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रू३हि ऐसा होता को प्रैष देवे। तदनन्तर होता इदं द्यावापृथिवी आदि सूक्तवाक का पाठ करे और सूक्तवाक के अन्त में वेदि में रखे प्रस्तर के एक तृण को शेष रखकर अग्नि में छोड़ देवे।

सूक्तवाक में पूर्व जिन देवों को आहुतियां दी हैं उन की स्तुति की है (सु उक्त वाक=वचन) और अन्त में यजमान उन देवों से विविध प्रकार की आशी की प्रार्थना करता है।

शंयुवाक - अध्वर्यु सूक्तवाक के समान ही होता को शंयुवाक के पाठ का प्रैष देता है और होता तच्छंयो वृणीमहे मन्त्र का पाठ करता है। इस में यज्ञपति यजमान के लिये कल्याण की प्रार्थना की है।

परिधिहोम—तदनन्तर आहवनीय के तीन ओर रखी परिधि संज्ञक ३ समिधाओं को अध्वर्यु अग्नि में छोड़ता है।

पत्नीसंयाज —पत्नीसंयाज शब्द का भाव है–'पत्नी के लिये 'याग'। इस कर्म में सोम त्वष्टा और देवों की पत्नियों के लिये ३ आहुतियां दी जाती हैं। तृतीय आहुति की देवता देवपत्नियां हैं। इसी से कर्म का नाम पत्नीसंयाज पड़ा है। इस कर्म में भी पूर्ववत् ओ३श्रा३वय आदि पूर्वक अनुवाक्या और याज्या के पाठ के अनन्तर आहुति दी जाती है।

पत्नीसंयाज के अनन्तर पूर्ववत् होता की तर्जनी अङ्गुली के २ पर्वों का घृत से अञ्जन, उससे दोनों ओष्ठों का लेपन, इडोपह्वान आदि कर्म पूर्ववत् (पृष्ठ ५६ के समान) भागपरिहरण भक्षण आदि होता है।

पत्नी संयाज के अनन्तर आनुषङ्गिक कर्म होते हैं—

दक्षिणाग्नि में होम—संवेशपति अग्नि और यशोभगिनी सरस्वती के लिये दक्षिणाग्नि में दो आहुतियाँ दी जाती हैं।

पिष्टलेपाहुति पुरोडाश बनाने के लिये जिन जिन पात्रों का उपयोग हुआ है उन में पुरोडास सम्बन्धी पिसे हुए द्रव्य का जो अंश लगा हुआ है उसे छुड़ा कर घृत के साथ मिला कर प्रायश्चित के रूप में यह आहुति दी जाती है। किन्हीं के मत में केवल घृत की होती है। इस पक्ष में 'पिष्टलेपाहुति' यह नामकरण व्यर्थ होता है। आहुति दक्षिणाग्नि में दी जाती है।

वेद और योक्त्र का विमोक—पात्रादि के मार्जन के लिये उपविष्ट वत्सजानु की आकृति का दर्भों से जो वेद बनाया था उस का यजमानपत्नी विमोक (बन्धन खोलना) करती है। उसी प्रकार कर्म के आरम्भ में

मूञ्ज की बनी योक्त्र नाम की रस्सी जिसे अग्नीत् ने यजमानपत्नी की कमर में बांधा था, उसे भी पत्नी खोलती है।

इस के पश्चात् प्रणीतानिनयन कर्म होता है। इसमें प्रणीता पात्र में स्थित जल का अध्वर्यु वेदि मध्य से आरम्भ करके आहवनीय की प्रदक्षिणा करते हुए वेदि के मध्य में गिराता है।

पूर्णपात्रनिनयन—पूर्णपात्र में स्थित जल को यजमान अञ्जलि में ग्रहण करता है और उस से मुख का शोधन करता है।

विष्णुक्रम—सूर्य जैसे क्रमशः पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में गति करता है उसी के अनुकरण रूप यजमान वेदि के अन्त से पूर्व दिशा में तीन पैर धरता है।

गार्हपत्योपस्थान—अग्ने गृहपते मन्त्र से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है और सूर्य की परिक्रमा करता है।

व्रत का विसर्ग—कर्म को पूर्णता हो जाने पर यजमान आरम्भ में धारण किये सत्य-पालन रूप व्रत को छोड़ता है। इस का यह अभिप्राय है कि यज्ञ काल में सत्य बोलने का जो नियम धारण किया था उसे समाप्त करता है।

भागप्राशन—तदनन्तर यजमान अपने पूर्व स्थापित यज्ञशेष रूप भाग को खाता है।

ब्राह्मणतर्पण—तत्पश्चात् यजमान यथाशक्ति एक दो वा अधिक ब्राह्मणों को भोजन कराता है।

यह कात्यायन श्रौत सूत्रानुसार पौर्णमासेष्टि का संक्षिप्त विवरण पूरा हुआ।

॥ इति पौर्णमासेष्टि ॥

अथ दर्शेष्टि

अब अमावास्या के दिन जो अमावास्येष्टि की जाती है। वह हवि के भेद से दो प्रकार की है। एक में पौर्णमासेष्टि के समान पुरोडाश रूप हवि होती है दूसरी में एक पुरोडाश तथा दूध और दहि रूप हवि होती है। दूध और दहि रूप हवि को सान्नाय्य हवि कहते हैं। सान्नाय्य हवि का प्रयोग वही यजमान कर सकता है जिसने सोमयाग किया हो। तैत्तिरीय संहिता (२।२।५) आदि में नासोमयाजी सन्नयेत (असोमया जी सान्नाय्य हवि न देवे) ऐसा स्पष्ट निषेध किया है। परन्तु कात्यायन श्रौत सूत्र में कामादितरः (२।४।४६) से असोमयाजी को भी सान्नाय्य हवि की छूट दी है। हम प्रथम असान्नाय्ययाजी अर्थात् पुरोडाश से यजन करने वाले यजमान की दर्शेष्टि का वर्णन करेंगे।

सामान्य नियम—अगले दिन चन्द्रमा उदय नहीं होगा ऐसा जान कर चतुर्दशी अथवा चन्द्रमा का दर्शन न होने पर अमावास्या के दिन पौर्णमासेष्टि के समान अग्न्युद्धरण आदि करे। चतुर्दशी को कर्म आरम्भ करने पर इष्टि अमावस्या को होती है और अमावास्या को कर्म आरम्भ करने पर प्रतिपदा को इष्टि होती है।

असान्नाय्ययाजी की दर्शेष्टि

असान्नाय्ययाजी की हवि पुरोडाश होती है। अतः इस का प्रकार वही है जो पौर्णमासेष्टि का है। इसमें इतना विशेष होता है—

संकल्प में दर्शेष्ट्याऽहं यक्ष्ये (मैं दर्शेष्टि से यजन करूंगा) ऐसा संकल्प करना होता है।

हविर्निवाप—इस में एक आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश पूर्ववत् होता है। अतः इसके निर्वाप में तो पूर्ववत् अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि यही प्रयोग होता है। परन्तु दूसरा ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश होता है। उस का निर्वाप इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं निर्वपामि मन्त्र से करना होता है।

हविः प्रोक्षण—ऐन्द्राग्न हवि का प्रोक्षण इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि मन्त्र से होता है।

कपाल—इस में दोनों पुरोडाशों के पाक के लिये ८+१२=२० कपाल अपेक्षित होते हैं।

प्रधान याग में आग्नेय पुरोडाश की आहुति के लिये अनुवाक्या और याज्या वही हैं। दर्शेष्टि में उपांशुयाज का देवता विष्णु है। अतः इसकी याज्या का मन्त्र विष्णुं त्रिदेवः पृथिवीमेष आदि(ऋ० ७।१००।३) मन्त्र है। ऐन्द्राग्न पुरोडाश की अनुवाक्या मन्त्र इन्द्राग्नी अवसागतम् (ऋ० ७।९।४७) आदि और याज्या का मन्त्र गीर्भिर्विप्रः प्रमतिमिच्छमानः (ऋ० ७।९३।४) आदि है।

इस दर्शेष्टि में यही प्रधान भेद है। अवान्तर भेद पद्धति ग्रन्थ में देखें।

सान्नाय्ययाजी की दर्शेष्टि

आहवनीय और दक्षिणाग्नि में अग्नियों के अन्वाधान के पश्चात् छः समिधा हाथ में लेकर यजमान संकल्प करता है कल अष्टाकपाल पुरोडाश से अग्नि का और दही तथा दूध से इन्द्र का यजन करूंगा। तत्पश्चात् व्रतोपायन तक पूर्ववत् कर्म किया जाता है—

शाखाहरणादि—तत्पश्चात् अध्वर्यु पूर्व उत्तर अथवा ईशान दिशा की ओर फैली पलाश की शाखा को इषेत्वा मन्त्र से काट कर उर्जे त्वा से पत्ररहित करता है।

६ गायों कास्पर्श तथा उनका दोहना—तत्पश्चात् अध्वर्यु उस पलाश शाखा को लेकर ६ गायों को उनके वत्सों से संयुक्त करे। तत्पश्चात् उनमें से प्रत्येक वत्स को शाखा से छूकर अलग करे। तदनन्तर जिन गायों को दूहना हो उन में से एक गाय को देवो वः सविता इत्यादि मन्त्र से स्पर्श करके उस शाखा के मूल भाग से १ प्रादेश (११ अङ्गुल) भाग काट कर उपवेश बनावे। और यथाविधि क्रमशः एक एक गाय को दूहे। दूध को गरम कर उसमें जामन लगा के सुरक्षित स्थान में छींके आदि पर रख देवे।

अगले दिन प्रातः 'यवागू' से अग्निहोत्र करे और ब्रह्मवरण से लेकर कर्म की समाप्ति पर्यन्त पौर्णमास के समान कर्म करे। परन्तु इसमें इतना विशेष है—

अग्निहोत्र के पश्चात् पूर्व दिन के समान ही गायों का दोहन करे। गार्हपत्य के पश्चिम में पहले सायं दोह के पश्चात् प्रातःकालीन दूध धरा जायेगा।।

आग्नेय पुराडाश के लिए हविग्रहण से लेकर पुरोडाश के पाक पर्यन्त तथा यागविधि पूर्ववत् जायें।

सान्नाय्ययाग—सान्नाय्य (दधि-दूध) हवि का इन्द्र देवता है। देवता के एक होने से इन्हें मिला कर एक आहुति दी जाती है। किन्ही शाखाकारों के मत में सान्नाय्य हवि का 'महेन्द्र देवता है।

प्रधान-याग—आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश और अग्नीषोमीय उपांशुयाज की आहुति पूर्ववत् उन्हीं अनुवाक्या और याज्या से दी जायेगी। कई शाखाओं में अग्निषोमीय उपांशुयाज का विधान नहीं है।

ऐन्द्र याग के लिये अनुवाक्या का मन्त्र ऐन्द्रसानसिरयिं (ऋ० १।८।१) तथा याज्या का मन्त्र प्र साहिषे पुरुहूत (ऋ० १०।१८०।१। महेन्द्र पक्ष में अनुवाक्या मन्त्र महां इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१) तथा याज्या का मन्त्र भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान् (ऋ० १०।५०।४) है। ऐन्द्र याग के दधि और पयः जो दो द्रव्य हैं। उन को मिलाकर एक साथ आहुति दी जाती है यह पूर्व कह चुके हैं।

शेष कर्म स्वल्प भेद से पौर्णमासवत् जानना चाहिये।

॥ इति दर्शेष्टिः ॥

सुपर्णचिति सहित सोमयाग

डा० श्री पं० विजयपाल जी विद्यावारिधि

कल्प का अध्ययन

वैदिक वाङ्मय के अध्ययन–अध्यापन में संलग्न विद्वान् इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड को जाने–समझे विना उस प्राचीन वाङ्मय को समझना संभव नहीं है। न केवल संहिता-श्रौत-पूर्वमीमांसा, अपि तु वेदाङ्ग व्याकरण के यथार्थ बोध के लिए वैदिक कर्मकाण्ड का ज्ञान अनिवार्य है। इसी लिए प्रातःस्मरणीय आचार्यवर श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने जहां वेदाङ्ग व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन का मार्ग प्रशस्त किया, वहां वेदाङ्ग कल्प के अनुशीलन को परम्परा का प्रारम्भ भी किया। जिज्ञासु-सम्प्रदाय में शिक्षा व्याकरण-निरुक्त—इन वेदाङ्गों के पश्चात् कल्प के अध्यापन की परम्परा है। कल्प प्रधानतः वैदिक कर्मकाण्ड पर आधृत है। कर्मकाण्ड केवल पुस्तक का विषय नहीं है। जब तक कर्मानुष्ठान का प्रत्यक्षीकरण न हो,तब तक वह सुतराम् हृदयङ्गम नहीं हो पाता। कर्मानुष्ठान सम्बन्धी हजारों ऐसे शब्द हैं, जिनके अर्थज्ञान के विना शास्त्र दुर्बोध होता है। इसीलिए दिवंगत आचार्यवर ने उत्तर भारत में प्रचलित दर्शपूर्णमास आदि यागों के प्रत्यक्ष दर्शन की व्यवस्था कर रखी थी। दुर्भाग्यवश उनके जीवन काल में दक्षिण भारत के ऐसे व्यक्तियों या प्रतिष्ठानों से सम्पर्क नहीं हो सका जिन से अग्न्याधान से चयन पर्यन्त यागों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो सके। विगत कुछ वर्षों में ऐसे सुयोग प्राप्त हुए हैं, जब कि पूज्य आचार्य श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक ने न केवल स्वयं इन जटिल यागों का प्रत्यक्षीकरण किया है, अपि तु इन पङ्क्तियों के लेखक सदृश जिज्ञासु जनों को सत्प्रेरणापूर्वक प्रत्यक्ष बोध का अवसर प्रदान कराया है।

दक्षिण भारत का योगदान

उत्तरभारत में दर्शपूर्णमास को छोड़कर शेष वैदिक कर्मकाण्ड उत्सन्न प्राय है। यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि महाराष्ट्र-आन्ध्र-कर्णाटक-तामिलनाडु-केरल—इन पांच दक्षिण भारतीय राज्यों ने हजारों वर्षों से आज तक वैदिक कर्मकाण्ड को सुरक्षित—जीवित रखा है। वहां सैकड़ों अग्निहोत्री हैं जो बड़े उत्साह एवं श्रद्धा से अग्निहोत्र से लेकर चिति सहित सोमयाग पर्यन्त कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। वहां के ग्रामों में श्रोतियों, ऋत्विजों तथा वेदपाठियों की परम्परा हजारों वर्षों से अक्षुण्ण चली आ रही है। बंगलोर के याग में हमें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि व्यवसाय से व्यापारी, इञ्जीनियर, डाक्टर, अध्यापक तथा प्रशासकीय अधिकारी भी शतशः वेदमन्त्रों का पाठ ऋत्विजों के सुर में सुर मिला कर कर रहे थे! उन की यज्ञशाला वैदिक युग का दृश्य उपस्थित कर रही थी (यह बात अलग है कि यज्ञशाला के बाहर पौराणिक विनायक की प्रतिमा को स्थापित कर के उस की उपासना भी पूर्ण श्रद्धा एवं उत्साह से की जा रही थी)। प्राच्यविद्याविषयक

वैशिष्टय के कारण दक्षिण भारत हमारे लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। इस वर्ष मार्च में जब हमें नान्देड़ (महाराष्ट्र) में १० से २१ अप्रेल तक होनेवाले चितिसहित सोमयाग तथा सौत्रामणी याग के अनुष्ठान की सूचना प्राप्त हुई, तो कई आवश्यक कार्य छोड़ कर भी उस याग तथा कर्म को देखने की उत्कट इच्छा हुई। नान्देड़ जाने पर ज्ञात हुआ कि बंगलोर में १ मई से १४ मई तक एक अन्य सोमयाग सम्पन्न होनेवाला है उसे देखने की इच्छा को भी हम दबा न सके, क्योंकि जहां नान्देड़ में एक सहस्र इष्टकाचयन, सौत्रामणी, पं० विश्वनाथ श्रौती (नेलूर–आंध्र) तथा आपस्तम्बीय विधि आकर्षण का केन्द्र थी, बहां बंगलोर में त्रिसहस्र इष्टकाचयन, पं० रामचन्द्र श्रौती (गोकर्ण – कर्णाटक) तथा बौधायनीय विधि थी। नान्देड़ में पाशुक विधियां आज्य (घी) से अनुष्ठित हुई थीं: जब कि बंगलोर में ये विधियां वास्तविक पशु से होनेवाली थीं—इसी लिए बंगलोर के याग को देखने के लिए मेरा मन व्यग्र हो उठा था। मेरे अभिन्न मित्र श्री पं० व्रतपाल जी शास्त्री (हैदराबाद) भी सृष्टि-विद्या के प्रदर्शनार्थ मेरे साथ बंगलोर गये थे और वहाँ विद्वन्मण्ली पर उनका उत्तम प्रभाव हुआ।

विभिन्न परिस्थियां

हमारी दृष्टि से नान्देड़ एवं बंगलोर के परिपेक्ष्य भिन्न थे। नान्देड़ में पूज्य आचार्य श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक अपने प्रौढ ज्ञान तथा यजमान के साथ प्रगाढ स्नेह के कारण सदा सर्वत्र छाये रहे। उनकी छाया और स्थानीय आर्यसमाज का सहयोग होने के कारण हम से किसी ने विशेष पूछ-ताछ नहीं की। स्वयं यजमान श्री रङ्गनाथ कृष्ण सेलूकर महाराज के सरल तथा उदार स्वभाव के कारण हमें तो क्या, अमेरिकन जिज्ञासुओं को भी कोई कठिनाई नहीं हुई और सब का भोजन एक पङ्क्ति में यजमान के घर पर ही होता रहा था। परन्तु बंगलोर में स्थिति भिन्न थी। भाषा-भूषा-आचार के भेद तथा व्यक्तिश: परिचय के अभाव के कारण हमें प्रत्येक व्यक्ति का सन्देह की दृष्टि से देखना स्वाभाविक था। अतः प्रथम दो दिन हमें इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना पड़ा–को देश: ? किं गोत्रम् ? का शाखा ? किं सूत्रम् ? यागविषयिका सूचना कुतः ? (आप का प्रदेश-गोत्र-शाखा-सूत्र क्या है ? यागविषयक सूचना कैसे मिली ?)। जब यजमान, उन के विद्वान् अनुज, व्यवस्थापक और ऋत्विज् हमारे उत्तरों से सन्तुष्ट हो गये, तो सभी ने उदारता का व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। गोकर्ण-निवासी एक ऋत्विज् पं० दामोदर जोगलेकर ने हमारी बहुत सहायता की, क्योंकि नान्देड़ में उन के चाचा पं० दिनकर शास्त्री जोगलेकर तथा पं० केशव शास्त्री जोगलेकर से हमारा अच्छा परिचय हो गया था और उन्हों ने गोकर्ण जाकर पं० दामोदर जोगलेकर को हमारी सहायता करने का निर्देश दिया था। हम उन के अत्यन्त अनुगृहीत हैं, क्यों कि उन की सहायता के विना हम याग की सम्पूण विधियों को देखने तथा समझने में असमर्थ रहते। कुछ दिन के पश्चात् शास्त्रीय वार्त्तालापों में विद्वानों एवं ऋत्विजों को यह आभास हो गया कि हम दयानन्दीय विचारधारा के पक्षधर हैं। कुम्भघोण के वैष्णव अग्निहोत्री (वैष्णवों में अग्निहोत्री दुर्लभ हैं), संस्कृत तथा अंग्रेजी में यज्ञरहस्यों का उद्घाटन करनेवाले विद्वान् श्री ताताचार्य ने यज्ञशाला में ऋत्विजों के के सम्मुख कहा था—"शङ्कर ने वेदोद्धार के लिए कुछ भी नहीं किया, जब दयानन्द हजारों वर्षों के पश्चात् महान् वेदोद्धारक हुए थे।" आर्यसमाजियों के विषय में उनकी टिप्पणी थी–"वेदप्रचार के क्षेत्र में उसका योगदान अनुपम है, परन्तु विदेशियों के वेदविषयक महान् प्रयास को वे सर्वथा हेय समझते हैं, यह अनुचित है।" श्री ताताचार्य के मतानुसार भारत में धर्मविषयक अनुसन्धान' प्रायनः हीं हुआ है, वाराणसी में वेद तथा वैदिक विधियों के

संरक्षणार्थ कुछ भी नहीं किया, गया, शङ्कर ने दर्शन की नई व्याख्या प्रवश्य की, परन्तु धर्म के लिए उन की कोई देन नहीं।' उन से यह भी ज्ञात हुआ कि अगले वर्ष जनवरी में प्रयाग में त्रिवेणी के समीप किसी ग्राम में सोमयागों की शृङ्खला का आयोजन किया जायेगा।

यागों के भेद

प्राचीन यज्ञ प्रधान भारतीय समाज में प्रायः दो प्रकार के यज्ञ प्रचलित थे। प्रथम—श्रौत यज, जिन का विधान 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में किया गया था, द्वितीय—स्मार्त्त (पाक यज्ञ) जिन का विधान स्मृतियों (गृह्य-धर्म सूत्रों में किया गया था। श्रौत यज्ञों के दो भेद हैं हविर्यज्ञ तथा सोम यज्ञ। दूध-दही-घी-पुरोडाश (जौ या चावल के आटे से बनाई गई बाटी) से सम्पन्न होने वाले याग हविर्यज्ञ कहे जाते हैं जैसे—दर्शपूर्णमास। सोम (वर्त्तमान काल में पूतीक नामक ओषधी) के रस से सम्पन्न होने वाले याग सोम यज्ञ कहे जाते हैं जैसे—अग्निष्टोम। सामगान भी सोमयाग का आवश्यक अङ्ग होता है। सोमयाग के चार भेद हैं - एकाह, अहीन, साद्यस्क तथा सत्र। एक दिन में सम्पन्न होने वाले सोमयाग को एकाह, दो से ग्यारह दिन में होने वाले को अहीन और तेरह दिन से हजार वर्ष तक चलने वाले सोमयाग को सत्र कहते हैं (बारह दिन में होने वाले याग अहीन एवं सत्र दोनों ही हैं)। एकाह की सम्पन्नता में वस्तुतः पांच दिन लग जाते हैं, क्यों कि सोम के अभिषव से पूर्व चार दित तक तैयारी चलती रहती है। यदि संकल्प से लेकर अवभृथ (स्नान) तक सम्पूर्ण कृत्य एक ही दिन में सम्पन्न हों, तो उस एकाह याग को साद्यस्क कहते हैं। एकाह सोम याग की सात संस्थाएं हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, अप्तोर्याम। अग्निष्टोम आदि विशेष सामगानों के नाम हैं, उन में से जो साम किसी एकाह याग में गाया जाने वाला अन्तिम साम होता है, उसी के नाम से वह याग अभिहित होता है। उदाहरणार्थ, जिस एकाह याग का अन्तिम साम यज्ञायज्ञिय (अग्निष्टोम) होता है, वह अग्निष्टोम एकाह सोमयाग कहा जाता है। अग्निष्टोम सब सोम यागों की प्रकृति है अर्थात् अग्निष्टोम के ढांचे में स्वल्प परिवर्त्तन करके अन्यान्य सोम-याग निष्पन्न होते हैं। इन के अतिरिक्त लगभग एक दर्जन 'सव' और राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि भी विशेष प्रकार के सोमयाग हैं। सोमयाग के लिए विशाल देवयजनी (यज्ञशाला) का निर्माण किया जाता है। सामान्यतः यज्ञशाला में समभूमि पर मेखलायुक्त आहवनीय आदि अग्निस्थान बना कर तथा अग्नि स्थापित करके उस में आहुति दी जाती हैं। कभी कभी आहवनीय आदि अग्निस्थलों पर ईंटों से ऊंचा स्थण्डिल (चबूतरा) बना कर, उस पर मेखला बना कर तथा अग्नि स्थापित कर के आहुति दी जाती है। इस प्रकार का स्थण्डिल निर्माण 'चिति' या 'चयन' कहा जाता है। चिति के अनेक प्रकार हो सकते हैं, किन्तु वर्त्तमान काल में 'सुपर्ण चिति या 'श्येनचिति' (उड़ते हुए गरुड़ पक्षी के आकार वाली) प्रचलित है। सचिति सोमयाग में प्राकृत विधियों के अतिरिक्त अनेक वैकृत विधियों का समावेश हो जाता है। नादेड़ में एक हजार ईंटों की चिति सहित अति-रात्र सोमयाग और बंगलोर में तीन हजार ईंटों की चिति सहित अप्तोर्याम सोमयाग सम्पन्न हुआ था[1]। उन सोमयागों का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व यज्ञशाला, स्तोत्रों तथा शस्त्रों का सामान्य परिचय देना आवश्यक है, क्यों कि उस के बिना कृत्यों का यथार्थ बोध होना सम्भव नहीं है।

---

१. सुपर्णचिति तीन चरणों में पूर्ण होती है। प्रथम चिति में एक हजार ईंटों का उरुदघ्न (जांघ के बराबर ऊंचा) चयन होता है। द्वितीय चिति में दो हजार ईंटों का नाभिदघ्न (नाभि जितना ऊंचा) और तृतीय चिति में तीन हजार ईंटों का आस्यदघ्न (मुख तक उंचा) चयन होता हैं।

यज्ञशाला

एक विशाल पाण्डाल का निर्माण किया जाता है जिस की छत शतरंजी (नान्देड़ में) या पत्तों (बंगलोर में) से बनाई जाती है। पाण्डाल के नीचे यथावसर मण्डपों का निर्माण किया जाता है। व्यवहार में पाण्डाल के साथ ही सब मण्डपों का निर्माण कर लिया जाता है और अवसर उपस्थित होने पर उन की नाप आदि का अभिनय कर लिया जाता है। पृष्ठ्या (पूर्व-पश्चिम मध्य रेखा) के पश्चिमी छोर पर पृष्ठ्या के उत्तर तथा दक्षिण समान क्षेत्र को घेर कर एक आयताकार (पूर्व-पश्चिम लम्बा) मण्डप बनाया जाता है, जो प्राग्वंश शाला कहा जाता है। प्राग्वंश शाला में चारों दिशाओं में एक एक द्वार होता है, पश्चिमी द्वार पत्नीशाला में खुलता है जो चटाई आदि से आवृत होती है। पश्चिमी द्वार से पूर्व की ओर पृष्ठ्या पर गार्हपत्य नामक गोलाकार अग्निस्थान, पात्र रखने के गोल स्थान, अन्दर की ओर पिचकी हुई चौकोन वेदि तथा आहवनीय नामक चौकोन अग्निस्थान क्रमशः बनाये जाते हैं। पात्र स्थान के दक्षिण में दक्षिणाग्नि नामक अर्द्ध गोलाकार अग्निस्थान बनाया जाता है; गार्हपत्य तथा आहवनीय के उत्तर में एक एक छोटा गोल खर (मिट्टी डाल कर तीन चार अङ्गुल ऊंचा स्थान) बनाया जाता है, ये दोनों घर्म-खर कहे जाते हैं। पूर्वोत्तर कोने में उच्छिष्ट खर बनाया जाता है। प्राग्वंश शाला के पूर्व में महावेदि का निर्माण किया जाता है। भूमि में ईंटें गाड़ कर या चूने की सफेद रेखा द्वारा महावेदि चिह्नित कर दी जाती है, इस का पश्चिमी छोर पूर्व की अपेक्षा क्रमशः चौड़ा होता जाता है। महावेदि के अन्तर्गत पश्चिम दिशा में सदोमण्डप नामक एक आयताकार शाला (उत्तर-दक्षिश लम्बी), मध्य में हविर्धान मण्डप (पूर्व-पश्चिम लम्बा) और पूर्व दिशा में उत्तर वेदि बनाई जाती है। सदोमण्डप तथा हविर्धान मण्डप में पूर्व एवं पश्चिम दिशाओं में पृष्ठ्या पर एक एक द्वार बनाया जाता है। उत्तर वेदि से पूर्व एक हाथ छोड़ कर (पृष्ठ्या तथा महावेदि की पूर्वी सीमा रेखा के योग स्थान पर) यूपावट (खूंटे के लिए गड्ढा) खोदा जाता है। महावेदि की उत्तरी सीमा रेखा पर सदोमण्डप के सामने आग्नीध्रीय (दक्षिण की ओर द्वार) और दक्षिणी सीमा रेखा पर मार्जालीय (उत्तर की ओर द्वार) नामक स्थान बनाये जाते हैं। आग्निध्रीय से पूर्व पूर्व क्रमशः उत्कर; शामित्र-शाला तथा चात्वाल नामक स्थान बनाये जाते हैं। प्राग्वंशशाला, सदोमण्डप, हविर्धान मण्डप, आग्नीध्रीय तथा मार्जालीय को दो दो मीटर ऊंचे बांस गाड़ कर रस्सियों (बंगलोर में) या बांस की टट्टियों (नान्देड़ में) से घेर दिया जाता है।

स्तोत्र-शस्त्र

स्तोत्र (सामगान) तथा शस्त्र (ऋचाओं का पाठ) सोमयाग के महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। सदोमण्डप के मध्य में गाड़ी गई यजमान की ऊंचाई के समान ऊंची औदुम्बरी (गूलर की मोटी लकड़ी) का स्पर्श करते हुए क्रमशः उत्तर-पश्चिम-पूर्वाभिमुख स्थित उद्गाता-प्रस्तोता-प्रतिहर्त्ता नामक ऋत्विज् विविध प्रकार के स्तोत्रों का गान करते हैं। उन के समीप ही सदोमण्डप में धिष्ण्य नामक खरों के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठे हुए—उत्तर से दक्षिण की ओर क्रमश: अच्छावाक, नेष्टा, पोता, ब्राह्मणाच्छंसी, होता, मैत्रावरुण (प्रशास्ता), ग्रावस्तुत्—सात ऋत्विज् शस्त्र पाठ करते हैं। शस्त्र का आरम्भ करते समय होता आदि ऋत्विज् 'अध्वर्यो शोंसावो३म्' (हे अध्वर्यु हम दोनों शंसन करें) वाक्य बोलता है, जो आहाव कहलाता है। सामने उच्च आसन पर बैठा अध्वर्यु (या प्रति-

प्रस्थाता) उत्तर में 'शोंसामोद इव' (शंसन करो, आमोद होगा) वाक्य बोलता है जिसे प्रतिगर (प्रोत्साहक वचन) कहते हैं। ऋचा के अन्त में होता आदि प्रणव (प्लुत ओम्) का उच्चारण करता है और अध्वर्यु (या प्रतिप्रस्थाता) 'ओमोथामोद इव' प्रतिगर का उच्चारण करता है। अर्द्धर्च की समाप्ति पर अवसान के समय 'ओथामोद इव' प्रतिगर बोला जाता है। शस्त्र की समाप्ति पर 'ओ३म्' प्रतिगर का उच्चारण किया जाता है। स्तोत्र के पश्चात् शस्त्र होता है, अतः किसी सोमयाग में जितने स्तोत्र होते हैं, उतने ही शस्त्र होते हैं। तीन ऋचाओं (योनि) पर एक साम का गान किया जाता है, प्रत्येक ऋचा को तीन पर्यायों में गाया जाता है। गान करते समय किसी एक ऋचा की तीन या अधिक आवृत्ति कर के तीन के स्थान में पांच या अधिक संख्या निष्पन्न कर ली जाती है। इस प्रकार तीन पर्यायों में १५ या उस से अधिक संख्या निष्पन्न हो जाती है। इस प्रकार आवृत्ति से अभीष्ट संख्या निष्पत्ति को स्तोम कहते हैं। कुल नौ स्तोम हैं—त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३), चतुर्विंश (२४), चतुश्चत्वारिंश (४४), अष्टाचत्वारिंश (४८)। गान का आरम्भ प्रस्तोता करता है और प्रत्येक आवृत्ति के अन्त में स्मृति के लिए एक कुशा (छोटी लकड़ी) अपने सामने रख देता है। नान्देड़ के अतिरात्र याग में २९ स्तोत्र, २९ शस्त्र तथा छह स्तोमों (९,१५, १७, २१, २७, ३३) का प्रयोग हुआ। ये छह स्तोम पृष्ठ नाम से प्रसिद्ध हैं, अतः वह याग सर्वपृष्ठ था। बंगलोर के अप्तोर्याम सोमयाग में ३३ स्तोत्र, ३३ शस्त्र तथा सभी नौ स्तोमों का प्रयोग हुआ, अतः वह याग सर्वस्तोम था।

उखा-सम्भरण—दीक्षा

उपर्युक्त पूर्वपीठिका के पश्चात् साग्निचित्य सोमयाग का विवरण आरम्भ होता है। सोमयाग का अनुष्ठान वसन्त ऋतु (अप्रेल-मई) में होता है। यद्यपि प्रथम तीन दिन के कृत्य घर पर ही सम्पन्न किये जा सकते हैं, तथापि सुविधा के लिए देवयजनी के समीप एक मण्डप में पञ्चाग्नि स्थल—गार्हपत्य-दक्षिण-आहवनीय-सभ्य-आवसथ्य—निर्माण कर के, घर की अग्नियों से समारोपित अरणियों के मन्थन द्वारा गार्हपत्य से आहवनीय का अन्वाधान किया जाता है। पहले दिन प्रातः साग्निचित्य सोमयाग के संकल्प के पश्चात् ऋत्विजों का वरण किया जाता है। मुख्य ऋत्विजों के चार गण होते हैं और प्रत्येक गण में चार चार ऋत्विज् होते हैं—

अध्वर्युगण	होतृगण	उद्गातृगण	ब्रह्मगण
१. अध्वर्यु	१. होता	१. उद्गाता	१. ब्रह्मा
२. प्रतिप्रस्थाता	२. मैत्रावरुण	२. प्रस्तोता	२. ब्राह्मणाच्छंसी
३. नेष्टा	३. अच्छावाक	३. प्रतिहर्ता	३. आग्नीध्र
४. उन्नेता	४. ग्रावस्तुत्	४. सुब्रह्मण्य	४. पोता

इन के अतिरिक्त, सोमयाग का निमन्त्रण देनेवाले सोमप्रवाक, सदस्य तथा दस चमसाध्वर्युओं (चमस=काष्ठ के चौकोन पात्र से आहुति देनेवाले) का भी वरण किया जाता है। वरण के पश्चात् सबको पञ्च-पात्र, वस्त्र-युगल तथा मधुपर्क दे कर सम्मानित किया जाता है। इस के पश्चात् उखा-सम्भरण नामक विधि आरम्भ होती है।

कुण्डे के आकार वाले, मिट्टी के उखा नामक पात्र के निर्माण, पाक, प्रवृञ्जन (तपन) आदि विधियों को उखासम्भरण कहा जाता है। अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा यजमान घोड़े को आगे, उस के पीछे गधे को मिट्टी खोदने के गड्ढे के पास ले जाते हैं। घोड़े से मिट्टी पर पैर रखवा कर, पाद-स्थल पर स्वर्ण रख कर, उस पर घृत की आहुति दे कर, वहीं से मिट्टी खोद कर, मिट्टी को कमल के पत्ते पर रख कर, मिट्टी सहित कमलपत्र को काले मृग के चर्म में लपेट कर, मूंज की रस्सी से बांध कर, गधे की पीठ पर रख कर, पूर्ववत् अश्वपूर्व गधे को वापिस ले जाते हैं। विहार (मण्डप) के उत्तर में इस लाई हुई मिट्टी में घड़े के टुकड़े, बांस की भस्म, तूड़ा, पलाश का कषाय, कंकड़, मृग एवं बकरी के बाल आदि दृढ करनेवाले पदार्थ मिलाकर यजमान या अध्वर्यु उखा का निर्माण करता है। उसी मिट्टी से अषाढा नामक ईंट का निर्माण किया जाता है। उखा एवं ईंट का धूपन कर के, गार्हपत्य के समीप गड्ढा खोद कर, उस गड्ढे में गार्हपत्य की अग्नि से उखा एवं ईंट का पाक किया जाता है और बकरी के दूध से उखा का सेचन कर के उस को चिकना कर दिया जाता है। वस्तुतः उखा पहले से तैयार रहती है, संस्कार मात्र के लिए पूरा अभिनय किया जाता है। इस के पश्चात् वायु देवता के लिए पशुयाग किया जाता है (नान्देड़ में आज्य पशु अर्थात् घृत से पाशुक विधियाँ की गईं। बंगलोर में हम विलम्ब से पहुंचने के कारण तीन दिन की विधियों को नहीं देख सके)। इस पशु के सिर का उपयोग अग्निचयन में किया जाता है (यह बंगलोर में नहीं हुआ)। सायंकाल पर्वत शिखर से सोमलता लाई जाती है (हम उस का आनयन नहीं देख सके)।

उसी दिन दीक्षणीयेष्टि होती है। घृत-पुरोडाश-चरु (तरलभात) आदि द्रव्यों से अग्नि आदि देवों को उद्देश कर के आहवनीय में आहुति देने का नाम इष्टि है। ऐसी सभी इष्टियों की प्रकृति (= नमूना) दर्श पूर्णमास इष्टि है, जिस में हवि का निर्वाप, कण्डन, पेषण, पाक, प्रयाज, प्रधान याग, अनुयाज, पत्नीसंयाज आदि अनुष्ठान होते हैं। दीक्षणीयेष्टि में वैश्वानर अग्नि के लिए बारह कपालों (मिट्टी के छोटे छोटे गोल ठीकरों) पर पकाया हुआ पुरोडाश, अग्नि-विष्णु के लिए ग्यारह कपालों पर पका हुआ पुरोडाश और अदिति के लिए चरु की आहुति दी जाती हैं। पत्नीसंयाज तक अनुष्ठान कर के प्राग्वंशशाला का निर्माण किया जाता है (यह पहले से ही निर्मित होती है)। उस के उत्तर में यजमान तथा पत्नी का क्षौर-स्नान-वस्त्रपरिधान होता है (पत्नी का क्षौर नहीं होता)। जल में दीक्षाहुति दे कर यजमान मृगचर्म, मृगशृङ्ग-पगड़ी-दण्ड धारण करता है और यजमान-पत्नी सिर पर जाली तथा कटि में योक्त्र (मूंज की रस्सी) बांधती है। यजमान मुठ्ठी बांध लेता है। उस समय तीन बार उपांशु और तीन बार उच्च स्वर से घोषणा करता है—यह ब्राह्मण (क्षत्रिय तथा वैश्य यजमान के लिए भी ब्राह्मण शब्द ही प्रयुक्त होता है) अमुक शर्मा दीक्षित हो गया (दीक्षित की पिछली तीन और अगली एक पीढ़ी के नामों का भी उच्चारण किया जाता है)। अब यजमान रात्रि में तारों के उदय होने तक मौन रहता है।

रात को आहवनीय के ऊपर उखा को रख कर उस में जलने योग्य मूंज आदि के तिनके या सूखे हुए गोबर का चूर्ण डाल कर उस का, प्रवृञ्जन (प्रतपन) किया जाता है। उखा के तप्त होने पर उस में स्थित तिनकों में अग्नि उत्पन्न हो जाती है' जिस को उख्य अग्नि कहते हैं। उख्य अग्नि के प्रज्वलित होने पर आहवनीय अग्नि बुझा दी जाती है। उख्य अग्नि की उपासना कर के, मूंज की रस्सी से बने छींके में अग्नि-युक्त उखा

को रख कर, गले में सुवर्ण पहिन कर यजमान छींके के फांसे को गले में पहिन कर, कृष्णमृग-चर्म को कन्धों पर डाल कर, उख्य अग्नि को [ऋत्विजों की सहायता से] नाभि से ऊपर धारण करके चार विष्णु-क्रम (चार पद) पूर्व की ओर चलता है। तदनन्तर वह प्रदक्षिणा कर के सुवर्ण,मृगचर्म तथा छींके को उतार कर, उख्य अग्नि को गूलर की आसन्दी पर रख कर, उस में समिधा डाल कर उपासना करता है। इसके पश्चात् यजमान के लोग वहां उपस्थित पुरुषों से यज्ञोपयोगी द्रव्यों की याचना करते हैं। यजमान तथा उस की पत्नी व्रत (गोदुग्ध) का पान करके रात्रि जागरण करते हैं। दूसरे और तीसरे दिन भी दीक्षा-स्थिति रहती है (बंगलोर में वायव्य पशु विधि रात को की गई, अतः वहां एक दिन अधिक लगा)। इन दिनों में यजमान पर्याय से उपस्थान तथा विष्णु-क्रम का अनुष्ठान करता है और दिन में तीन बार व्रतपान करता है।

गार्हपत्यचिति-उख्याग्निस्थापन

चौथे (बंगलोर में पांचवें) दिन पत्नीसहित यजमान विष्णुक्रम तथा उपस्थान कर के, उख्यगार्हपत्य-दक्षिण अग्नियों को गाड़ी में रखकर देवयजनी में ले जाता है। प्राग्वंशशाला में गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि स्थापित की जाती हैं और उख्य अग्नि गार्हपत्य के पूर्व में रख दी जाती है। गार्हपत्यस्थान (पूर्वद्वार के समीप स्थित आहवनीय) का संस्कार कर के गार्हपत्यचयन किया जाता है। प्रथम प्रस्तार (रद्दे) में पूर्व-पश्चिम सात-सात ईंटें तीन रीतियों (पङ्क्तियों) में, द्वितीय प्रस्तार में उत्तर दक्षिण तीन-तीन ईंटें सात रीतियों में रखी जाती हैं। इस प्रकार प्रथम-तृतीय-पञ्चम प्रस्तार का चयन एक समान होता है और द्वितीय-चतुर्थ प्रस्तार समान होते हैं। गार्हपत्यचित्या चार हाथ समचौरस होती है। प्रथम गरुडचयन(आहवनीय चित्या)में पांच प्रस्तार, द्वितीय में दस प्रस्तार और तृतीय (तथा इससे अधिक) में पन्द्रह प्रस्तार होते हैं। ईंटों की मोटाई छह अङ्गुल होती है। इस प्रकार गरुड (आहवनीय चित्या) की ऊंचाई प्रथम चयन में घुटने तक, दूसरे में नाभि तक और तीसरे (तथा-उस से आगे) में मुख तक होती है। जैसे जैसे गरुड का प्रमाण (ऊंचाई) बढ़ता जाता है, वैसे वैसे गार्हपत्य-चित्या का प्रमाण घटता जाता है। अतः प्रथम चयन में गार्हपत्यचित्य का प्रमाण पांच प्रस्तार, द्वितीय में तीन प्रस्तार और तृतीय (तथा इस से अधिक) में एक प्रस्तार रह जाता है। नान्देड़ में प्रथम चयन था, अतः गरुड तथा गार्हपत्य के पांच पांच प्रस्तार थे। बंगलोर में तृतीय चयन था, अतः गरुड के पन्द्रह तथा गार्हपत्य का केवल एक प्रस्तार था। चयन के पश्चात् गीली मिट्टी से जोड़ों पर लेप कर दिया जाता है। गार्हपत्य के ऊपर (बीच-में) तीन तीन ईंटों की मेखला (नान्देड़ में) बना कर अथवा मेखला के विना (बंगलोर में) ही उख्य अग्नि का स्थापन कर दिया जाता है और उस पर समिधा रख कर अग्नि प्रज्वलित कर दी जाती है। इसके पश्चात् अध्वर्यु-ब्रह्मा-यजमान उखा को दही-मधु-बालू से भर कर, छींके से पृथक् कर के, छींका-रिक्तउखा-आसन्दी-तीन कालो ईंटों को लेकर दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर दूर जाते हैं और इन वस्तुओं को रख कर बिना पीछे की ओर देखे लौट आते हैं।

प्रायणीयेष्टि-सोमक्रय-आतिथ्येष्टि

अब सोमयाग का आरम्भ होता है। उस के लिये प्रायणीय (=आरम्भीय) इष्टि की जाती है। आहव-नीय (जहां उख्य अग्नि स्थापित की गई थी) में चारों दिशाओं में क्रमशः पथ्या-स्वस्ति-अग्नि-सोम-सविता को

आज्य की और बीच में अदिति को ओदन (भात की) आहुति दी जाती है। ओदनवाले पात्र को विना धोये ऊपर छींके में लटका दिया जाता है, अन्त में उदयनीय इष्टि के लिए हवि (भात) इसी में पकाई जाती है। इस के पश्चात् महावेदि बनाई जाती है (वस्तुत:यह पहले से ही निर्मित होती है, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है)। तदनन्तर सोमक्रय होता है। सोमलता के छोटे छोटे टुकड़े (अंशु) कर के, वस्त्र में बांध कर, सोमविक्रयी (अनपढ़ ब्राह्मण या शूद्र) को दे कर सौदा किया जाता है। अध्वर्यु—सोमविक्रयी से पूछता है—सोम बेचना है? वह उत्तर देता है—हां बेचना है। अध्वर्यु—गौ से खरीदूं? सोमविक्रयी—सोम राजा इस से अधिक मूल्यवान् है। फिर सोना, अजा, धेनु, बछड़ेवाली धेनु, ऋषभ, गाड़ी के बैल, जवान बैल, जवान बछिया, वस्त्र—इन द्रव्यों से सौदा किया जाता है। अन्त में सोम लेकर सोमविक्रयी से सभी वस्तुएं छीन ली जाती हैं (नान्देड़ में यह नाटक हुआ, बङ्गलोर में नहीं)। सोम को हविर्धान (गाड़ी) में रख कर, बैल जोड़ कर, गाड़ी को प्राग्वंशशाला के पूर्व तक लाकर आतिथ्येष्टि की जाती है। इस में विष्णु देवता को नवकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। सोम राजा को गाड़ी से उतार कर, आहवनीय के दक्षिण में रखी हुई राजासन्दी पर रख दिया जाता है।

उत्तरवेदिमान-कर्षण-वपन-तानूनप्त्र-सोमाप्यायन

इस के पश्चात् उत्तरवेदि के ऊपर वेणुदण्ड-कील-रज्जु की सहायता से पंखों को फैला कर उड़ते हुए गरुड पक्षी का आकार (आत्मा-दक्षिणपक्ष-उत्तरपक्ष-पुच्छ-सिर) भूमि पर बनाया जाता है। गरुड का प्रमाण उत्तर-दक्षिण ६१५ अङ्गुल तथा पूर्व-पश्चिम ३६० अङ्गुल होता है, जो सार्धसप्तविध (क्षेत्रफल साढे सात पुरुष) कहलाता है(बङ्गलोर में क्षेत्रफल लगभग आधा कर दिया गया था, तदनुसार ईंटें भी छोटी थी)। इस प्रकार बने क्षेत्र पर अध्वर्यु छह बैल युक्त हल से कर्षण (१२ रेखाएं) करता है (बंगलोर में अध्वर्यु ने खिलौना-हल से १२ रेखाएं खींच दी थीं)। रेखाओं पर जल छिड़क कर सात ग्राम्य ओषधि—तिल-उड़द-जौ-धान-प्रियङ्गु-अणु-गेहूं—और विना जुती हुई भूमि में सात आरण्य ओषधि—वेणु-श्यामाक आदि जो उपलब्ध हो—बोई जाती है। बालू छिड़क कर भूमि को समतल कर दिया जाता है। यजमान तथा उस की पत्नी को व्रतपान कराने के पश्चात् तानूनप्त्र विधि की जाती है। एक कटोरे में घृत रखा जाता है, सभी ऋत्विज् तथा यजमान तृण द्वारा उस (घृत) का स्पर्श करते हैं। इस तानूनप्त्र विधि का प्रयोजन है—याज्ञिक अनुष्ठानों में पारस्परिक अविरोध की प्रतिज्ञा। तदनन्तर ऋत्विज एवं यजमान सोमाप्यायन—कोष्ण (कोसे) जल से सोम का सेचन—करते हैं। इस के पश्चात् प्रवर्ग्यनामक विधि का उपक्रम होता है।

प्रवर्ग्य

सोम याग में इस विधि का समावेश सम्भवत: अर्वाचीन है। कारण—तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मण में इस के मन्त्रों का संग्रह नहीं किया गया है, तैत्तिरीय आरण्यक में है। मैत्रायणी तथा शुक्ल याजुष शाखाओं में भी स्वतन्त्र रूप से मन्त्र एवं विधि का पाठ है। श्रौत सूत्रों में भी सोमयाग के अन्तर्गत प्रवर्ग्य को समाविष्ट न करके स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया गया है। परन्तु प्रयोग में यह विधि सोमयाग के अङ्ग के रूप में अनुष्ठित

होती है। इस के लिए महावीर (= सम्राट् = घर्म) नामक मिट्टी के सुदृढ पात्र की आवश्यकता होती है, इस के निर्माण को 'घर्मसम्भरण' कहते हैं। व्यवहार में यद्यपि पूर्व निर्मित पात्र का प्रयोग होता है, तथापि निर्माण-संस्कार की विधि इस प्रकार है—पूर्व की ओर गड्ढे के पास जा कर, अभ्रि (नोकदार डण्डे) से मिट्टी खोद कर, घोड़े को सुंघा कर, मिट्टी के ऊपर बकरी का दूध दुह कर, वह मिट्टी विहार के उत्तर में लाकर रखी जाती है। वहां उस में सूअर के द्वारा खोदी गई मिट्टी, दीमक की मिट्टी, पूतीक, बकरी तथा मृग के बाल और लोहे का चूर्ण आदि दृढकारक पदार्थ मिला कर, उष्ण जल से गूंद कर तीन महावीर पात्र बनाये जाते हैं। यह पात्र लगभग बीस सेंटीमीटर ऊंचा, तीन स्थलों पर दबा-उभरा हुआ, गोल (बैठे हुए तुन्दिल मनुष्य अथवा ऊपर-नीचे रखी तीन छोटी छोटी घटिकाओं के समान) तथा बिलयुक्त होता है। उसी मिट्टी से हाथी के ओष्ठ के आकार वाले दो दोहन पात्र, एक आज्यस्थाली (घृतपात्र) और पीठ पर बने गोल कपाल वाले दो घोड़े भी बनाये जाते हैं (व्यवहार में ये सभी पात्र पूर्व निर्मित होते हैं)। गार्हपत्य के पूर्व में गड्ढा खोद कर उखा के समान इन पात्रों को पका कर, बकरी के दूध से चिकना किया जाता है। इन के अतिरिक्त प्रवर्ग्य में प्रयुक्त होनेवाले पात्र हैं—मूंज की रस्सी से बुनी हुई गूलर की सम्राडासन्दी (यह राजासन्दी से कुछ ऊंची होती है और प्राग्वंशशाला में उस से पूर्व दिशा में रखी जाती है), दो गर्त्त (बिल) सहित तथा दो गर्त्तरहित जुहू, दो शफ (दो लम्बे काष्ठ जो मध्य भाग में इस प्रकार गोल कटे होते हैं जिस से दोनों ओर रख कर तप्त महावीर को पकड़ कर उठाया जा सके। बंगलोर में इनको संडसी का रूप दे दिया गया था), दो धृष्टि (अङ्गार हटाने के लिए लकड़ी के पलटे), तीन धवित्र (काले मृगचर्म से बने हुए पंखे), दो रुक्म (एक सोने और एक चांदी का गोल पत्र), खूंटे, रस्सियां तथा मूंज।

आग्नीध्र रौहिण कपालों (बंगलोर में कपालयुक्त मिट्टी के अश्व नहीं थे) पर गार्हपत्य में दो पुरोडाश पकाता है और अध्वर्यु मूंज जलाकर गार्हपत्य के उत्तर में निर्मित खर के ऊपर रखता है। उस अग्नि पर चांदी का रुक्म रख कर, उस पर महावीर रख कर, उस में घी भर कर, सोने के रुक्म से उस का मुख ढक दिया जाता है। अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-आग्नीध्र धवित्रों से हवा करते हुए, अग्नि को प्रज्वलित रखते हुए महावीर का प्रवृञ्जन (प्र. पन) करते हैं। साथ ही समीप बैठे हुए, होतृगण तथा उद्गातृगण शस्त्रपाठ एवं स्तोत्रगान करते हैं। महावीर के तप्त हो जाने पर, प्राग्वंशशाला के दक्षिण में बंधी गौ को अध्वर्यु और बकरी को प्रतिप्रस्थाता दुहता है (बंगलोर में वास्तविक गौ तथा बकरी नहीं थी)। दोनों दुहे हुए दूध को आग्नीध्र को दे देते हैं और शाला में अध्वर्यु दोनों दुग्धों को आग्नीध्र से ले कर, उपयमनी (लम्बी जुहू) के द्वारा तप्त महावीर में डालता है, जिस से सहसा महाज्वाला उत्पन्न होती है। यह कर्म प्रवर्ग्य कहा जाता है। प्रतिप्रस्थाता दक्षिण रौहिण पुरोडाश को बिलरहित जुहू पर रख कर आहवनीय में आहुति देता है। अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता शफों में महावीर को फंसा कर, उन को दोनों ओर से पकड़कर महावीरस्थ घृत-दुग्ध की आहुति अश्वियों तथा इन्द्र के लिए आहवनीय में देते हैं। पुन: शेष की आहुति स्विष्टकृत् अग्नि को दे कर, महावीर को दही-घृत से भर कर, आहुति दे कर, बचे हुए दही-घी को वेदिस्थ जुहू में डाल कर, महावीर को शफ सहित पूर्वो खर पर रख देते हैं। प्रतिप्रस्थाता उत्तर रौहिण पुरोडाश की आहुति पूर्ववत् आहवनीय में देता है। अध्वर्यु छह शकल होम तथा अग्निहोत्र कर के होता-ब्रह्मा-यजमान के साथ हविःशेष भक्षण करता है। प्रवर्ग्य-सम्बन्धी सभी पात्र सम्राडासन्दी पर रख दिये जाते हैं।

उपसद्-सुब्रह्मण्याह्वान

पौर्वाह्णिक प्रवर्ग्य के अनुष्ठान के पश्चात् उपसद् नामक इष्टि की जाती है। इस में अग्नि, सोम तथा विष्णु देवताओं को आज्य की आहुति दी जाती है और उपांशु (मन्द स्वर से) प्रयोग होता है। इस के पश्चात् सुब्रह्मण्याह्वान (सोमपान के लिए सुब्रह्मण्या=इन्द्र का आह्वान) होता है। इस अनुष्ठान का प्रधान कर्त्ता सुब्रह्मण्य नामक ऋत्विज होता है। अन्य ऋत्विज् भी इस में भाग लेते हैं,'सुब्रह्मण्या'नामक निगद के पाठ के साथ अमुक का पुत्र, पौत्र,प्रपौत्र 'अमुक शर्मा यजते' आदि वाक्य बोलते हैं और सुब्रह्मण्य से प्रसाद प्राप्त करते हैं।

सुपर्ण (श्येन=गरुड) चिति

उसी (चौथे बंगलोर में पांचवें) दिन अपराह्ण में प्रथम चिति का आरम्भ होता है। अध्वर्यु-ब्रह्मा-यजमान घोड़े के पीछे चलते हुए चिति स्थल पर जाते हैं (नान्देड़ में अश्व सम्बन्धी विधियां वास्तविक अश्व द्वारा सम्पन्न हुई थीं, परन्तु बंगलोर में लकड़ी के खिलौने अश्व से निर्वाह कर लिया गया)। गरुडाकारचिति स्थल के मध्य में दर्भस्तम्ब (मुट्ठी भर दर्भ) को गाड़ कर, उस पर घोड़े का अगला पैर रखवा कर पद-चिह्न पर पद्मपत्र रख कर, उस पर रुक्म (सोने का गोल पत्र) रख कर, उस पर सुवर्णमयी पुरुष प्रतिमा (पूर्व की ओर सिर, ऊपर की ओर मुख) रख कर, उस पर स्वयमातृण्णा (स्वतः छिद्र युक्त) ईंट (कंकड़) रख कर, उस के दक्षिण में घृतपूर्ण जुहू तथा उत्तर में दधिपूर्ण जुहू रख कर, एक ईंट अनपढ ब्राह्मण से रखवाई जाती है। उस के पश्चात् पूर्वोक्त वायव्य पशु का सिर (नान्देड़ में सुवर्ण शकल युक्त आज्य, बंगलोर में मिट्टी के बने हुए मनुष्य-अश्व-गौ-भेड़-बकरी के सिर क्रमशः मध्य-पूर्व-पश्चिम-दक्षिण-उत्तर दिशाओं में रखे गये), जीवित कच्छवा (नान्देड़ में सुवर्णमयी प्रतिमा),औषधियों (अन्नों) से पूर्ण ओखली, मूसल तथा सर्प का सिर (चांदी की प्रतिमा) रख कर यथाविधि ईंटों का उपधान किया जाता है। व्यवहार में मध्य भाग (आत्मा) को छोड़कर ईंटें जमा दी जाती हैं। मध्यभाग को खोदकर गहरा कर दिया जाता है,उस के पश्चात् ऊपर वर्णित वस्तुएं रखी जाती हैं और स्थान को मिट्टी से समतल कर के ईंटें रखी जाती हैं। इस प्रकार सभी ईंटों का तल समान रहता है। व्यवस्थित रूप से रखी प्रत्येक ईंटों पर उपधान क्रम के अनुसार अङ्गुलि रख रख कर अध्वर्यु उपधान मन्त्र बोलता है और पहिचान के लिए उस पर सिक्का, चूना या भस्म रख देता है। पहले यजुष्मती (यजुर्मन्त्रों द्वारा उपधान) ईंटें रख कर लोकम्पृणा (यजुर्मन्त्ररहित) ईंटों से शेष स्थान भर दिया जाता है (सादन-सूददोहस मन्त्र सभी के लिए प्रयुक्त होते हैं)। प्रत्येक प्रस्तार में दो सौ ईंटें रखी जाती हैं। यजुष्मती ईंटों के उपधान की प्रक्रिया जटिल है, श्रौती जन प्राचीन (अमुद्रित) कारिकाओं की सहायता से उपधान करते हैं। छह प्रकार की ईंटों का प्रयोग किया जाता है जो आकार में तिकोन-चौकोन-पञ्चकोन तथा षट्कोण होती हैं और ५-३० किलोग्राम तक भारी होती हैं। प्रथम चिति के पश्चात् आपराह्णिक प्रवर्ग्य,उपसद् तथा सुब्रह्मण्याह्वान होता है और सफेद घोड़े का परिणयन (भ्रमण) किया जाता है। इस के पश्चात् यजमान-दम्पती का व्रतपान एवं रात्रिजागरण होता है। इस प्रकार अगले चार दिन तक दीक्षामन्त्रजपादि, प्रातःसायं प्रवर्ग्य-उपसद्, सोमाप्यायन तथा सुब्रह्मण्याह्वान होता रहता है और प्रतिदिन एक प्रस्तार (बंगलोर में तीन प्रस्तार) का चयन होता है। नवें दिन (बंगलोर में दसवें दिन) दीक्षामन्त्रजपादि, प्रातः प्रवर्ग्य-उपसद्, सोमाप्यायन तथा सुब्रह्मण्याह्वान के पश्चात् पञ्चमचिति कशेष

उपधान करके उसी समय सायं प्रवर्ग्य-उपसद् (बंगलोर में उभयकालिक प्रवर्ग्य-उपसद् कर के पञ्चमचिति का शेष उपधान हुआ), सोमाप्यायन तथा सुब्रह्मण्याह्वान किया जाता है।

शतरुद्रियहोम-विकर्षण

चयन किये गये स्थण्डिल का स्पर्श कर के आज्य तथा सुवर्ण के एक हजार कणों से चारों ओर प्रोक्षण किया जाता है। इस के बाद शतरुद्रिय होम का अनुष्ठान किया जाता है (धर्मभीरु जनता इस कृत्य का दर्शन बड़ी श्रद्धा-भक्ति से करती है)। अध्वर्यु उत्तरपक्ष के उत्तर पश्चिमकोण में रखी गई अन्तिम इंट के ऊपर बकरी के दूध को आक के पत्ते से निरन्तर गिराते हुए होम करता है। शतरुद्रिय ('नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यादि मन्त्रों से) के पहले तृतीय अंश के पाठ तक आक के पत्ते को घुटने की ऊंचाई पर, दूसरे तृतीयांश के पाठ तक नाभि की ऊंचाई पर और तीसरे तृतीयांश के पाठ तक मुख की ऊंचाई पर धारण किया जाता है। उसी इंट पर रुद्र देवता को चरु (पतीला भर भात) की आहुति भी दी जाती है। इस के पश्चात् धनुष-बाण-धारी रुद्र का उपस्थान किया जाता है। अध्वर्यु तीन बार स्थण्डिल के चारों ओर जल सेचन कर के,एक बांस में बेंत की शाखा, शैवाल तथा मेंढक बांध कर स्थण्डिल के ऊपर विकर्षण (घसीटना) करता है। नान्देड़ में बेंत के अभाव में पलाश की शाखा तथा चांदी के मेंढक का प्रयोग किया गया। बंगलोर में मेंढक को बांधा नहीं गया, अपि तु स्थण्डिल के ऊपर उछलने के लिए छोड़ दिया गया)। तदनन्तर पृष्ठ नामक साम से अध्वर्यु-यजमान-प्रस्तोता चिति का उपस्थान करते हैं। इस प्रकार चिति कर्म सम्पन्न होता है। (नान्देड़ में चिति के ऊपर बीच में तीन इंटों की मेखला बनाकर अग्निस्थान बना दिया गया था, बंगलोर में ऐसा नहीं किया गया)।

प्रवर्ग्योद्वासन-अग्निप्रणयन-वैश्वानर-मारुत-वसोर्धाराहोम-यजमानाभिषेक

इस के पश्चात् प्रवर्ग्य का उद्वासन किया जाता है। प्रवर्ग्य की सम्पूर्ण सामग्री—दोनों खरों की मिट्टी तथा सम्राडासन्दी सहित सभी पात्र—उठाकर चिति के ऊपर बीच में डाल दिये जाते हैं। तब आहवनीय में होम कर के, यजमान के साथ अध्वर्यु चिति पर चढ़ कर घृत से व्याघारण कर के, नीचे उतर जाता है। अध्वर्यु प्राग्वंशशाला स्थित आहवनीय में से जलते हुए अङ्गारों को मिट्टी के पात्र में ले कर, आग्नीध्रीय तक जाकर, वहां एक सफेद पत्थर रख कर,चिति की पुच्छ के समीप जाकर प्रतिप्रस्थाता को अग्नि दे कर, चिति पर चढ़कर, प्रतिप्रस्थाता से अग्नि ले कर स्वयमातृण्णा(स्वयं छिद्रवाली)इंट पर प्रतिष्ठापित कर देता है। अब इस (चितिस्थ) अग्नि की संज्ञा आहवनीय, प्राग्वंशशालीय आहवनीय की संज्ञा गार्हपत्य और प्राकृत गार्हपत्य की संज्ञा प्राजहित हो जाती है। वैश्वानरेष्टि का आरम्भ कर के, साथ ही सात मरुतों के लिए निर्वाप आदि किया जाता है और वैश्वानर याग के पश्चात् मारुत होम किया जाता है। इस के बाद वसोर्धारा होम किया जाता है। गूलर की लकड़ी से निर्मित विशाल जुहू के अग्रभाग को गीली मिट्टी से पोत कर, जुहू को लम्बी बल्लियों की सहायता से ऊंची स्थिर कर के 'वाजश्च मे' इत्यादि मन्त्रों से ऊपरी बिल में निरन्तर घृत डाला जाता है जो धारा के रूप में आहवनीय में गिरता रहता है। इस के पश्चात् वाजप्रसवीय होम होता है। पूर्वोक्त सात ग्राम्य तथा सात प्र.२०५ ओषधियों (अन्नों)का यवागू (तरलभात) पका कर, पृथक् पृथक् आहुति दी जाती हैं। आहुति के साथ यवागू का थोड़ा थोड़ा अंश अन्य पात्र में डालते जाते हैं और उस से दक्षिण पक्ष के समीप गूलर की आसन्दी पर कृष्णाजिन

(काले मृग का चर्म) बिछाकर बैठाये गये यजमान का अभिषेक किया जाता है। तदनन्तर राष्ट्रभृत् होम तथा नौ अन्य आहुतियां दी जाती हैं।

सोमप्रणयन-उपरवनिर्माण-धिष्ण्यचयन

प्राग्वंशशाला में राजासन्दी पर रखे हुए सोम को दो गाड़ियों में रख कर हविर्धानमण्डप में ले जाया जाता है। दोनों गाड़ियां हविर्धानमण्डप में उत्तर तथा दक्षिण की ओर पूर्वाभिमुख खड़ी की जाती हैं (बंगलोर में खिलौना गाड़ियां रखी गई थीं)। दक्षिण गाड़ी के नीचे उपरव (चार मुख वाले दो बिल) इस प्रकार बनाये जाते हैं कि उत्तर-पूर्व उपरव भूमिस्थ बिल के द्वारा दक्षिण-पश्चिम से और दक्षिण-पूर्व उपरव भूमिस्थ बिल के द्वारा उत्तर-पश्चिम से सम्बद्ध रहे (बंगलोर में उत्तर-पूर्व उपरव दक्षिण-पूर्व से और दक्षिण-पूर्व उपरव दक्षिण-पश्चिम से—इसी प्रकार चारों सम्बद्ध थे)। सोम के अभिषव (निचोड़ना) के लिए इन उपरवों पर दो जुड़े हुए अधिषवण फलक (लकड़ी के तख्ते) रखे जाते हैं। फलकों पर गोचर्म तथा उस पर पत्थर की भारी खरल एवं कूटने का बट्टा(ग्रावा)रखे जाते हैं(बंगलोर में उपरवों के ऊपर बिना जुड़े दो तख्ते रख कर, छह शङ्कु गाड़ कर कस दिये गये थे। गोचर्म पर परात जैसा बड़ा धातुपात्र रखा गया था और साधारण पत्थरों से परात में सोम कूटा जाता था। अभिषव के पश्चात् राजासन्दी को उपरवों पर रख कर, उस के ऊपर शेष सोम रख दिया जाता था)। हविर्धानमण्डप के दक्षिण-पूर्व कोने में खर बना कर, उस पर ग्रह-स्थाली चमस आदि पात्र रखे जाते हैं। उस के बाद धिष्ण्यों का चयन (एक प्रस्तार) किया जाता है—आग्नीध्रीय में पूर्व स्थापित सफेद पत्थर के अतिरिक्त आठ ईंटें, होत्रीय में बारह, ब्राह्मणाच्छंसीय में ग्यारह, मार्जालीय में छह और मैत्रावरुणीय (प्रशास्त्रीय)-नेष्ट्रीय-पोत्रीय-अच्छावाकीय में आठ-आठ ईंटें रखी जाती हैं। इन के अतिरिक्त ब्रह्मा के आसन-चात्वाल-शामित्र-अवभृथ स्थलों पर भी आठ-आठ ईंटों का उपधान किया जाता है। उपधान के पश्चात् सभी चयन किये हुए स्थलों को गीली मिट्टी से लीप दिया जाता है। इस के पश्चात् अग्नीषोमीय पशु-तन्त्र किया जाता है (नान्देड़ में घड़े में घी भर कर पाशुक विधि सम्पन्न हुई)।

अग्नीषोमीय पशु-तन्त्र

बंगलोर में अग्नीषोमीय पाशुक विधि की गई, परन्तु लोकापवाद के भय से यह विधि रात के डेढ़ बजे से तीन बजे तक सम्पन्न हुई। दर्शपूर्णमास के समान पात्रों का प्रोक्षण तथा आज्य आदि का स्थापन करके गरुड-चिति (आहवनीय) के सिर से एक हाथ पूर्व गड्ढा खोद कर, आज्य से अञ्जन किये हुए, ऊपरी सिरे पर चषाल (लकड़ी की टोपी) पहनाये गये, अष्टकोण यूप (यजमान की ऊंचाई के बराबर लकड़ी के खूंटे) को गाड़ कर, उस में मूंज की रस्सी लपेट कर, उस में स्वरु (छुरिकाकार क्षुद्र काष्ठ) अटका दी जाती है। तूपर (बिना सींग वाले बकरे) को नहला कर, यूप के समीप ला कर पलाश की शाखा तथा कुश से उपाकरण(देवता का निर्देश कर के स्पर्श) किया जाता है। अध्वर्यु रस्सी से पशु को यूप में बांध कर, प्रोक्षण करके आज्य युक्त स्रुव से अञ्जन करके दस प्रयाजों की आहुति आहवनीय में देता है (ग्यारहवीं प्रयाज-आहुति वपा निकालने के पश्चात् दी जाती है) पशु का पर्यग्निकरण (आहवनीय के अङ्गार को पशु के चारों ओर घुमाना) कर के, अङ्गार को लिये हुए आग्नीध्र आगे और पशु को लेकर शमिता पीछे चल कर शामित्र शाला में जाते हैं। आग्नीध्र अङ्गार रख कर

लौट जाता है (बंगलोर में होता-प्रतिप्रस्थाता-मैत्रावरुण ने शमिता का कार्य किया)। पशु का संज्ञपन किया जाता है (बंगलोर में तीन व्यक्तियों ने बकरे के नाक-मुंह-दुम आदि अङ्गों को पूर्णतः दबा कर, बांये पार्श्व दक्षिण को सिर कर के गिरा कर दबाये रखा। दम घुटने से कुछ क्षणों में पशु निष्प्राण हो गया, तब कहा गया संज्ञप्तः)। तत्काल संज्ञप्त होम तथा प्रायश्चित्त होम कर के, वपाश्रपणियां (कांटेदार वृक्ष की दो शाखएं) ले कर अध्वर्यु यजमान-दम्पती के साथ पशु के समीप जाता है। यजमान पत्नी जल से पशु के अङ्गों का आप्यायन करती है और वहां से चली जाती है।

पशु के पेट के दांये भाग पर दो कुश रख कर, चाकू से त्वचा तथा भीतरी झिल्ली को काट कर, हाथों से इधर-उधर हटा कर, वपा (सफेद मोटी झिल्ली) को बाहर निकाल कर, वपाश्रपणी पर फैला कर, ऊपर से दूसरी वपाश्रपणी रख कर, यजमान के द्वारा अन्वारब्ध (स्पर्श किया हुआ) अध्वर्यु आहवनीय के समीप जा कर प्रतिप्रस्थाता को वपाश्रपणी देता है (पशु की एक पिछली टांग को चीरे गये पेट में डाल कर, उसे वहीं छोड़ कर सब चले जाते हैं, रक्षक वहीं ठहर जाता है)। अध्वर्यु वपा के ऊपर घृत डालते हुए प्रयाज तथा दो आज्य भागों की आहुति दे कर, जुहू में वपा को रख कर, घी डाल कर, सुवर्ण शकल (कण) डाल कर आश्रावणादि पूर्वक (ओ३ आ३वय, अस्तु श्रौ३षट्, यज, ये३यजामहे, वौ३षट्) आहवनीय में आहुति देता है (वपा चर-चर शब्द कर के जलती है और स्वल्प विशिष्ट गन्ध भी आती है)। वपाश्रपणियों को भी आहवनीय में डाल दिया जाता है। सभी लोग चात्वाल में हस्त-प्रक्षालन करते हैं।

पुनः शमिता पशु के पास बैठ कर, चीरे गये पेट में हाथ डाल कर हृदय आदि कोमल अङ्गों को तोड़ कर और बाहुमूल आदि के मांस को काट कर निकाल लेता है। मेध्य ग्यारह अङ्ग हैं—हृदय, जिह्वा, वक्ष, यकृत्, दो वृक्क, बायां बाहुमूल, दोनों पार्श्व, दायीं श्रोणी, गुद सहित पूंछ। इन अङ्गों को जल से धो कर, क्रमशः रस्सी में बांध कर शामित्र अग्नि में पकाया जाता है। शेष पशु अमेध्य है, उसे समीपस्थ गड्ढे में गाड दिया जाता है (बंगलोर में यहां तक का कार्य रात्रि में किया गया)। प्रातः अग्नीषोमीय पशु पुरोडाश तैयार कर के, उस का याग तथा हविः शेष भक्षण किया जाता है और पशु पुरोडाश के साथ ही अग्नि आदि आठ देवताओं के लिए आठ व्रीहि आदि धान्यों की हवियों से आठ देवसू आहुति दी जाती हैं। पशु के पक्व अङ्गों के तीन-तीन भाग कर के एक जुहू में, दूसरा उपभृत् में और तीसरा इडापात्र में रखा जाता है। अङ्गों को पकाते समय निकली हुई वसा की आहुति दे कर, जुहू में रखे हुए सम्पूर्ण अङ्गों की आहुति एक बार ही दे दी जाती है। पृषदाज्य (दही-घी मिश्रित) की आहुति दे कर, उपभृत् में रखे हुए अङ्गों की आहुति स्विष्टकृत् अग्नि को दी जाती है। इडापात्र में रखे हुए अङ्गों को ऋत्विज् एवं यजमान हविःशेष के रूप में खाते हैं (बंगलोर में ऋत्विजों एवं यजमान ने पत्नीशाला में जा कर लगभग एक-एक माशे की मात्रा में इडा भक्षण किया)। इस के पश्चात् पृषदाज्य से ग्यारह अनुयाज किये जाते हैं। साथ ही प्रतिप्रस्थाता गुदांश के ग्यारह भाग कर के पृथक् अग्नि में आहुति देता है। पशु की पूंछ से पत्नी संयाज किये जाते हैं। तदनन्तर अगले दिन होने वाले सोमाभिषव के लिए नदी या तालाब से वसतीवरी नामक जल बड़ी धूमधाम से लाया जाता है। गौओं का दोहन कर के प्रतिप्रस्थाता आमिक्षा तथा दधिग्रह के लिए दूध को जमा देता है। इस प्रकार नवें (बंगलोर में ग्यारहवें) दिन का कार्य समाप्त होता है।

प्रातः सवन

दसवें (बंगलोर में बारहवें) दिन सुत्या (सोम का अभिषव=निचोड़ना) आरम्भ होती है। सुत्या के अनुष्ठानों को तीन भागों में-प्रातः सवन-माध्यन्दिन सवन-तृतीय सवन में विभक्त किया गया है। सोम की आहुति के लिये तीन प्रकार के पात्रों का प्रयोग किया जाता है—ग्रह नामक ग्यारह पात्र लकड़ी से बने हुए, ओखली के आकार वाले होते हैं, स्थाली नामक चार पात्र मिट्टी के बने हुए होते हैं और चमस नामक दस पात्र लकड़ी के बने हुए चौकोन होते हैं। सुत्या दिवस को प्रातः तीन बजे से ही साम गान आरम्भ हो जाता है। ग्रह-चमस आदि पात्र हविर्धानमण्डप के खर पर रख दिये जाते हैं। होता प्रातरनुवाक नाम शस्त्र का पाठ करता है। सुब्रह्मण्याह्वान होता है। यजमान तथा ऋत्विज् एकधना नामक जल को नदी या तालाब से लाते हैं जिस को वसतीवरी में मिला कर निग्राम्य नामक तीसरा जल तैयार किया जाता है। प्रतिप्रस्थाता (या आग्नीध्र) इन्द्र हरिवान्-इन्द्र पूषण्वान्-सरस्वती भारती-इन्द्र-मित्रावरुण—इन पांच देवताओं के लिए क्रमशः धाना (भुने हुए जौ) करम्भ (घृतयुक्त जौ के सत्तू), परिवाप (धान की खीलें), पुरोडाश तथा पयस्या (=आमिक्षा=पनीर या छेना) —इन पांच सवनीय हवियों के निर्माण में जुट जाता है।

१. अभिषव से पूर्ववर्त्ती ग्रह—एक ग्रह में दही भर कर प्रजापति को आहुति दी जाती है. इसे दधिग्रह कहते हैं। ग्रह में दूध या दही भर कर, उसके ऊपर तीन सोम के अंशु रख कर सोम देवता को आहुति दी जाती है, यह अदाभ्य ग्रह कहा जाता है। एक ग्रह के लिए पर्याप्त सोम को वसतीवरी में भिगो कर, रस निकाल कर, अदाभ्य ग्रह में ही रस भर कर प्रजापति के लिए आहुति देकर, रस शेष भक्षण के लिऐ खर पर रख दिया जाता है, इसे अंशु ग्रह कहते हैं। इस के पश्चात् उपांशु ग्रह का प्रचार (अनुष्ठान) होता है। खरीदे हुए सोम के दो भाग (लगभग दो तिहाई भाग प्रातः सवन के लिए, एक तिहाई भाग माध्यन्दिन सवन के लिए) कर के बड़े भाग में से एक ग्रह के लिए पर्याप्त सोम लेकर, वसतीवरी से तर कर के, पत्थरों से कूट कर, रस निचोड़ कर अध्वर्यु अञ्जलि से उपांशुपात्र में भरता है। इसी प्रकार तीन बार कर के, रस से पूर्ण उपांशुग्रह से प्राण देवता को आहुति देता है। यह अधारा ग्रह है, इस के पश्चात् अन्तर्याम से ध्रुव तक धारा ग्रह (सोम की धारा से रस का ग्रहण) होते हैं। अतः महाभिषव किया जाता है।

२. सोम का अभिषव अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-होता-उन्नेता ग्रावा के चारों ओर क्रमशः पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर दिशाओं में बैठ कर, ग्रावा पर सोम रख कर, वसतीवरी से तर कर के, कूट कर, तीन बार रस निकाल कर, कुटे हुए सोमांशुओं को आधवनीय (मिट्टी के जलयुक्त घड़े) में डाल कर, रस निचोड़ कर, ऋजीष (रस हीन सोम) को अलग रख देते हैं। उद्गाता द्रोणकलश (पान के पत्ते की आकृति वाले काष्ठमय पात्र) के ऊपर पवित्र(बकरी के बालों से युक्त वस्त्र खण्ड)को फैला देता है।उन्नेता आधवनीय में से मिट्टी के पात्र द्वारा रस लेकर पवित्र के ऊपर डालता है (नान्देड़ में पवित्र को फैला कर हविर्धान के प्रउग=अग्रभाग में बांध दिया गया था,उस के नीचे द्रोणकलश रख कर ऊपर से रस पवित्र पर डाला जाता था)। अध्वर्यु छनते हुए सोम की धारा से अन्तर्याम ग्रह को भर कर, इन्द्र के लिए आहुति दे कर, थोड़ा शेष रख कर, थोड़ा रस आग्रयण स्थाली में गिरा कर, शेष रस सहित ग्रह को खर पर रख देता है। दधिग्रह से आरम्भ कर के अन्तर्यामग्रह तक ग्रहण के

पश्चात् तत्काल होम कर दिया जाता है, परन्तु अगले ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों को ग्रहण कर के खर पर सादन (स्थापन) कर दिया जाता है। पूर्वोक्त प्रकार से ऐन्द्रवायव ग्रह को धारा से भर कर, दशापवित्र (पवित्र के प्रान्त=छोर) से बाहरी भाग का मार्जन कर के खर पर सादन किया जाता है। इसी प्रकार मैत्रावरुण, शुक्र, मन्थी, आग्रयण, तीन अतिग्रह (आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य), उक्थ्य तथा ध्रुव (इस का उपयोग तृतीय सवन में होता है) का ग्रहण-सादन किया जाता है।

३. बहिष्पवमान स्तोत्र—इस के पश्चात् सामगान के लिए प्रसर्पण विधि होती है। क्रमशः अध्वर्यु-प्रस्तोता-प्रतिहर्त्ता-उद्गाता ब्रह्मा-यजमान पूर्व-पूर्व के कच्छ को दाहिने हाथ से पकड़े हुए सदोमण्डप से प्रसर्पण (झुक कर मन्द गति से) करते हुए निकल कर, छह विप्रुड् होम कर के, आस्ताव स्थल (चात्वाल के पास) पर जा कर, बैठ कर कच्छ छोड़ देते हैं। वहां उद्गाता,प्रस्तोता तथा प्रतिहर्त्ता बहिष्पवमानस्तोत्र का गान करते हैं। स्तोत्र की समाप्ति पर आग्नीध्र धिष्ण्यों को प्रज्वलित करता है और अध्वर्यु द्रोणकलश से आश्विन ग्रह को भर कर खर पर रख देता है।

४. सवनीय पशु—तदनन्तर सवनीय पशु—सरस्वती के लिए भेड़ या बकरी—का उपाकरण आदि होता है (नान्देड़ में आज्य पशु होने के कारण उसी समय सम्पूर्ण कृत्य हो गये, परन्तु बंगलोर में उपाकरण से वपाहोम तक विधि पूर्ववत् रात्रि के सन्नाटे में की गई। इस को भी हमने यथावत् देखा। पशु पुरोडाश तथा अङ्ग होम पूर्ववत् अगले अर्थात् तेरहवें दिन सम्पन्न हुए)। पात्र तथा द्रव्यों के उपस्थान के पश्चात् पूर्वोक्त पांच सवनीय हवियों तथा पाशुक हवि का प्रचार (अनुष्ठान) होता है।

५. ग्रह-चमस प्रचार तथा स्तोत्र-शस्त्र—अब धाराग्रहों का प्रचार आरम्भ होता है। अध्वर्यु तीन द्विदेवत्य (ऐन्द्रवायव-मैत्रावरुण-आश्विन) की आहुति देता है। साथ ही प्रतिप्रस्थाता द्रोणकलश से आदित्य पात्र में रस लेकर आहुति देता है। आहुति के पश्चात् दोनों एक दूसरे के पात्र में निषेचन तथा आदित्य स्थाली में सम्पात (बिन्दु गिराना) करते हैं। उन्नेता अच्छावाक के चमस को छोड़ कर अन्य दस (होता-ब्रह्मा-उद्गाता-यजमान-मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसी-पोता-नेष्टा-आग्नीध्र-सदस्य के) चमसों को भरता है। उन्नयन (भरने) का प्रकार यह है—द्रोणकलश में से परिप्लवा (नौकाकार दारुमय पात्र) के द्वारा स्वल्प सोम रस का उपस्तरण (स्वल्प सोम रस डालना=चुपड़ना) करके, पूतभृत् (छने हुए सोम से युक्त मिट्टी का घड़ा) से अभिघारण (अधिक सोम पातन) कर के चमसों को भर लिया जाता है।

अध्वर्यु शुक्रग्रह को तथा प्रतिप्रस्थाता मन्थिग्रह को ले कर हविर्धान मण्डप के पूर्वद्वार पर परस्पर ग्रहों का स्पर्श करा कर आहवनीय के पूर्व भाग में पश्चिमाभिमुख खड़े हो जाते हैं। उसी समय दस चमसाध्वर्यु भी चमसों को लेकर आहवनीय के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख खड़े हो जाते हैं। अध्वर्यु—ओ३श्रा३वय। आग्नीध्र—अस्तु श्रौ३षट्। अध्वर्यु (प्रैष)…[अग्नये] अनुब्रू३हि। मैत्रावरुण (अनुवाक्या)——होतर्यज। होता (याज्या)—ये३यजामहे…वौ३षट्; सोमस्याग्ने वीहि वौ३षट्।—इस प्रकार आश्रावण आदि के पश्चात् प्रथम वषट्कार पर होता-प्रतिप्रस्थाता तथा मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसी-पोता-नेष्टा-आग्नीध्र के चमसाध्वर्यु आहुति देते हैं और होता-ब्रह्मा-उद्गाता-यजमान-सदस्य के चमसाध्वर्यु वषट्कार एवं अनुवषट्कार पर दो बार थोड़ी थोड़ी आहुति देते

हैं। यजमान वषट्कार पर 'इदमिन्द्राय न मम' और अनुवषट्कार पर 'इदमग्नये स्विष्टकृते न मम' उद्देश त्याग करता है। अध्वर्यु स्वल्परसशेष पात्र को खर पर रख देता है, प्रतिप्रस्थाता आहवनीय के उत्तर भाग में अङ्गार पर रुद्रके लिए आहुति देता है। मंत्रावरुणादि के पांचों चमसाध्वर्यु पुनः चमस भर लाते हैं, जिन की आहुति अध्वर्यु आश्रावणादि के पश्चात् देता है। आहुति के पश्चात् ग्रहों तथा चमसों से ऋत्विजों का परस्पर सोम भक्षण होता है और मार्जालीय में पात्रों का मार्जन किया जाता है। इसी प्रकार अच्छावाक के चमस की आहुति तथा भक्षण होता है। अब ऋतुग्रह प्रचार होता है—ऋतुग्रह बारह हैं, प्रत्येक ग्रह के दो देवता हैं, पात्र केवल दो हैं। पर्याय से अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता ग्रहण करते तथा आहुति देते हैं—जब अध्वर्यु ग्रहण करता है,तब प्रतिप्रस्थाता आहुति देता है। आश्रावणादि पूर्वक होम के बाद भक्षण एवं मार्जन होता है। अध्वर्यु उसी पात्र में ऐन्द्राग्नग्रह भर कर खर पर सादन कर देता है।

इस के पश्चात् होता पूर्वाभिमुख अपने धिष्ण्य के समीप बैठ कर आज्यशस्त्र का पाठ करता है और अध्वर्यु प्रतिगर बोलता है। शस्त्र समाप्त होने पर अध्वर्यु ऐन्द्राग्नग्रह की आहुति देता है और चमसाध्वर्यु चमसों से आहवनीय में बिन्दु-पात करते हैं। पुनः भक्षण, आप्यायन तथा सादन होता है। अब इन चमसों की नाराशंस संज्ञा होती है। वैश्वदेव ग्रह भर कर, प्रथम आज्यस्तोत्र तथा प्रउग शस्त्र एवं अध्वर्युकृत प्रतिगर के पश्चात् ग्रह का होम, चमसों का बिन्दु-पात होता है। इन चमसों की भी नाराशंस संज्ञा है। ग्रह-चमसों के भक्षण-मार्जन के पश्चात् उक्थ्य ग्रह प्रचार होता है—उक्थ्य स्थाली के तृतीयांश को उक्थ्य ग्रह में भर कर, सादन कर के, चमसों को भर कर, द्वितीय आज्य स्तोत्र, मंत्रावरुणशस्त्र, अध्वर्युकृत प्रतिगर के पश्चात् होम-भक्षण-मार्जन-सादन किया जाता है। इसी प्रकार उक्थ्यग्रह के अन्य दो पर्याय होते हैं जिन में तृतीय-चतुर्थ आज्यस्तोत्र,ब्राह्मणाच्छंसि-अच्छावाक शस्त्र एवं प्रतिप्रस्थाता-कृत प्रतिगर होता है। सवनसंस्थाहुति के पश्चात् ऋत्विज् शाला के बाहर चले जाते हैं।

माध्यन्दिन सवन

अब माध्यन्दिनसवन का आरम्भ होता है। इस की प्रक्रिया प्रायः प्रातःसवन के समान ही है, इस में द्विदेवत्य तथा ऋतुग्रहों का प्रचार नहीं किया जाता। आग्नीध्रीय के समीप यजमान (वस्तुतः उद्गातृ वर्ग) लोकद्वार साम का गान तथा आग्नीध्रीय में होम करता है।

(१) अभिषव-ग्रहग्रहण—प्रातः सवन के समान ही सोम का महाभिषव किया जाता है। अभिषव के समय ग्रावस्तुत् पगड़ी से सिर तथा आंखों को आवृत कर के सोम की स्तुति में ऋचाओं का पाठ करता है। शुक्र, मन्थी, आग्रयण, तीन उक्थ्य एवं मरुत्वतीय ग्रहों का धारा ग्रहण तथा सादन किया जाता है। साथ ही सवनीय हवियों का निर्वाप भी किया जाता है।

(२) माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र—प्रातःसवन के समान पांच ऋत्विज् एवं यजमान प्रसर्पण करते हुए सदोमण्डप से निकल कर, आहवनीय में विप्रुड् होम कर के, पुनः सदोमण्डप में लौट कर यथास्थान बैठ जाते हैं और प्रस्तोता-उद्गाता-प्रतिहर्त्ता औदुम्बरी के समीप बैठ कर माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र का गान करते हैं। गान की समाप्ति पर दधिघर्मयाग, हविःशेष भक्षण, सवनीय हवियों का अनुष्ठान तथा इडा-भक्षण होता है।

(३) ग्रह चमस प्रचार—माध्यन्दिन सवन में अच्छावाक सहित सभी ग्यारह चमसों का उन्नयन (भरण) होता है। प्रातः सवन के समान शुक्रामन्थि ग्रहों के साथ चमसों का प्रचार-भक्षण-मार्जन-सादन होता है।

(४) दक्षिणादान—एक लम्बे वस्त्र के नीचे अध्वर्यु-यजमान-यजमानपत्नी-यजमान परिजन क्रमशः पूर्व-पूर्व का स्पर्श करते हुए आहवनीय तक जाते हैं, जहां यजमान दाक्षिण होम करता है। इस के पश्चात् ऋत्विजों को दक्षिणा प्रदान की जाती है। ग्रन्थों में ११२ गायें, घोड़ा, भेड़, बकरी, ३-३ सेर तिल-माष-चावल इत्यादि दक्षिणा का विधान है, परन्तु आज कल प्रचलित मुद्रा के रूप में ही दक्षिणा दी जाती है। प्रधान ऋत्विजों को दी जाने वाली दक्षिणा को चारों गणों में बराबर-बराबर विभक्त किया जाता है। गण में पूर्वोक्त स्थिति के अनुसार १२: ६ ४: ३ के अनुपात में विभाग किया जाता है। इन के अतिरिक्त चमसाध्वर्युओं, सोमप्रवाक, सदस्यों तथा विशिष्ट दर्शकों को भी दक्षिणा दी जाती है। दक्षिणादान के पश्चात् यजमान कृष्णमृगशृङ्ग को चात्वाल में फेंक देता है। अध्वर्यु आग्नीध्रीय में पांच वैश्वकर्म होम करता है।

(५) ग्रह प्रचार स्तोत्र-शस्त्र—अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता दो मरुत्वतीय ग्रहों का प्रचार करते हैं। अध्वर्यु पुनः उसी पात्र में तृतीय मरुत्वतीय ग्रह का ग्रहण कर के सादन करता है और प्रतिप्रस्थाता अपने पात्र को भक्षणार्थ ले जाता है, जिस से दोनों भक्षण करते हैं। होता मरुत्वतीय शस्त्र का पाठ करता है और अध्वर्यु (पाठ सहित) प्रतिगर बोलता है। शस्त्र की समाप्ति पर पूर्ववत् आश्रावणादि कर के तृतीय मरुत्वतीय ग्रह एवं चमसों का होम-भक्षण-मार्जन-सादन होता है। चमस पूरण तथा अध्वर्यु द्वारा शुक्रग्रह पात्र में माहेन्द्र ग्रह के ग्रहण-सादन के पश्चात् प्रथम पृष्ठ स्तोत्र का गान किया जाता है। उस की समाप्ति पर निष्केवल्य शस्त्र, अध्वर्युकृत प्रतिगर, माहेन्द्रग्रह-चमसों का होम होता है। उसी समय प्रतिप्रस्थाता आग्नेय का, नेष्टा ऐन्द्र का, उन्नेता सौर्य का—इन तीन अतिग्रह ग्रहों का होम-भक्षण-मार्जन-सादन करते हैं। प्रातःसवन के समान तीन उक्थ्य ग्रहों का प्रचार होता है—उन में क्रमशः द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पृष्ठस्तोत्र तथा मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसी-अच्छावाक के शस्त्र (बालखिल्य-वृषाकपि-एवयामारुत) होते हैं। सवनसमाप्तिहोम करके ऋत्विज् सदोमण्डप से बाहर चले जाते हैं।

तृतीय सवन

जब तृतीय सवन (सायं सवन नहीं) आरम्भ होता है। इस को आरम्भ करते समय हविर्धानमण्डप के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं। यजमान (वस्तुतः उद्गातृगण) चिति (उत्तरवेदि) के समीप लोकद्वार साम का गान करता है और आहवनीय में होम करता है। आदित्य स्थाली में पूर्व सम्पात से संगृहीत रस से आदित्य ग्रह में रस ले कर, उस में उपांशु सवन नामक पत्थर को डालकर, हिलाकर, पत्थर को निकाल कर, थोड़ा दूध या दही डालकर, आश्रावणादि पूर्वक आहुति दी जाती है।

१. सोमाभिषव—पूर्व दो सवनों में अभिषव करने के पश्चात् अवशिष्ट ऋजीष को लेकर, वसतीवरी से तर कर के, रस निचोड़ कर, उस में दही मिलाकर, पूतभृत् में डालकर, छानकर आग्रयण ग्रह का ग्रहण-सादन कर के धारा को बन्द कर दिया जाता है।

२. आर्भव पवमान स्तोत्र—पूर्व सवनों के समान ऋत्विजों तथा यजमान का प्रसर्पण, विप्रुड्होम होने पर, सदोमण्डप में आर्भव पवमान स्तोत्र का गान होता है। धिष्ण्यों का ज्वालन, सवनीय पशु प्रचार कर के सवनीय हवियों की आहुति दी जाती है।

३. ग्रह-चमस प्रचार-स्तोत्र-शस्त्र - अध्वर्यु होता के चमस की एक आहुति आश्रावणादि के पश्चात् देता है और चमसाध्वर्यु भी चमसों की आहुति उसी प्रकार देते हैं। अन्य चमसाध्वर्यु पुनः चमस भर कर अनुवषट्कार पर अध्वर्यु के साथ आहुति देते हैं। भक्षण-मार्जन सादन पूर्ववत् होता है। हविःशेष पुरोडाश के अंश को अपने आप चमस में डालकर चमसाध्वर्यु अपने पिता-पितामह-प्रपितामह को उद्देश कर के उपस्थान करते हैं। आग्रयणस्थाली से सावित्र ग्रह को भर कर, आश्रावणादि कर के आहुति दी जाती है। फिर उसी पात्र में पूतभृत् से वैश्वदेव ग्रह भर कर, सादन कर के, वैश्वदेव शस्त्र का पाठ, अध्वर्युकृत प्रतिगर के पश्चात् आश्रावणादि कर के आहुति, चमसों से पूर्ववत् बिन्दु-पात कर के भक्षण-मार्जन-सादन किया जाता है। तदनन्तर सोम देवता के लिये चरु से याग कर के, आग्रयणस्थाली से पात्नीवत ग्रह भर कर, आश्रावणादि कर के आहुति तथा भक्षण किया जाता है। आधवनीय का सम्पूर्ण सोम पूतभृत् में डाल कर, उस में से चमसाध्वर्युओं द्वारा चमसों को भरवा कर, यज्ञायज्ञिय=अग्निष्टोम स्तोत्र (सामान्य सोम याग का अन्तिम स्तोत्र) का गान आरम्भ होता है। गान के समय सब लोग वस्त्र से कानों सहित सिरों को लपेट लेते हैं। स्तोत्र के पश्चात् आग्निमारुतशस्त्र का पाठ तथा अध्वर्युकृत प्रतिगर होता है। प्रतिप्रस्थाता प्रातःसवन के अन्तिम ध्रुवग्रह को होता के चमस में डाल देता है। तब अध्वर्यु होता के चमस की तथा चमसाध्वर्यु अन्य चमसों की आहुति-भक्षण मार्जन-सादन करते हैं।

सामान्य सोमयाग (अग्निष्टोम) के स्तोत्र-शस्त्रों के पश्चात् अतिरात्र (नान्देड़) तथा अप्तोर्याम (बंगलोर) में होने वाले स्तोत्र-शस्त्रों का अनुष्ठान पूर्ववत् ही होता है। तीन उक्थ्य ग्रह चमस ग्रहण-सादन के पश्चात् प्रथम-द्वितीय-तृतीय उक्थ्य स्तोत्र, मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसी-अच्छावाक के शस्त्र, अध्वर्युकृत प्रतिगर, ग्रह चमसों की आहुति-भक्षण-मार्जन-सादन होता है। षोडशिग्रह तथा चमसों का ग्रहण-सादन, षोडशिस्तोत्र का गान, षोडशिशस्त्र का पाठ, ग्रह-चमसों की आहुति-भक्षण-मार्जन-सादन पूर्ववत् ही होता है। षोडशिग्रह के पश्चात् ग्रह नहीं होते, केवल चमस होते हैं और उन का देवता इन्द्र है। अब चार रात्रि स्तोत्रों के तीन पर्यायों का आरम्भ किया जाता है। होतृचमस को प्रधान करके दसों चमसों का उन्नयन, प्रथमरात्रि-स्तोत्र, होतृकृत प्रथम रात्रि-शस्त्र, अध्वर्युकृत प्रतिगर, चमसों की आहुति-भक्षण-मार्जन-सादन होता है। मैत्रावरुण-चमस पूर्वक दस चमसों का उन्नयन, द्वितीय रात्रि-स्तोत्र, मैत्रावरुणकृत द्वितीय रात्रि-शस्त्र, अध्वर्युकृत प्रतिगर, चमसों की आहुति आदि पूर्ववत् होती हैं। ब्राह्मणाच्छंसी चमस प्राधन दस चमसों का उन्नयन, तृतीय रात्रि-स्तोत्र, ब्राह्मणाच्छंसिकृत तृतीयरात्रि शस्त्र, प्रतिप्रस्थाताकृत प्रतिगर, चमसों की आहुति आदि पूर्ववत् होती हैं। अच्छावाकचमस पूर्वक दस चमसों का उन्नयन, चतुर्थ रात्रि-स्तोत्र, अच्छावाककृत चतुर्थ रात्रि-शस्त्र, प्रतिप्रस्थाताकृत प्रतिगर, चमसों की आहुति आदि पूर्ववत् होती हैं। यह प्रथम पर्याय हुआ, इसी प्रकार अन्य दो पर्यायों का अनुष्ठान होता है। इस के पश्चात् प्रतिप्रस्थाता अश्वियों के द्विकपाल पुरोडाश तैयार करता है। अध्वर्यु द्वारा होतृचमस प्रधान दस चमसों का उन्नयन, सन्धि-स्तोत्र होतृकृत आश्विन शस्त्र (इस की समाप्ति सूर्योदय के अनन्तर होती है), अध्वर्युकृत प्रतिगर, चमसों की आहुति आदि पूर्ववत् होती है। इसी समय प्रतिप्रस्थाता आश्विन पुरोडाश की आहुति देता है। इस के पश्चात् पूर्ववत् ही चमसों का उन्नयन, क्रमशः प्रथमादि चार अप्तोर्याम स्तोत्र, होता-मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-अच्छावाककृत क्रमशः प्रथमादि चार अप्तोर्याम शस्त्र, अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाताकृत दो-दो प्रतिगर तथा

चमसों की आहुति आदि विधि होती है। अब उन्नेता द्रोणकलश में अवशिष्ट सोमरस को भर कर, भुने हुए जौ मिला कर, पात्र को सिर पर रख कर, आश्रावणादि के बाद हारियोजन आहुति देता है। ऋत्विज् हारियोजन (सोम मिश्रित यव धाना) शेष का भक्षण करते हैं और चमसाध्वर्यु चमस सूंघते हैं। चमसाध्वर्यु आग्नीध्रीय में जा कर दधि-बिन्दुओं का भक्षण करते हैं। ऋत्विज् तानूनप्त्र प्रतिज्ञा का विसर्जन (सख्य-विसर्जन) करते हैं। प्रायश्चित्त होम कर के सवनसमाप्ति होम किया जाता है। रात्रि-पर्यायों की समाप्ति तक ग्यारहवां (बंगलोर में चौदहवां) दिन आरम्भ हो जाता है। लगभग मध्याह्न तक तृतीय सवन समाप्त हो जाता है।

अवभृथ-इष्टि

इष्टि के पात्रों को छोड़ कर शेष सभी पात्रों को राजासन्दी पर रखकर, ऋजीष सहित सब पात्रों को ले कर ऋत्विज तथा यजमान दम्पति तालाब या नदी पर जाते हैं। एककपाल पुरोडाश तैयार कर के साथ ले जाते हैं। आहवनीय में होम कर के गमन आरम्भ करते हैं, मार्ग में मन्त्रपाठ तथा सामगान होता है। अवभृथेष्टि में दो आज्यभाग, चार प्रयाज, दो अनुयाज तथा वरुण के लिए एक कपाल पुरोडाश की आहुति जल में दी जाती है। ऋजीष को जल में डाल कर प्रचरणी (स्रुच्) से डुबोया जाता है। सोम लगे हुये पात्र जल में डाल दिये जाते हैं। योक्त्र-मेखला-वस्त्र-जाल-कृष्णाजिन आदि को जल में डालकर यजमान-दम्पति स्नान करता है। अन्य ऋत्विज भी साथ ही स्नान करते हैं। यजमान स्नानार्थियों के ऊपर जल छिड़कता है (दर्शक भी, विशेषतः स्त्रियाँ, अपने ऊपर यजमान के हाथों से छींटे डलवाने में पुण्य समझते हैं)। उन्नेता यजमान आदि को हाथ पकड़ कर जल से बाहर निकालता है और सब नवीन वस्त्रों को धारण करते हैं।

उदयनीय-आनुबन्ध्य-उदवसानीय इष्टियां

यजमान यज्ञशाला में आ कर सूर्य की उपासना कर के शालामुखीय (प्राग्वंशशालास्थ आहवनीय) अग्नि में उदयनीयेष्टि करता है। उस के लिये पूर्वस्थापित प्रायणीय इष्टि वाले बिना धुले पात्र में चरु पकाया जाता है। प्रायणीयेष्टि की अनुवाक्याज्या इस इष्टि में क्रमशः याज्या-अनुवाक्या हो जाती हैं, शेष सब अनुष्ठान प्रायणीयेष्टि के समान ही होते हैं। इस के पश्चात् मैत्रावरुण के लिये आनुबन्ध्यपशु इष्टि (मैत्रावरुणेष्टि) होती है। यह आमिक्षा (यद्यपि ग्रन्थों में वन्ध्या गौ का निर्देश है) से सम्पन्न होती है। उस के पश्चात् यजमान क्षौर करा कर, स्नान कर के, देविकाओं के लिये आज्य की आहुति, प्रथम गार्हपत्य का समारोपण अरणियों में कर के (अग्नि में अरणियों को तपाकर) गृह को लौट जाता है। घर पर अग्नि-मन्थन के द्वारा अग्नि का निर्माण कर के उदवसानीय इष्टि करता है, जिसमें अग्नि के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। इस प्रकार सोम याग सम्पन्न हो जाता है। अन्त में सभी आगन्तुकों को प्रसाद दिया जाता है।

कर्मकाण्ड का प्रयोजन

पाठक यह जानने के लिये उत्सुक होंगे कि इतने विशाल, जटिल, नीरस एवं विपुल द्रव्य साध्य कर्म-काण्ड का प्रयोजन क्या है? आधुनिक गवेषकों ने इस प्रश्न के समाधान के लिए अनेक परिकल्पनाएं प्रस्तुत की हैं। किन्हीं का कथन है—देवों के कोप को शान्त करने के लिये इन कृत्यों का अनुष्ठान किया जाता है। दूसरों का मत है—किसी विशिष्ट पशु (या ओषधि) में दैवी शक्ति तथा पाप-मोचन का सामर्थ्य होता है,

इडा भक्षण आदि के द्वारा देव के साथ ऐक्य प्राप्ति करने के उद्देश्य से इन कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। कुछ अन्य लोगों के मतानुसार—ऐहिक समृद्धि तथा पारलौकिक सुख को प्राप्त करने के लिये देव का आराधन (प्रसादन) इन अनुष्ठानों द्वारा किया जाता है। एक अन्य पक्ष है—ओषधि (अन्न) तथा पशुओं की सम्पन्नता एवं स्वास्थ्य के उद्देश्य से इन कृत्यों द्वारा देव के प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती है। याज्ञिकों की मान्यता है— अग्नि आदि विग्रहवती देवताएं अनुष्ठाता के आह्वान पर यज्ञ में उपस्थित होती हैं और आहुति प्राप्त कर के अनुष्ठाता की कामनाओं को पूर्ण करती हैं। मीमांसकों का सिद्धान्त है—विभिन्न देवताओं की प्रसन्नता के उद्देश्य से ये कृत्य नहीं किये जाते, क्योंकि वे तो मात्र शब्दमयी हैं, विग्रहवती नहीं; अपितु इस कर्मकाण्ड का प्रयोजन है—'अपूर्व की उत्पत्ति'। 'अपूर्व' एक अदृष्ट संस्कार है जो अनुष्ठाता (आत्मा) को कालान्तर (मृत्यु के पश्चात्) में अनुष्ठान के फल (स्वर्ग आदि) से युक्त कर देता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन से याज्ञिक कृत्यों के एक अन्य उद्देश्य का भी ज्ञान होता है। आचार्यवर श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने ब्राह्मण-प्रतिपादित इस मत का उद्घाटन किया है। उन का कथन है कि काल प्रवाह से शनैः शनैः क्षीण होती जा रही दुरूह वेदविद्या के संरक्षणार्थ परमकारुणिक महर्षियों ने सृष्टि के गूढ रहस्यों को, जो वेद में प्रतिपादित हैं, प्रदर्शित करने के लिए इन यज्ञरूपी नाटकों का आविष्कार किया था। इन यज्ञ नाटकों में अभिनीत प्रत्येक क्रिया किसी न किसी सृष्टि रहस्य को प्रदर्शित करती है। इन में से कुछ रहस्यों की ओर ब्राह्मण ग्रन्थों ने संकेत किये हैं, परन्तु अनेक कृत्यों की व्याख्याएं अभी भविष्य के गर्भ में निहित हैं।

श्रौत यागों की प्रासङ्गिकता

अब एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है—क्या आज का बुद्धिप्रधान समाज इन यागों को प्रचलित रूप में स्वीकार कर सकता है? स्वामी दयानन्द ने यद्यपि अपनी कृतियों में 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त' यज्ञों को कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार किया है, तथापि वे इनके शाखा-ब्राह्मण-श्रौत सूत्रों में प्रदर्शित स्वरूप को अङ्गीकार नहीं करते। श्रौत सूत्रों में प्रदर्शित स्वरूप ही वर्तमान काल में प्रचलित है, जो युक्ति प्रमाण विरुद्ध है। स्वामी जी की बुद्धि में इन का जो स्वरूप था, उसे उन्होंने स्पष्ट रूप में कहीं प्रस्तुत नहीं किया। शाखा-ब्राह्मण श्रौतसूत्रों तथा मध्यकालिक वेदभाष्यों को समझने के लिये नितान्त आवश्यक होते हुए भी आर्यसमाज इन यागों को कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। आर्य सज्जन इन यागों को करने की इच्छा तथा देखने का प्रयास कभी कभी करते हैं। यज्ञों के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी वे तर्कविहीन कर्म को पसन्द नहीं करेंगे। भूमि पर तथा जल में दूध-दही-घी-मधु की आहुति डालते समय उन को संकोच होगा (हमें यह देख कर दुःख होता था!)। अतः इन पङ्क्तियों के लेखक का निष्कर्ष यह है कि जन-सामान्य इन यागों को देखने या करने में समय एवं धन का अपव्यय न करे। हाँ, वैदिक वाङ्मय का अध्येता या प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अन्वेषक दाक्षिणात्यों की उक्ति—अनाहूतोऽध्वरं गच्छेत् (बिना बुलाये भी यज्ञ में जाये)—के अनुसार इन अनुष्ठानों का दर्शन प्रयत्नपूर्वक करे। वहां उसे—अर्थी समर्थो विद्वान् यजति—इस दाक्षिणात्य उक्ति की चरितार्थता का साक्षात्कार होगा।

चातुर्मास्य

[लेखक विजयपाल विद्यावारिधि]

दर्शपूर्णमास के अनन्तर चातुर्मास्य इष्टियों का विधान है। इन इष्टियों का अनुष्ठान चार चार मास के पश्चात् किया जाता है, इस लिए इन को चातुर्मास्य कहते हैं[1]। इन के लिये पर्व शब्द का प्रयोग भी किया जाता है, क्योंकि इन का अनुष्ठान पर्व अर्थात् पूर्णमासी को किया जाता है। चातुर्मास्य कर्म इष्टियों के अन्तर्गत माने जाते हैं, अतः इन की प्रकृति दर्शपूर्णमासेष्टि है[2]। अभिप्राय यह है कि कुछ परिवर्त्तनों के साथ दर्शपौर्णमास की विधियां ही चातुर्मास्य पर्वों में भी अनुष्ठेय होती हैं। दर्शपूर्णमास के समान ये इष्टियाँ भी चार ऋत्विजों—ब्रह्मा-होता-अध्वर्यु-अग्नीत्—द्वारा सम्पन्न होती हैं। हां, वरुणप्रघास नामक पर्व में प्रतिप्रस्थाता को भी सम्मिलित कर लिया जाता है जिस से ऋत्विजों की संख्या पांच हो जाती है।

प्राचीन ग्रन्थों में तीन पर्वों का उल्लेख मिलता है, परन्तु कात्यायन श्रौतसूत्र आदि में चार पर्वों का विशद निरूपण हुआ है। चार पर्वों के क्रमशः नाम हैं—वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध एवं शुनासीरीय। प्रथम पर्व में पयस्या=आमिक्षा (पनीर) की विशिष्ट हवि दी जाती है, जिसकी देवता विश्वदेव हैं। इसलिये विश्वदेव देवताओं से सम्बद्ध होने के कारण इस पर्व को वैश्वदेव कहते हैं। द्वितीय पर्व में वरुण देवता के लिये प्रघास=हवि दी जाती है, अतः इसको वरुणप्रघास नाम दिया गया है। तृतीय पर्व में सूर्योदय के साथ प्रथम हवि अनीकवान् अग्नि को अर्पित की जाती है[3], अतः इस की संज्ञा साकमेध (साकम्=साथ, एध=दीप्ति) है। चतुर्थ पर्व की प्रधान देवताएं शुन (=वायु या इन्द्र) तथा सीर (=आदित्य) हैं, अतः यह शुनासीरीय के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार ये संज्ञायें ब्राह्मण-ग्राम न्याय से प्रचलित हो गई हैं। ये पर्व ऋतु-प्रारम्भ के सूचक हैं, इसीलिये शबरस्वामी का कथन है—वसन्त में वैश्वदेव से, वर्षा में वरुणप्रघास से तथा हेमन्त में साकमेध से यज्ञ करे।[4] गोपथ इन को भैषज्ययज्ञ भी इसी कारण कहता है[5]। वैश्वदेव, वरुणप्रघास तथा साकमेध का अनुष्ठान क्रमशः फाल्गुन (या चैत्र), अषाढ़ (या श्रावण) तथा कार्त्तिक (या मार्गशीर्ष) की पूर्णमासी को किया

---

१. चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे तत्र भवे। महाभाष्य ५।१।९४ वार्तिक॥

२. दर्शपूर्णमासधर्मा इष्टिषु सामर्थ्यात्। कात्यायन श्रौत ४।३।२॥

३. बौधायन श्रौत ५।१०।३॥

४. वसन्ते वैश्वदेवेन यजेत वर्षासु वरुणप्रघासैर्यजेत हेमन्ते साकमेधैर्यजेत। शाबरभाष्य ११।२।१३॥ तुलना करें—वसन्ते वैश्वदेवेन यजेत प्रावृषि वरुणप्रघासैः शरदि साकमेधैरिति विज्ञायते। आपस्तम्भ श्रौत ८।४।१३॥

५. अथो भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। गोपथ ब्राह्मण २।१।१९॥

जाता है। शुनासीरीय पर्व का काल नियत नहीं है[1], इस का अनुष्ठान साकमेध के तत्काल पश्चात्, दो चार दिन पश्चात्, या एक से चार मास पश्चात् किया जा सकता है।

चातुर्मास्य पर्वों के दो भेद हैं—स्वतन्त्र एवं राजसूयाङ्ग। राजसूय याग का अनुष्ठान करते हुए, उस के अन्तर्गत जो पर्व किये जाते हैं, वे राजसूय के अङ्ग माने जाते हैं। अतः राजसूय का अनुष्ठान क्षत्रिय के द्वारा किया जाता है, अतः उस के अङ्गभूत कर्मों का अधिकारी भी क्षत्रिय ही होता है। स्वतन्त्र चातुर्मास्य याग दर्शपूर्णमास के समान नित्य कर्म हैं और उन के अनुष्ठान के अधिकारी तीनों वर्ण होते हैं। स्वतन्त्र पर्वों के नित्य होने पर भी उत्सर्ग एवं अनुत्सर्ग दो पक्ष हैं। एक संवत्सर तक अर्थात् एक बार अनुष्ठान करके छोड़ देना उत्सर्ग पक्ष है और पांच या उससे अधिक वर्ष तक करते रहना अनुत्सर्ग पक्ष है। हविर्द्रव्य की दृष्टि से चातुर्मास्यों के तीन प्रकार हैं—ऐष्टिक, पाशुक, सौमिक। ऐष्टिक पर्वों में पुरोडाश-चरु-पयस्या-घृत आदि हविर्द्रव्य प्रयुक्त होते हैं। इन में वार्षिक अनुष्ठान के अतिरिक्त पञ्चदिवसीय एवं एकदिवसीय अनुष्ठान भी बौधायन आदि को अभिमत है। प्रथम दिन वैश्वदेव, दूसरे दिन वरुणप्रघास, तीसरे-चौथे दिन साकमेध तथा पांचवें दिन शुनासीरीय—इस प्रकार पञ्चाह अनुष्ठान होता है। चारों पर्वों को एक दिन में सम्पन्न कर लेने पर एकाह अनुष्ठान होता है।

चारों पर्वों में पांच प्रधान देवता तथा उन को दी जाने वाली हवियां समान हैं—अग्नि देवता के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश, सोम देवता के लिए चरु, सविता देवता के लिए अष्टाकपाल या द्वादश कपाल पुरोडाश (उपांशु), सरस्वती देवता के लिए चरु, पूषा देवता के लिए पिष्ट-चरु (पिसे हुए चावलों का भात)। सभी पर्वों में पालन योग्य समान नियम हैं—सिर तथा दाढ़ी का क्षौर, भूमि पर शयन, मधु-मांस-लवण-स्त्री-शरीर-प्रसाधन का त्याग (ऋतु काल में भार्यागमन का निषेध नहीं है), प्रथम तथा अन्तिम में मूंछ साफ करा देने का विकल्प है।[2] इन यागों के पृथक्-पृथक् एवं सामूहिक फल का निर्देश भी उपलब्ध होता है—शबरस्वामी का कथन है—स्वर्ग की कामना वाला चातुर्मास्यों से यज्ञ करें।[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है—यजमान वैश्वदेव से प्रजा का सर्जन करता है, वरुणप्रघास द्वारा प्रजा को वरुण पाश से मुक्त करता है, साकमेध से प्रतिष्ठापित करता है, त्र्यम्बक (साकमेध के अन्तर्गत कर्म) से रुद्र को तृप्त करता है, पितृयज्ञ (साकमेधीय) से स्वर्ग प्राप्त करता है।[4]

चातुर्मास्य यागों में सर्वप्रथम अनुष्ठेय वैश्वदेव पर्व है। जिस प्रकार सभी इष्टियों की प्रकृति दर्शपूर्णमास याग है, उसी प्रकार उत्तर चातुर्मास्यों की प्रकृति वैश्वदेव पर्व है[5] अर्थात् वैश्वदेव पर्व की विधियों में न्यून-अधिक परिवर्त्तन करके शेष तीन चातुर्मास्यों का अनुष्ठान किया जाता है। वैश्वदेव पर्व का अनुष्ठान फाल्गुन मास की पूर्णमासी (अथवा प्रतिपदा) को किया जाता है। इस से पूर्व दिवस चतुर्दशी (अथवा पूर्णमासी) को अप हल्ल

१. कात्यायन श्रौत ५।११।१-२॥

२. पौर्णमासेनेष्ट्वा चातुर्मास्यव्रतान्युपेयात्। केशान्निवर्त्तयीत। श्मश्रूणि वापयीतः अधः शयीत। मधु-मांस-लवण-स्त्र्यवलेखनानि वर्जयेत्। ऋतौ भार्यामुपेयात्। वापनं सर्वेषु पर्वसु, आद्योत्तमयोर्वा। आश्वलायन श्रौत २।१६।२२-२७॥ ३. चातुर्मास्यैः स्वर्गकामो यजेत। शावर भाष्य ११।२।१२॥

४. यद् वैश्वदेवेन यजते प्रजा एव तद् यजमानः सृजते। ता वरुणप्रघासैर्वरुणपाशान् मुञ्चति। साकमेधैः प्रतिष्ठापयति। त्र्यम्बकै रुद्रं निरवदयते। पितृयज्ञेन सुवर्गं लोकं गमयति। तै० ब्रा० १।६।८॥

५. वैश्वदेवधर्मांश्चातुर्मास्येषु वचनप्रवृत्तिभ्याम्। कात्यायन श्रौत ४।३।४॥

में अन्वारम्भणीया इष्टि या वैश्वानरपार्जन्य इष्टि की जाती है। अन्वारम्भणीया इष्टि वस्तुतः दर्शपूर्णमास का अङ्ग है और प्रथम बार चातुर्मास्य-प्रारम्भ की अर्हता के सम्पादन के लिए की जाती है। आगे इस के स्थान में वैश्वानरपार्जन्य इष्टि की जाती है। इष्टि होने के नाते ये दोनों भी दर्शपूर्णमास याग की विकृतियां हैं। इनका संक्षिप्त विवरण यहां दिया जाता है।

अन्वारम्भणीया इष्टि—इस इष्टि की प्रधान देवताएं अग्नाविष्णु, सरस्वती तथा सरस्वान् हैं, जिन को क्रमशः एकादशकपाल पुरोडाश, चरु तथा द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि प्रदान की जाती है। पूर्णमासेष्टि के अनुसार सभी विधियों का अनुष्ठान होता है, परिवर्त्तनों का निर्देश आगे किया जा रहा है (वेदवाणी में पूर्व प्रकाशित पूर्णमासेष्टि की पृष्ठ संख्या का सङ्केत कोष्ठों में किया जायेगा) संकल्प में—अन्वारम्भणीयया यक्ष्ये, उद्धरण में—अन्वारम्भणीयेष्टयर्थमुद्धरामि। ब्रह्मवरण (पृ० ४२) में—अन्वारम्भणीयेष्टया वयं यक्ष्यामहे। पात्रासादन (पृ० ४३) में—तेईस कपाल, एक चरु स्थाली, अन्वाहार्य के स्थान में प्रथम गर्भिणी गौ या गौ-बैल दक्षिणा, बीस इध्म-काष्ठ,[1] मेक्षण—इन का समावेश किया जाता है। हविर्निवाप (पृ० ४४) में—अग्नाविष्णुभ्यां जुष्टं गृह्णामि, सरस्वत्यै०, सरस्वते० ऊह किया जाता है। इसी प्रकार हविःप्रोक्षण (पृ० ४४, ४५) में भी ऊह है—अग्नाविष्णुभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि, सरस्वत्यै०, सरस्वते०। तुषरहित चावलों का विभाग (पुरोडाश एवं चरु के लिए) कर के आलम्भन में ऊह है—इदमग्नाविष्णवोः, इदं सरस्वत्याः, इद सरस्वतः। यह एकद्रव्य (चावल) पक्ष में है। यदि जौ-चावल दो द्रव्य हों (क्योंकि चरु तो चावल से ही बनता है), तो हवियों का ईक्षण-अपद्रव्यनिरसन-अभिमर्शन-आलम्भन पृथक्-पृथक् होते हैं। चरु में पेषण-सम्प्रवन, कपालोपधान आदि कार्य नहीं होते। पिसे हुए चावल पात्री में तथा बिना पिसे हुए चरु स्थाली में डालकर, उपसर्जनी जल आटे में मिला कर, चरु स्थाली में डाला जाता है। पुरोडाशों के आलम्भन में ऊह है—इदमग्नाविष्णवोः, इदं सरस्वतः। प्रथम पुरोडाश उस के उत्तर में चरु, उसके उत्तर में द्वितीय पुरोडाश रख कर, पुरोडाशों को ऊपर से तथा चरु को नीचे से तपाया जाता है।

प्राणदान (अञ्जन पृ० ४६) में ऊह—अग्नाविष्णु गच्छ, सरस्वतीं गच्छ, सरस्वन्तं गच्छ। अवबाधन (सामिधेनी-पाठ के समय यजमान द्वारा पैर के अंगूठों से भूमि-पीडन) में ऊह—सप्तदशेन वाग् वज्रेण। सामिधेनी ऋचाओं में—शोचिष्केशस्तमीमहो३म् के पश्चात्—पृथुपाजा···मूतयो३म् (ऋ० ३।२७।५,६) इन दो ऋचाओं का समावेश कर दिया जाता है। देवतावाहन, उत्तम प्रयाज तथा त्याग में अग्नि-अग्नीषोम के स्थान में अग्नाविष्णु, सरस्वती, सरस्वान् देवताओं का ऊह किया जाता है। प्रधान याग (पृ० ५३,५४) में—अग्नाविष्णु की पुरोनुवाक्या—ओ३म्—अग्नाविष्णा···गतो३म् (आश्वलायन श्रौत २।८।३), याज्या—ये० अग्नाविष्णू चरण्य३त् वौ३षट् (आश्वलायन श्रौत २।८।३); सरस्वती की पुरोनुवाक्या—ओ३म्—पावका ···धियावसो३म् (ऋ० १।३।१०), याज्या—ये० पावीरवी···यंम३द् वौ३षट् (ऋ० ६।४९।७); सरस्वान् की पुरोनुवाक्या—ओ३म्-पीपिवांसम्···मिषो३म् (ऋ० ७।९६।६), याज्या—ये० दिव्यं···जोहवीमि३वौ३षट् (ऋ० १।१६४।५२)। स्विष्टकृद्-याज्या (पृ० ५४,५५) में ऊह—अयाडग्नाविष्णवोः प्रिया धान्ययाट्

---

१. प्रकृति (द्र०—पृष्ठ ५०) की अपेक्षा दो सामिधेनी काष्ठों की वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार १७ सामिधेनी, २ आघार समित्, १ अनुयाज समित्—कुल बीस समित् होती है।

सरस्वत्याः प्रियाधामान्ययाट् सरस्वतः प्रिया०। भागपरिहरण (पृ० ५६) में आग्नावैष्णव पुरोडाश का चतुर्धाकरण नहीं होता, शेष दोनों का होता है। दक्षिणालम्भन तथा प्रतिग्रह में ऊह—ऊर्ग् [असि] के स्थान में पष्ठौही गौ-[रसि]। व्यूहन, सूक्तवाक तथा त्याग में भी देवता-ऊह किया जाता है।

वैश्वानर पार्जन्येष्टि—संकल्प, उद्धरण तथा ब्रह्मवरण (पृ० ४२) में 'वैश्वानर पार्जन्येष्टि' शब्द का प्रयोग होता है। पात्रासादन (पृ० ४३) में—बारह कपाल, एक चरु स्थाली, बीस इध्म काष्ठ, मेक्षण एवं पुरोडाशपात्री का समावेश होता है। यानी बिल जप तथा मुसलावधान में—देव शब्द बहुवचन के स्थान में द्विवचन ऊह होता है। हविर्निर्वाप-प्रोक्षण (पृ० ४४) में—अग्नये वैश्वानराय तथा पर्जन्याय; पुरोडाशों के आलम्भन में—इदमग्नेर्वैश्वानरस्य, इदं पर्जन्यस्य; प्राणदान (अञ्जन) में—अग्निं वैश्वानरं गच्छ, पर्जन्यं गच्छ; अवबाधन में—सप्तदशेन वाग्वज्रेण; देवावाहन में—अग्निं वैश्वानरमा३वह, पर्जन्यमा३वह; उत्तम प्रयाज में-स्वाहाग्निं वैश्वानरं स्वाहा पर्जन्यं स्वाहा देवान्,त्याग में-इदमग्नये वैश्वानराय पर्जन्याय, प्रधान याग (पृ० ५३) में वैश्वानर की पुरोनुवाक्या—ओ३म् -वैश्वानरो···ओजसो३म् (आश्वलायन श्रौत २।१५।२), याज्या—ये० पृष्टो...नक्त३वौ३षट् (ऋ० १।९८।२); पर्जन्य की पुरोनुवाक्या—ओ३म्—पर्जन्याय ...भिच्छतो३म् (ऋ० ७।१०२।१), याज्या—ये० प्रवाता...रेतसावति३वौ३षट् (ऋ० ५।८३।४)। स्विष्टकृद्-याज्या (पृ० ५५) में—अयाडग्नेर्वैश्वानरस्य प्रिया धामान्ययाट् पर्जन्यस्य प्रिया०। दोनों हवियों का चतुर्धाकरण (पृ० ५६) होता है। व्यूहन, सूक्तवाक (पृ० ५७) में भी वैश्वानर तथा पर्जन्य का ऊह होता है।

वैश्वदेव-पर्व

अन्वारम्भणीया अथवा वैश्वानरपार्जन्य इष्टि के पश्चात् वैश्वदेवपर्व आरम्भ होता है। यह पर्व प्राक्प्रवण (पूर्व की ओर नीची) भूमि पर किया जाता है। यजमान दम्पती नवीन (जो फटे न हों) वस्त्रों को धारण करते हैं और इन्हीं वस्त्रों का धारण वरुणप्रघास पर्व में भी किया जाता है। इस पर्व में आठ प्रधान याग, नौ प्रयाज तथा नौ अनुयाज होते हैं। प्रधान यागों की देवता एवं हवियां हैं—१. अग्नि—अष्टाकपाल पुरोडाश, २. सोम—चरु, ३. सविता—द्वादशकपाल या अष्टाकपाल पुरोडाश (उपांशु), ४. सरस्वती—चरु, ५. पूषा—चावल के आटे का चरु, ६. मरुत् स्वतवान् या मरुत्—सप्तकपाल पुरोडाश ७. विश्वदेव—पयस्या (उपांशु), ८. द्यावापृथिवी—एककपाल पुरोडाश (उपांशु)। नौ प्रयाजों (पृ० ५१) की क्रमशः देवता हैं—समित्, तनूनपात् या नराशंस, इड, बर्हि, द्वार, उषासानक्ता, दैव्या होतारा, तिस्रो देवीः, स्वाहा। नौ अनुयाजों (पृ० ५६) की क्रमशः देवता हैं—बर्हि, द्वार, उषासानक्ता, जोष्ट्री, ऊर्जाहुति, दैव्या होतारा, तिस्रो देवीः, तनूनपात् या नराशंस, अग्नि स्विष्टकृत्।

पूर्वोक्त अन्वारम्भणीया अथवा वैश्वानरपार्जन्य इष्टि कर के ऋत्विग्-वरण, पञ्च-भूसंस्कार (पृ० ४१), अग्नि का उद्धरण-अन्वाधान (पृ० ४१) यथेष्ट ऊह के साथ किया जाता है। इस के पश्चात् दर्शेष्टि (पृ० ५९) के अनुसार शाखा का छेदन, सीधा करना, डालीपत्ते साफ करना, शाखा के मूल भाग को काट कर उपवेश (पृ० ३६) बनाना, शेष शाखा में पवित्र (२ कुश) बांधना, पयस्या के लिए गौओं का दोहन, शाखा

से बछड़ों को हटाना एवं शाखा का पूर्व दिशा में उपगूहन (गाड़ना)—ये विधियां की जाती हैं और विश्वदेव आदि देवतावाची पदों का ऊह यथावसर किया जाता है। दूध को गर्म कर के जमा दिया जाता है। रात को यजमान दम्पती अग्नि-शाला में ही शयन करते हैं।

अगले दिन प्रातः अग्निहोत्र के बाद छह आसन (पृ० ४२) बिछाये जाते हैं। ब्रह्मा का वरण (पृ० ४२) 'ऐष्टिक वैश्वदेव पर्वणा' ऊह पूर्वक किया जाता है। पात्रासादन (पृ० ४३) में—२४ या २८ कपाल, ३ चरुस्थालियां, दोहन-चतुष्टय (शाखा, उखा=हांडी, पवित्र, दोहनपात्र), दक्षिणा के लिए बैल, २० इध्म काष्ठ, फूले हुए कुशों का प्रस्तर एवं तीन मुट्ठी बर्हि को पृथक्-पृथक् पूली बांध कर, पुनः चारों एक बन्धन में बंधे हुए, मेक्षण, वाजिनपात्र, २-४ पुरोडाश पात्रियां, मन्थन-चतुष्टय (अधरारणि, प्रमन्थ, शकल, दो कुशतृण), केशछेदनार्थ क्षुर-चतुष्टय (छुरा, नौ कुशतृण, साही का कांटा, जल)—इन का समावेश किया जाता है। पुरोडाश तथा चरु के द्रव्यों का भेद (यव-व्रीहि) हो, तो दोनों का ईक्षण-अपद्रव्यनिरस-अभिमर्शन (पृ० ४४) पृथक्-पृथक् किया जाता है। हविर्निर्वाप (पृ० ४४) में—अग्नये त्वा जुष्टं गृह्णामि, सोमाय०, सवित्रे० इत्यादि तथा हविःप्रोक्षण (पृ० ४४) में—अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि, सोमाय, सवित्रे० इत्यादि देवता-ऊह किया जाता है। हवि के उलूखल में डालने से लेकर फलीकरण (फटकने) तक प्रकृतिवत् तीन बार कण्डन विधि की जाती है।

पुरोडाश तथा चरु के लिये चावलों का विभाग कर के आलम्भन—इदमग्नेर्भवतु, इदं सोमस्य भवतु इत्यादि से किया जाता है। इस के पश्चात् अग्नीत् कपालोपधान (पृ० ४५) तथा अध्वर्यु हविःपेषण (पृ०४५) करता है। कपालोपधान-क्रम यह है— आग्नेय आठ कपाल, उस के उत्तरोत्तर—एक चरु स्थान, सविता के आठ या बारह कपाल, दो चरु स्थान, मरुतों के सात कपाल, एक पयस्या स्थान, द्यावापृथिवी का एक हथेली के परिमाण वाला कपाल। कपालतपन में एक कपाल केलिए तपसा तप्यस्व ऊह होता है। अग्नीत् गार्हपत्य में जल(उपसर्जनी) गर्म करता है और यजमान वेद का निर्माण करता है (पृ० ४६)। कृष्णाजिन पर चावल का पिसा हुआ चूर्ण गिराने तक विधि कर के, दर्शेष्टि में वर्णित (पृ० ५९,६०) विधि के अनुसार गोदोहन किया जाता है। ईक्षण के पश्चात् पूषा के लिए पिष्ट (चूर्ण) को अलग करके—इदमग्नेर्भवतु आदि से क्रमशः अग्नि, सविता, मरुत् स्वतवान् या मरुत्, द्यावापृथिवी, पूषा के पिष्टों और सोम तथा सरस्वती के चावलों का आलम्भन किया जाता है। पिष्टों को पात्री में, चरु हवि को पवित्र रख कर चरुपात्र में तथा पूषा के पिष्ट को चरुस्थाली में डालते हैं। केवल चावलों को तीन बार धोया जाता है, अन्य हवि को नहीं। उपसर्जनी का आनयन, हवियों में निनयन (गिराना), पिष्टसंयवन (आटा गूंदना) तथा विभाग प्रकृतिवत् (पृ० ४६) करके पूर्ववत् आलम्भन किया जाता है। सविता का पिण्ड अन्यों की अपेक्षा बड़ा होता है। सब का अधिश्रयण, पर्यग्निकरण तथा श्रपण किया जाता है (पृ० ४६)। चरु तथा दूध को नीचे से और पुरोडाश को ऊपर से पकाते हैं। दूध के तप्त हो जाने पर उस में पिछली रात को जमाया हुआ प्रभूत दधि डाल दिया जाता है, जिस से वह आमिक्षा तथा वाजिन में विभक्त हो जाता है। 'मा भेः' से उस का आलम्भन किया जाता है। पके हुए पुरोडाश भस्म से ढक दिये जाते हैं। पिष्ट लगी अङ्गुलियों को धो कर जल आप्त्य देवताओं के लिये गिरा दिया जाता है। वेदिमान से प्राणदान (अञ्जन) (पृ० ४६-४९) तक की जानेवाली विधियों में केवल इतना विशेष है—कुश-बर्हियों के बन्धन खोल कर श्रोणि पर रख दिये जाते हैं, घृतावदान के पश्चात् मेक्षण का सम्मार्जन एवं तपन होता है और वाजिन पात्र का सम्मार्जन होता है। अग्नि पर रखे पयस्या सहित वाजिन का अथवा अग्नि से उतार कर पृथक्-

पृथक् पात्रों में डालकर दोनों का अभिघारण घृत से किया जाता है। प्राणदान मन्त्र में—अग्नि गच्छ, सोमं गच्छ इत्यादि देवता-ऊह होता है। द्यावापृथिवीय पुरोडाश को आशयस्थाली नामक पात्र में रख कर पात्र में इतना घृत भरा जाता है कि पुरोडाश का मस्तक भाग ही दिखाई देता है, शेष घृत में डूबा रहता है। सब हवियों को उत्तर क्रम से रख कर तथा वाजिन को उत्कर के समीप रख कर सब का आलम्भन किया जाता है। आत्मालम्भन तथा जल स्पर्श के पश्चात् अग्निमन्थन किया जाता है।

अग्निमन्थन—शकल (पलाश की समित्) को अग्नेर्जनित्रमसि (यजु० ५।२) से लेकर वेदि के बीच में उत्तर की ओर अग्र भाग कर के रखा जाता है। वृषणौ स्थः(यजु० ५।२)से शकल के ऊपर दो पूर्वाग्र दर्भ-तृण रख कर, उर्वश्यसि (यजु०५।२) से उन तृणों के ऊपर उत्तराग्र अधरारणि रख कर, आयुरसि (यजु०५।२) से प्रमन्थ (उत्तरारणि-खण्ड) के मुख पर आज्यस्थाली से घी लगा कर, पुरुरवा असि (यजु० ५।२) से तीर्थ (अधरारणि के उपयुक्त स्थान) पर प्रमन्थ रखा जाता है। इस के बाद चात्रफलक (बरमे के मध्यस्थित गोल भाग की ऊपरी कील) पर उदगग्र ओविली (ऊपर से दबानेवाले भाग) को रख कर एक आदमी ओविली को दोनों हाथों से दबाता है। अध्वर्यु चात्र को नेत्र (रस्सी) से तीन बार लपेट कर होता को प्रैष देता है—अग्नये मथ्यमानायानुब्रू३हि । तदनन्तर अध्वर्यु—गायत्रेण···मन्थामि, त्रैष्टुभेन···मन्थामि, जागतेन···मन्थामि (यजु० ५।२) प्रत्येक मन्त्र से तीन-तीन बार प्रदक्षिण मन्थन करता है। साथ ही होता सामिधेनी स्थान से पश्चिम में खड़ा हो कर, तीन हिंकार पूर्वक व्याहृति का उच्चारण करके मन्थनीय अनुवाक्याओं का पाठ करता है—हिं हिं हिं भूर्भुवःस्वरो३म्—अभित्वा···गमीमहो३म् (ऋ० १।२४।३), ओ३म्—मही···भरीमभो३म् (ऋ० १।२२।१३), ओ३म् त्वामग्ने···वाघतो३म्' तमु···पुरन्दरो३म्' तमु···दस्युहन्तमम् (ऋ० ६।१६।१३—१५)। यदि इन ऋचाओं का पाठ होने तक अग्नि उत्पन्न नहीं होती है, तो होता रक्षोघ्न सूक्त (ऋ० १०।११८) का पाठ पुनः पुनः करता है। अग्नि उत्पन्न होने पर अध्वर्यु—जातायानुब्रू३हि—प्रैष देता है। यदि सूक्तपाठ के मध्य में अग्नि उत्पन्न होती है, तो होता अनन्तर प्रणव (ऋक् की समाप्ति) पर रुक कर, पूर्व अवशिष्ट आधी ऋक् तथा अन्य ऋचाओं का पाठ करता है—घन···रणो३म् (ऋ० ३।१६।१५), उत···रणो३म् (ऋ० १।७४।३), आयं···विभ्रति (ऋ० ६।१६।४०)। 'आयं' इस आधी ऋचा के बोलते ही अध्वर्यु अग्नियुक्त अरणि को हाथ में उठा कर होता को प्रैष देता है—प्रह्रियमाणायानुब्रू३हि । तब होता पूर्वोक्त अर्द्धर्च से आगे पाठ करता है—विशामग्निं स्वध्वरो३म् (ऋ० ६।१६।४०), ऋ० ६।१६।४१-४२, ऋ० १।१२।६, ऋ० ८।४३।१४, ८।८४।८ और पुनः परिधानीया (अन्तिम) ऋचा ऋ० १०।६०।१६ । अध्वर्यु—ओ३म्—भवं तन्न···भवतमद्य नः (यजु० ५।३) से आहवनीय में अग्नि को डाल देता है और स्रुव द्वारा स्थाली से आज्य निकाल कर—ओ३म्—अग्नाव-युच्छन् स्वाहा (यजु० ५।४) से आहुति देता है। यजमान—इदमग्निभ्यां न मम—त्याग करता है।

इस के पश्चात् 'एहि होतः' आमन्त्रणादि विधियां प्रकृतिवत् होती हैं। अववाध में—सप्तदशेन वाग्वज्रेण ऊह होता है। पूर्ववत् शोचि···वनो३म सामिधेनी के पश्चात् ऋ० ३।२७।५,६ दो सामिधेनी ऋचाओं का समावेश किया जाता है। देवतावाहन में ऊह—अग्निमा३वह, सोममा३वह (उपांशु) इत्यादि आठों देवताओं का उल्लेख होता है। इस के पश्चात् नौ प्रयाजों (जिन की देवताओं का निर्देश पहले किया

जा चुका है) का अनुष्ठान होता है। प्रकार यह है—अध्वर्यु (अग्नीत् के प्रति)—ओ३श्रा३वय। अग्नीत्—अस्तु श्रौ३षट्। अध्वर्यु (होता के प्रति)—समिधो यज। होता—ये३ यजामहे समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु३वौ३षट्। आश्रावण काल में अध्वर्यु घृत से भरी जुहू तथा उपभृत् को ऊपर-नीचे रख कर नाभि के समीप धारण किये हुए खड़ा रहता है और वौ३षट् सुनते ही जुहू को सामने की ओर से आगे बढ़ा कर तृतीय अंश घृत की आहुति आहवनीय में डालता है। यजमान—इदं समिद्भ्यो न मम—त्याग कर के अनुमन्त्रण करता है—एको मम···भूयासम्। इसी प्रकार अगले आठ प्रयाजों में भी किया जाता है। अन्तिम प्रयाज की याज्या में देवता-ऊह किया जाता है—ये० स्वाहाग्निं स्वाहा सोमं स्वाहा देवान्···वौ३षट्। प्रयाजों के पश्चात् प्रयाज-शेष से सब हवियों का अभिघारण किया जाता है। तदनन्तर अग्नि एवं सोम के लिए आज्य भाग आहुतियां दी जाती हैं। अग्नि के आज्यभाग की पुरोनुवाक्या है—त्वमग्ने···वितन्वतो३म् (ऋ० ५।१३।४), याज्या प्रकृतिवत् है—ये० जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु३ वौ३षट्। सोम की पुरोनुवाक्या है—सोम यास्ते···भवो३म् (ऋ० १।९१।९), याज्या प्रकृतिवत् है—ये० जुषाणः सोम आज्यस्य हविषो वेतु३ वौ३षट्। इस के पश्चात् प्रधान याग होता है।

प्रधान याग—अनुष्ठान विधि प्रकृति (पृ० ५३) के समान है। आग्नेय याग की प्रक्रिया यहां दी जा रही है—अध्वर्यु बैठकर (होता के प्रति)—अग्नयेऽनुब्रू३हि। होता पुरोनुवाक्या को बोलता है—ओ३म्-अग्नि···जिन्वतो३म् (ऋ० ८।४४।१६)। अध्वर्यु ध्रुवा से स्रुव द्वारा जुहू में उपस्तार (थोड़ा घृत गिराना) कर के, ध्रुवा का आप्यायन (आज्यस्थाली से स्रुव द्वारा ध्रुवा में घृत डालना), आग्नेय पुरोडाश से दो बार अङ्गुष्ठ पर्वमात्र अवदान, ध्रुवा से स्रुव द्वारा अभिघार (अधिक घी डालना, ४ या ५ बार); पुनः ध्रुवा का आप्यायन, पुरोडाश के क्षत का अभ्यङ्ग करता है और खड़ा हो कर, आगे बढ़कर अग्नीत् को प्रैष देता है—ओ३ श्रा३वय। अग्नीत्-अस्तु श्रौ३षट्। अध्वर्यु होता को प्रैष देता है—अग्निं यज। होता याज्या पढ़ता है—ये३० भुवो···हव्यवाहं३ वौ३षट् (ऋ० १०।८।६)। यजमान त्याग करता है-इदमग्नये न मम। इसी विधि से अन्य याग भी किये जाते हैं, उन की पुरोनुवाक्याओं तथा याज्याओं का निर्देश आगे किया जाता है—

देवता	पुरोनुवाक्या		याज्या	
२. सोम	सोम···भवो३म्	(ऋ० १।९१।९),	ये३ या ते···गृभाय३ वौ३षट्	(ऋ० १।९१।४)
३. सविता	हिरण्य···पदो३म्	(ऋ० १।२२।५)	उदीरय···सुवाति३ ,,	(ऋ० ५।४२।३)
४. सरस्वती	पावका···वसो३म्	(ऋ० १।३।१०)	पावीरवी···यस३त् ,,	(ऋ० ६।४९।७)
५. पूषा	पूषस्तव···स्मसो३म्	(ऋ० ६।५४।९)	शुक्र···रस्तु ३ ,,	(ऋ० ६।५८।१)
६. मरुत् स्वतवान्	इहेह···आगुणो३म्	(ऋ० ७।५९।११)	प्र चित्र···मखेभ्यो३म् ,,	(ऋ० ६।६६।९)
७. विश्वदेव	विश्वे···षीदतो३म्	(ऋ० ६।५२।७)	स्तीर्णे मादयध्वं३ ,,	(ऋ० ६।५२।१७)
८. द्यावापृथिवी	मही···मभो३म्	(ऋ० १।२२।१३)	उर्वी···अम्बा३त् ,,	(ऋ० १।१८५।७)

प्रधान याग के सम्पन्न होने पर स्विष्टकृत् अग्नि को हवि प्रदान की जाती है। उस की पुरोनुवाक्या प्रकृतिवत् है—प्रे दो···वाजो३म् (ऋ० ७।१।३)। स्विष्टकृत्-याज्या में—ये३··· अयाडग्नेः प्रिया धामान्याट् सोमस्य प्रिया०··· इत्यादि देवता-ऊह किया जाता है और जुषतां हविः से आगे के अंश के स्थान में अग्ने···अध्व३ वौ३षट् (ऋ० ६।१५।१४) इस ऋक् का पाठ किया जाता है। इस के पश्चात् हवियों के सब कृत्य होते हैं

सप्तकपाल पुरोडाश तथा पयस्या का चतुर्धाकरण नहीं किया जाता है। दक्षिणा के आलम्भन (पृ० ५६) में ऊर्गसि स्थान में प्रथजो गौरसि ऊह किया जाता है। शेष प्रकृतिवत् होता है।

इस इष्टि में नौ अनुयाज होते है, यह पहले कहा जा चुका है। प्रकृति में कथित (पृ० ५६) प्रथम अनुयाज के पश्चात् छह अनुयाजों का समावेश कर के, प्रकृति के द्वितीय-तृतीय अनुयाज यहां आठवां-नवां बन जाते हैं। द्वितीय अनुयाज के अनुष्ठान की विधि निदर्शनार्थ प्रस्तुत है—अध्वर्यु—ओ३ श्रा३वय। अग्नीत्—अस्तु श्रौ३षट्। अध्वर्यु—देवान् यज। होता (याज्या)—ओ३म्—देवीर्द्वारो वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु३ वौ३षट्। यजमान—इदं देवीभ्यो द्वाभ्यों न मम। अनुयाज-देवताओं का यथाक्रम निर्देश ऊपर हो चुका है। अनुयाजों के पश्चात् बैठे हुए अध्वर्यु उपभृत् में बचे हुए घी को जुहू में डाल कर प्रकृतिवत् देवेभ्यः स्वाहा से धारानुयाज करता है और यजमान इदं देवेभ्यो न मम त्याग करता है। व्यूहन में—अग्ने सोमस्य (उपांशु) सवितुः सरस्वत्याः पूष्णो मरुतां स्वतवसां (उपांशु) विश्वेषां देवानां (उपांशु) द्यावापृथिव्योरुज्जि० और इसी प्रकार अग्निः सोमः···द्यावापृथिव्यौ तमपनुदन्तु—देवता-ऊह किया जाता है। सूक्तवाक में—अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महो ज्यायोऽकृत इत्यादि देवता-ऊह होता है। सूक्तवाक के अन्त में प्रस्तरहोम के त्याग (पृ० ५७) में—इदमग्नये सोमाग्नये सोमाय सवित्रे···द्यावापृथिवीभ्यां···न मम—देवता-ऊह किया जाता है। पवित्र बंधी हुई शाखा सहित प्रस्तर अग्नि में फेंका जाता है। उस के बाद प्रस्तर से निकाले हुए तृण को भी फेंक कर, अपना आलम्भन तथा जल-स्पर्श कर के वाजिन याग किया जाता है।

वाजिन याग—वाजिनपात्र से जुहू में वाजिन इस प्रकार डाला जाता है कि जुहू से निकल कर बर्हियों पर बहने लगता है। तब अध्वर्यु होता को प्रैष देता है—वाजिभ्योऽनुब्रू३हि। होता पुरोनुवाक्या पढ़ता है—शन्नो···मीवो३म् (ऋ० ७।३८।७। तदनन्तर आश्राव-प्रत्याश्राव पूर्वक अध्वर्यु होता को प्रैष देता है—वाजिनो यज। होता याज्या का पाठ करता है—ये३···वाजे वाजे···देवयानै३र्वौ३षट् (ऋ० ७।३८।८)। यजमान त्याग करता है—इदं वाजिभ्यो न मम। पुनः होता अनुवषट्कार करता है—ओ३म्—वाजिनस्याग्ने वीहि३ वौ३षट्। यजमान पुनः त्याग करता है—इदमग्नये न मम।

दिशाओं का अभिघारण—शेष वाजिन से दिशाओं का अभिघारण किया जाता है। विधि इस प्रकार है—पूर्व में—दिशः स्वाहा, इदं दिग्भ्यो न मम। दक्षिण में—प्रदिशः स्वाहा, इदं प्रदिग्भ्यो न मम। पश्चिम में—आदिशः स्वाहा, इदमादिग्भ्यो न मम। उत्तर में—विदिशः स्वाहा, इदं विदिग्भ्यो न मम। मध्य में—उद्दिशः स्वाहा, इदमुद्दिग्भ्यो न मम। पूर्वार्द्ध में-दिग्भ्यः स्वाहा, इदं दिग्भ्यो न मम।

वाजिन भक्षण—अभिघारण के पश्चात् उपह्वान पूर्वक वाजिन भक्षण किया जाता है—होता वाजिन को हाथ में ले कर अध्वर्यु आदि से पूछता है—अध्वर्यो उपह्वयस्व, ब्रह्मन्नुपह्वयस्व, अग्नीदुपह्वयस्व, यजमानोपह्वयस्व। अध्वर्यु आदि के उपहूतः बोलकर अनुमति देने पर होता वाजिन भक्षण करता है। इस प्रकार क्रमशः अध्वर्यु-ब्रह्मा-अग्नीत्-यजमान भी उपह्वान पूर्वक भक्षण करते हैं। वाजिन का भक्षण—ओ३म् ऋतूनां···भूयासम् (कात्यायन श्रौत ४।४।२०-२२) इन तीन मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण करके किया जाता है। वाजिन का वास्तविक भक्षण यजमान करता है, चारों ऋत्विज केवल सूंघते हैं।

इस के पश्चात् अन्य विधियां प्रकृतिवत् होती हैं। समिष्टयजुर्होम में एक या तीन का विकल्प है (कात्यायन श्रौत ५।२।९.१२)। प्रकृति में वात देवता के लिए देवा गातुविदः…(यजु० ८।२१) से एक आहुति कही गई है। तीन आहुति पक्ष में उस के अतिरिक्त, यज्ञ तथा यज्ञपति देवताओं के लिए क्रमशः यज्ञ यज्ञं… (यजु० ८।२२) तथा एष ते (यजु० ८।२२) से ध्रुवा में बचे हुए घी से ध्रुवा के द्वारा ही आहुतियां दी जाती हैं।

वपन—इष्टि की समाप्ति पर ऐच्छिक वपन का विधान है। वपन की विधि इस प्रकार है—दक्षिणाग्नि के पश्चिम में यजमान को पूर्वाभिमुख बैठा कर, अध्वर्यु स्वयं उत्तराभिमुख हो कर यजमान के दक्षिण गोदान (सिर के भाग) को ओ३म्—सवित्रा…वर्चसे (कात्यायन श्रौत ५।२।१४) मन्त्रोच्चारण पूर्वक जल से भिगोता है। फिर साही के कांटे से तीन स्थलों पर केशों को पृथक् कर के तीन कुशों को ओ३म्–ओषधे त्रायस्व (यजु० ४।१) से रख देता है। यजमान—ओ३म्–त्र्यायुषम् (यजु० ३।६२) मन्त्र का जप करता है। अध्वर्यु—ओ३म्—शिवो नामासि…हिंसीः (यजु० ३।६४) मन्त्र से छुरे को ले कर ओ३म्–निवर्तयामि… सुवीर्याय (यजु० ३।६३) से केशों को काटता है। इसी प्रकार अध्वर्यु पश्चिम एवं उत्तर के बाल काटता है। इस के पश्चात् नाई सम्पूर्ण बाल काटता है।

वैश्वदेव इष्टि के अनन्तर पौर्णमासेष्टि की जाती है। यजमान सौ ब्राह्मणों को भोजन कराता है।

वरुणप्रघास पर्व

वैश्वदेव पर्व से चार मास के पश्चात् अर्थात् अषाढ़ या श्रावण मास की पूर्णमासी को वरुणप्रघास पर्व का अनुष्ठान किया जाता है। इसकी प्रकृति वैश्वदेव है, अतः सामान्य विधियां वैश्वदेव पर्व के समान हो की जाती हैं। विशेष विधियों का उल्लेख यहां किया जायेगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस पर्व में यजमान-दम्पती उन्हीं वस्त्रों को धारण करते हैं, जिन को उन्होंने वैश्वदेव पर्व में धारण किया था (नष्ट होने पर नये वस्त्र भी पहिने जा सकते हैं)। इस पर्व में ऋत्विजों की संख्या में एक की वृद्धि हो जाती है—ब्रह्मा-होता-अध्वर्यु-अग्नीत् के अतिरिक्त प्रतिप्रस्थाता का समावेश अध्वर्यु के सहायक के रूप में किया जाता है। इस पर्व में दर्शपौर्णमासिक वेदि के अतिरिक्त दो वेदियां बनाई जाती हैं—उत्तरावेदि तथा दक्षिणावेदि। उत्तरावेदि का नियन्त्रण अध्वर्यु करता है, जब कि दक्षिणावेदि पर किये जानेवाले अनुष्ठानों का दायित्व प्रतिप्रस्थाता को सौंपा जाता है। उत्तरावेदि में अध्वर्यु जिन विधियों का अनुष्ठान मन्त्र-सहित करता है उन्हीं का अनुष्ठान प्रतिप्रस्थाता दक्षिण वेदि में तूष्णीम् (मन्त्ररहित) करता है। प्रतिप्रस्थाता आगे लिखी विधियों का अनुष्ठान नहीं करता—प्रणीता-पत्नीसन्नहन-अग्निमन्थन-आश्राव-प्रत्याश्राव-प्रैष-यजमानवाचनहोतृवरण-वरण-प्राशित्र-अङ्गुलिपर्वाञ्जन-अवान्तरेडाभाग-अपराग्नि-अवभृथ। पयस्याओं के वाजिनों को दोनों मिल कर उत्कर के समीप रखते हैं।

इस पर्व में नौ प्रधान यागों, नौ प्रयाजों तथा नौ अनुयाजों का अनुष्ठान किया जाता है। प्रयाजों तथा अनुयाजों की देवताएं प्रकृतिवत् (वैश्वदेव के समान) ही हैं। प्रधान यागों की देवताओं एवं हव्य द्रव्यों में से पांच प्रकृतिवत् ही हैं, चार देवताएं तथा हवियां नई हैं। प्रधानयाग की नौ देवताएं तथा हवियां हैं—१. अग्नि–अष्टाकपाल पुरोडाश, २. सोम–चरु, ३. सविता–द्वादशकपाल या अष्टाकपाल पुरोडाश, ४. सरस्वती–चरु, ५. पूषा–चावल के आटे का चरु, ६. इन्द्राग्नि–द्वादशकपाल पुरोडाश, ७. वरुण–पयस्या, ८. मरुत्–पयस्या, ९. क (= प्रजापति)–एककपाल पुरोडाश (उपांशु)।

करम्भपात्र--याग से पहले दिन अर्थात् चतुर्दशी को यजमान-पत्नी अथवा प्रतिप्रस्थाता करम्भपात्रों का निर्माण करता है। निर्माण-विधि इस प्रकार है--जौ को तुषरहित कर के गार्हपत्य अग्नि पर थोड़ा भून लिया जाता है। फिर उनको पीस कर, उष्ण जल तथा स्वल्प घृत (या दही) डाल कर पिट्ठी बनाई जाती है। इस पिट्ठी से दीपक के आकारवाले गोल पात्र तैयार किये जाते हैं। इन्हीं को करम्भपात्र (करम्भ=भुने हुए जौ) कहा जाता है। इन पात्रों की सख्या यजमान के ज्ञातियों (पुत्र-पौत्र आदि सम्बन्धी) की संख्या से एक अधिक होती है। यदि यजमान-दम्पती निः-सन्तान हो, तब तीन करम्भपात्र बनाये जाते हैं, क्योंकि श्रुति (करम्भपात्राणि कुर्वन्ति--शत० ब्रा० २।५।२।१४) में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। बची हुई जौ की पिट्ठी से उसी दिन अथवा अगले दिन (पूर्णमासी) अध्वर्यु मेष (भेड़ के समान आकारवाला पशु) तथा प्रतिप्रस्थाता मेषी का निर्माण करता है। मेष-मेषी के ऊपर सफेद ऊन (जो भेड़ की न हो) या कुशमञ्जरी चिपका दी जाती है। नर-मादा का भेद दर्शाने के लिए मेष के सिर पर सींग लगाये जाते हैं और मेषी को सींग-रहित रखा जाता है।

संकल्प आदि में 'वरुण प्रघासहर्विभिर्यक्ष्ये' इस प्रकार यथेष्ट ऊह कर के अन्वाधान तक के कर्म किये जाते हैं। पात्रासादन में--बत्तीस कपाल, दो आमिक्षास्थाली, तीन चरुस्थाली, पांच मेक्षण, दो सौ से अधिक शमी-पत्र, सौ से अधिक करीर फल, शूर्प (सूप), करम्भपात्र, मेष-मेषी, दुगने यज्ञपात्र, दुगने इध्माबर्हि, दक्षिणार्थ बछड़ेवाली गौ, घोड़ा या ६-८ बैल--इन सम्भारों का समावेश किया जाता है।

वेदि-निर्माण--अध्वर्यु दर्शपूर्णमास की आहवनीय अग्नि से पूर्व की ओर दो कदम भूमि संचार के लिए छोड़ कर उत्तरा वेदि का निर्माण करता है। यह वेदि सामान्य वेदि से कुछ बड़ी होती है, इस के पूर्व की ओर मध्य में एक चौकोन चबूतरा चार अंगुल ऊंचा बनाया जाता है, जो उत्तरवेदि कहा जाता है। उत्तर वेदि के बीच में कुछ ऊंची नाभि बनाई जाती है जिस का परिमाण अश्व या गौ के खुर के समान होता है। उत्तरा वेदि के बाहर उत्तर की ओर उत्कर (छोटा गड्ढा) बनाया जाता है और उत्कर से पूर्व की ओर चात्वाल नामक गड्ढा खोदा जाता है जिस की मिट्टी से पूर्वोक्त उत्तरवेदि बनाई जाती है। उत्तरा वेदि के दक्षिण में तेरह अङ्गुल सचार मार्ग छोड़ कर प्रतिप्रस्थाता दक्षिणा वेदि का निर्माण करता है, इस का परिमाण दार्शपौर्णमासिक वेदि के समान होता है। इस वेदि में भी उत्तरवेदि एवं नाभि उत्तरा वेदि के समान बनाई जाती है। दोनों नाभियां आहवनीय स्थानीय होती हैं, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि केवल एक-एक ही होती हैं। वस्तुतः वेदि निर्माण पूर्व दिवस ही कर लिया जाता है। वेदि निर्माण के पश्चात् अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता शाखाहरण से सायं दोहन तक विधियों का अनुष्ठान प्रकृतिवत् करते हैं। वारुणी पयस्या के लिए अध्वर्यु और मारुती पयस्या के लिए प्रतिप्रस्थाता दोहन करता है।

अगले दिन अग्निहोत्र के पश्चात् अध्वर्यु अग्नियों का परिस्तरण (कुश बिछाना) करता है। उत्तरा वेदि में अध्वर्यु तथा दक्षिणा वेदि में प्रतिप्रस्थाता पात्रों का आसादन (रखना) करता है। ब्रह्मा को दक्षिणा वेदि के दक्षिण में बैठा कर अध्वर्यु प्राकृत वेदि का परिस्तरण करता है। पवित्राओं का निर्माण दोनों करते हैं। अध्वर्यु प्रणीता-प्रणयन करता है। दोनों अपने-अपने पात्रों का प्रोक्षण करते हैं। प्रातःकाल का दोहन भी सायंकाल के समान ही होता है। अध्वर्यु कपालोपधान करता है, प्रतिप्रस्थाता कपालों पर अङ्गार रखता है और मारुती स्थाली में दूध डाल कर पकाता है। अध्वर्यु वारुणी स्थाली में दूध डाल कर पकाता है। अध्वर्यु वारुणी आमिक्षा-वाजिन तैयार करता है और प्रतिप्रस्थाता मारुती आमिक्षा-वाजिन बनाता है।

अग्नि-प्रणयन---प्रकृति में गार्हपत्य से अग्नि ले कर आहवनीय में रखी जाती है, जिस में प्रधान याग किया जाता है। आपस्तम्ब के मतानुसार इस पर्व में भी दर्शवत् अग्नि-प्रणयन होता है, किन्तु कात्यायन आहवनीय से अग्नि का उद्धरण-प्रणयन मानता है। अग्नि-प्रणयन की विधि इस प्रकार है—अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता दोनों आहवनीय में इध्म डाल देते हैं जिस से अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। अध्वर्यु पञ्चगृहीत संस्कृत आज्य लेकर प्रोक्षणी-जल को परिकर्मी (बाह्य कर्म कर्त्ता) को दे कर तथा ब्रह्मा को देवदारु की तीन परिधि, गुग्गुलु आदि सुगन्धित द्रव्य दे कर प्रैष देता है—अग्नये प्रणीयमानायानुब्रूहि। होता के 'अयमुष्य' (ऋ० १०।१७६।३) यजमान-दम्पती द्वारा अन्वारब्ध (कुश से स्पर्श करते हुए) अध्वर्यु अपने इध्म को मिट्टी की उद्धरण पात्री के ऊपर रखी हुई, चात्वाल की मिट्टी से पूर्ण उपयमनी (मिट्टी की बनी तथा पकी हुई पात्री) में रख कर उत्तर की ओर खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता भी अपने इध्म को उपयमनी में ले कर खड़ा हो जाता है। किन्हीं के मत से सम्पूर्ण आहवनीय को दो भागों में विभक्त कर के अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता उठाते हैं। अध्वर्यु आदि उत्तरा वेदि के उत्तर की ओर जाकर खड़े हो जाते हैं। अग्नीत् उन के पदचिह्नों को स्फ्य से मिटा देता है। उसी समय प्रतिप्रस्थाता दक्षिण मार्ग से, दोनों वेदियों के मध्य से जाकर दक्षिणा वेदि के पूर्व में पश्चिम को मुंह करके खड़ा होता है। अध्वर्यु अग्नि को अन्य के हाथ में देकर परिकर्मी के हाथ से प्रोक्षणी ले कर 'इन्द्र घोषस्त्वा' (य० ५।११) मन्त्रों से नाभि का प्रोक्षण करता है। फिर पञ्चगृहीत आज्य से 'सिंह्यसि' (य० ५।१०) मन्त्रों से व्याघारण (धारा) करता है और यजमान 'उत्तरवेद्या इदं न मम' त्याग करता है। तदनन्तर 'विश्वायुरसि' (तै० सं० १।२।१२।३) मन्त्रों से परिधियों का परिधान (स्थापन) करता है और 'अग्नेर्भस्मासि' (य० १२।४४) मन्त्र से गुग्गुलु आदि द्रव्य नाभि में रख कर उत्तरवेदि के पूर्व में जाकर उक्त सम्भारों के ऊपर 'यज्ञ प्रतितिष्ठ' (तै० ब्रा० २।५।८।१२) मन्त्र से अग्नि को स्थापित कर देता है। प्रतिप्रस्थाता भी दक्षिणा वेदि की नाभि पर अग्नि को विना मन्त्र के ही रख देता है और उपयमनी में रखी मिट्टी को अग्नि के समीप डाल देता है। इस के पश्चात् अध्वर्यु 'अग्निर्यज्ञं नयतु प्रजानन्' तीन ऋचाओं से, यजमान 'अग्निरन्नादो' (शत० ब्रा० ११।४।३।८) तीन मन्त्रों से तीन-तीन आहुतियां देते हैं और यजमान यथोचित त्याग करता है। प्रतिप्रस्थाता भी एक आहुति तूष्णीम् देता है।

इस के पश्चात् उत्तर पात्र ग्रह, प्रोक्षणी-आसादन, आज्य-दधि का आसादन, आज्य-आसादन आदि विधियों को अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता पृथक्-पृथक् करते हैं। अध्वर्यु पृषदाज्य (दही-घी) 'ज्योतिरसि' (शत०ब्रा० १४।६।३।६) मन्त्र से ग्रहण तथा 'घृताच्यसि' (य० २।६) मन्त्र से सादन करता है (अथवा प्रकृतिवत्)। यह पृषदाज्य अनुयाजार्थ है। इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता भी विना मन्त्र पृषदाज्य ग्रहण-सादन करता है। आगे प्रकृतिवत् यथोचित ऊह के साथ परिधि-परिधानादि होते हैं। अध्वर्यु आग्नेय से ऐन्द्राग्न तक हवियों का उद्वासन (बाहर निकालना) करता है। प्रतिप्रस्थाता व्युद्धरण पात्री में उपस्तरण अभिघारण करके मारुती आमिक्षा का अवदान करके, उसके उपर मेषी को रख कर, उस के मुख पर शमी पत्र तथा करीर रख कर, उस पर वाजिन डाल कर 'यस्त आत्मा' (तै० ब्रा० १।२।१।२२) मन्त्र से अलंकृत करता है। इसी प्रकार अध्वर्यु वारुणी आमिक्षा का उद्वासन तथा मेष का अवधान (स्थापन) करता है। वारुणी के निष्कास (खुर्चन) को अवभृथ इष्टि के लिए रख लिया जाता है। प्रतिप्रस्थाता वारुणी-मेषी को दक्षिणा वेदि में, अध्वर्यु शेष हवियों को (मारुती-करम्भ पात्र छोड़ कर) उत्तरा वेदि में रख देता है। वाजिन को दोनों मिल कर उत्कर के समीप रखते हैं।

अध्वर्यु वैश्वदेववत् अग्नि-मन्थन करता है। समिदाधान दोनों पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी अग्नियों में करते हैं। आघार तक इसी प्रकार विधियां होती हैं। अग्नि सम्मार्जन से पूर्व प्रतिप्रस्थाता पत्नी को करम्भपात्र-होम के लिए लाते समय पूछता है—केन चरसि (तुम्हारे कितने जार हैं) ? पत्नी संख्या बताती है अथवा तिनके से संकेत करती है (सत्य न बताने पर उसके सम्बन्धियों को कष्ट होता है)। बता देने पर प्रतिप्रस्थाता उस से 'प्रधासिनो' (य० ३।४४) मन्त्र का पाठ कराता है। इस के पश्चात् पत्नी स्वयं (अथवा यजमान के द्वारा स्पृष्ट) प्रतिप्रस्थाता द्वारा प्रदत्त सूप में रखे करम्भ-पात्रों को सिर पर रख कर यथा निर्दिष्ट मार्ग से दक्षिण वेदि के पूर्व में जाकर 'यद् ग्रामे' (य० ३।४५) मन्त्र से सूप का जुहू के रूप में प्रयोग करती हुई आहुति दे देती है। यजमान 'वरुणाय इदं न मम' त्याग करता है। यजमान 'मो षु णः' (य० ३।४६) का जप करता है। लौटते समय प्रतिप्रस्थाता पत्नी से 'अक्रन् कर्म' (य० ३।४७) मन्त्र का पाठ कराता है। आहुति तथा आघार के समय यजमान प्रतिप्रस्थाता का अन्वारम्भ (कुश द्वारा स्पर्श) करता है। प्रवर-वरण अध्वर्यु ही करता है। सम्मार्जन से आज्य-भाग तक प्रकृतिवत् विधियां की जाती हैं। उस के पश्चात् प्रतिप्रस्थाता जुहू-उपभृत हाथ में लेकर बैठ जाता है।

प्रधान याग—अध्वर्यु आग्नेय से ऐन्द्राग्न तक याग वैश्वदेव के समान करता है। वैश्वदेव पर्व में अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा देवताओं की पुरोनुवाक्या-याज्या दे दी गई हैं, शेष चार देवताओं की पुरोनुवाक्या-याज्या इस प्रकार हैं—

देवता	पुरोनुवाक्या	याज्या
१. इन्द्राग्नि	इन्द्राग्नी अवसा गतम् (ऋ० ७।९४।७)	श्नथद् वृत्रमुत (ऋ० ३।६०।१)
२. मरुत्	मरुतो यस्य हि क्षये (ऋ० १।८६।१)	अरा इवेदचरमा (ऋ० ५।५८।५)
३. वरुण	इमं मे वरुण (ऋ० १।२५।१९)	तत्वा यामि (ऋ० १।२४।११)
४. क	कया नश्चित्र (ऋ० ४।३१।१)	हिरण्यगर्भः (ऋ० १०।१२१।१)

ऐन्द्राग्न याग के पश्चात् अध्वर्यु रुक जाता है। कात्यायन के अनुसार इस समय प्रतिप्रस्थाता तथा अध्वर्यु द्वारा परस्पर मेष-मेषी परिवर्त्तन किया जाता है, जिस का उल्लेख पहले हो चुका है। प्रतिप्रस्थाता मारुती पयस्या से दो अवदान करता है, प्रत्येक में आधे-आधे शमीपत्र एवं करीर डालता है और द्वितीय अवदान के समय मेषी को जुहू में रख कर आहुति देता है। यजमान 'प्राणौ ऋध्यासम्' का अनुमन्त्रण करता है। इस के पश्चात् अध्वर्यु वारुणीपयस्या से दो अवदान, शमीपत्र-करीर तथा मेष रख कर आहुति देता है। अध्वर्यु वैश्वदेवस्थ द्यावापृथिवीय एककपाल के समान काय एककपाल का प्रचार (अनुष्ठान) करता है। आपस्तम्ब के मत में इस के साथ ही मासाहुतियां (नमस्., नमस्य, इषस्, ऊर्ज) भी दी जाती हैं। प्रधान यागों के पश्चात् दोनों स्विष्टकृत् होम करते हैं। अध्वर्यु आग्नेय से ऐन्द्राग्न तक हवियों से इडावदान कर के प्रतिप्रस्थाता को समर्पित करता है। प्रतिप्रस्थाता उसी इडा में मारुती का अवदान करके पुनः अध्वर्यु को देता है जो उस में वारुणी का अवदान करके होता को देता है। तदनन्तर प्राशण होता है। अनुयाज तथा स्रुचों का व्यूहन दोनों करते हैं। प्रतिप्रस्थाता दक्षिण वेदि में समिष्टहोम तूष्णीम् करता है। अन्य विधियां वैश्वदेव पर्व के समान ही की जाती हैं।

अवभृथ इष्टि—अध्वर्यु वेद बनाकर, परिस्तरण कर के स्फ्य-अग्निहोत्रहवणी-जुहू-स्रुव-आज्यस्थाली-वेद-योक्त्र आदि पात्रों को आहवनीय के उत्तर या पूर्व में रखता है। पात्र-प्रोक्षण आज्यनिर्वाप, वारुणी पयस्या, के निष्काश सहित पर्यग्निकरण के पश्चात् पत्नी-सन्नहन किया जाता है। निष्काश का अधिश्रयण-उपस्तरण-अभिघारण-आसादन कर के सभी सम्भारों को लेकर नदी या तालाब पर जाते हैं। अर्थात् जल-सम्मार्जन करता है। अध्वर्यु जल में प्रकृतिवत् प्रयाजों की आहुति देता है। इसी प्रकार आज्यभाग की आहुति दे कर, जल में घुस कर 'अवभृथ (य० ३।४८) मन्त्र से निष्काश स्थाली को जल में डुबा देता है। यजमान वरुण के लिए त्याग करता है। योक्त्र-विमोक होता है। इसके पश्चात् यजमान-दम्पती विना डुबकी लगाये एक दूसरे की पीठ मलते हुए स्नान करते हैं। स्नान के पश्चात् यजमान-दम्पती नये वस्त्रधारण करते हैं और पुराने वस्त्रों को ऋत्विजों या अन्य अधिकारी को दे देते हैं। लौटकर यजमान आहवनीय में समिदाधान 'देवानामसि' (य० १।८)मन्त्र से करता है। और पत्नी गार्हपत्य में तूष्णीं समिदाधान करती है। इस पर्व की दक्षिणा बछड़े सहित गौ, घोड़ा या ६—१० बैल हैं।

साकमेध पर्व

वरुणप्रघास से चार मास के पश्चात् अर्थात् कार्तिक अथवा मार्गशीर्ष की पूर्णमासी को साकमेध नामक तृतीय पर्व का अनुष्ठान किया जाता है। यह पर्व अनेक इष्टियों का समूह है और दो दिन में सम्पन्न होता है। इसमें चार मुख्य कर्मों का समावेश है—अनीकवती आदि इष्टियों, महाहवियां (प्रधान याग), महापितृयज्ञ तथा त्रैयम्बक इष्टि। प्रधान याग की देवताएं आठ होती हैं, जिनमें से पांच पूर्वोक्त ही होती हैं। प्रधान याग को आठ देवताएं तथा हवियां हैं—१. अग्नि—अष्टाकपाल पुरोडाश २. सोम—चरु, ३. सविता—द्वादशकपाल या अष्टाकपाल पुरोडाश, ४. सरस्वती—चरु, ५. पूषा—चावल के आटे का चरु, ६. इन्द्राग्नि—द्वादशकपाल पुरोडाश, ७. इन्द्र या महेन्द्र—चरु, ८. विश्वकर्मा—एककपाल पुरोडाश।

अनीकवती इष्टि—साकमेध का आरम्भ चतुर्दशी के प्रातःकाल अनीकवती इष्टि से होता है। इस इष्टि की प्रधान देवता अनीकवान् अग्नि है, जिसके लिए द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है। प्रधान याग की आहुति (अथवा निर्वाप) सूर्योदय के समय हो, ऐसा आयोजन किया जाता है। इसलिए त्रयोदशी की रात को या चतुर्दशी को उषःकाल में अग्निहोत्र के पश्चात् संकल्प आदि यथेष्ट ऊह के साथ किये जाते हैं। सभी कर्म प्रकृतिवत् (पौर्णमास के समान) किये जाते हैं। अन्वाहार्य (भात) ही दक्षिणा के रूप में ऋत्विजों को दिया जाता है।

सान्तपनी इष्टि—उसी दिन मध्याह्न में सान्तपनी इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। इस की प्रधान देवता सान्तपन मरुत है, जिनको चरु की आहुति प्रदान की जाती है। सभी विधियां प्रकृतिवत् की जाती हैं। अन्वाहार्य दक्षिणा दी जाती है।

गृहमेधीय इष्टि—उसी दिन अपराह्न में गृहमेधीय इष्टि का आयोजन किया जाता है। इस इष्टि की प्रधान देवता गृहमेधी मरुत् हैं, जिनको दूध में पकाये हुए चरु की आहुति दी जाती है। यवागू से सायं अग्निहोत्र के पश्चात् संकल्पादि प्रकृतिवत् किये जाते हैं। इस में दुग्ध का प्रणयन किया जाता है, जल का नहीं। चरु में प्रभूत आज्य का अभिघारण किया जाता है। सम्मार्जन तथा आज्यभाग के पश्चात् प्रधान याग का अनुष्ठान होता है। इस इष्टि में आघार-प्रयाज-अनुयाज-प्राशित्रहरण-चतुर्धाकरण विधियों का अनुष्ठान नहीं किया जाता, किन्तु हवि

सम्पादन के लिए अवघात आदि कर्म तथा स्विष्टकृत् याग किये जाते हैं। चरु इतनी मात्रा में बनाया जाता है कि उस दिन यजमान के सम्बन्धी तथा ऋत्विज् उसी का भोजन करते हैं। गृहमेधीय चरु के निष्काश को सुरक्षित रख लिया जाता है। गृहमेधीय इष्टि के पश्चात् गायों के बछड़ों को रात भर खुला छोड़ दिया जाता है, किन्तु निवानी (जिस गौ का बछड़ा मर चुका हो, परन्तु वह अन्य बछड़े के लगाने पर दुही जा सकती हो) के बछड़े को बांध दिया जाता है। कारण, अगले दिन निवानी के दूध से पितरों के लिए मन्थ तैयार किया जाता है।

दर्वि-होम—अगले दिन (पूर्णमासी को) उषःकाल में उठ कर यजमान यवागू से अग्निहोत्र करता है। उस के पश्चात अध्वर्यु गार्हपत्य का परिस्तरण कर के पात्रासादन करता है। सम्मार्जन के पश्चात अध्वर्यु सुरक्षित रखे हुए गृहमेधीय निष्काश(अथवा चरु)को 'पूर्णा दर्वि' (य० ३।४९) से दर्वि में भर कर घर के ऋषभ के आह्वान के लिए यजमान को प्रैष देता है। यजमान अपने बैल से शब्द कराने का प्रयत्न करता है(सुपरिचित बैल का नाम लेकर बुलाने पर वह शब्द करता है)। बैल के बोलने पर अध्वर्यु 'देहि मे' (य० ३।५०) मन्त्र से दर्विस्थ चरु की आहुति गार्हपत्य में देता है और यजमान इन्द्र के लिए त्याग करता है। यह होम है, याग नहीं, अतः बैठे हुए ही 'स्वाहा' से आहुति दी जाती है। बैल के न बोलने पर ब्रह्मा के 'जुहुधि' (आहुति दो) कहने पर आहुति दे दी जाती है। इस होम की दक्षिणा बैल है। इस होम का अनुष्ठान उपांशु किया जाता है।

क्रैडिनी-इष्टि—दर्विहोम के पश्चात् क्रैडिनी इष्टि का आयोजन इस प्रकार किया जाता है कि उसका प्रधान याग सूर्योदय के समय हो। इस की प्रधान देवता क्रीडी मरुत् हैं, जिनको सप्तकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। इसकी दक्षिणा अन्वाहार्य होती है। सब विधियां प्रकृतिवत् होती हैं।

अदिति-इष्टि—इसके पश्चात् अदिति देवता के लिये चरु की आहुति दी जाती है। इष्टि सम्बन्धी सब विधियां प्रकृतिवत् की जाती हैं। अन्वाहार्य दक्षिणा दी जाती है।

महाहवियां (प्रधान याग)—इस पर्व में भी वरुणप्रघास के समान वेदकरण के पश्चात् प्राकृत वेदि से पूर्व की ओर उत्तरा वेदि का निर्माण किया जाता है (दक्षिणा वेदि का नहीं)। उत्तर परिग्रह से पूर्व वैश्वदेव के समान अनुष्ठान किये जाते हैं। वरुणप्रघास के समान आहवनीय से अग्नि प्रणयन करके उत्तर वेदि की नाभि पर स्थापन करके तथा अग्नि मन्थन कर के आवहनीय में प्रक्षेप किया जाता है। आघार तथा आज्यभाग का अनुष्ठान नहीं किया जाता। प्रधान यागों की पुरोनुवाक्या-याज्याओं में से पांच की वैश्वदेव पर्व में तथा एक की वरुणप्रघास में दी जा चुकी हैं, शेष दो देवताओं की पुरोनुवाक्या-याज्या हैं—

देवता	पुरोनुवाक्या	याज्या
१. इन्द्र या महेन्द्र	आ तू न इन्द्र (ऋ० ४।३२।१)	अनुक्षत्रमनु (ऋ० ६।२५।८)
२. विश्वकर्मा	विश्वकर्मन् हविषा (ऋ० १०।८१।६)	या ते धामानि (ऋ० १०।८१।५)

स्विष्टकृद्, इडाभक्षण तथा पृषदाज्य से अनुयाजों का अनुष्ठान वैश्वदेव के समान होता है; आपस्तम्ब के अनुसार विश्वकर्मा के एककपाल के अनुष्ठान के समय मासाहुतियां (सहस्, सहस्य, तपस्, तपस्य) दी जाती हैं। वाजिन के अभाव में वाजिनयाग भी नहीं होता।

महापितृयज्ञ—प्रधान याग के पश्चात् महापितृयज्ञ (पित्र्येष्टि) का अनुष्ठान किया जाता है। यह

इष्टि पिण्डपितृयज्ञ से भिन्न है। यह इष्टि पत्नी-रहित होती है। इसकी प्रधान देवताएं तथा आहुतियां हैं—१. सोम पितृमान्—षट्कपाल पुरोडाश, २. बर्हिषद् पितर—धाना (भुने हुए जौ), ३. अग्निष्वात्त पितर—मन्थ (निवानी=मृतवत्सा गौ के दूध में भुने हुए जौ के चूर्ण को डालकर, गन्ने से हिलाकर बनाया गया मिश्रण)। गन्ने में रस्सी बांधकर मन्थन किया जाता है, हाथ से नहीं छुआ जाता) बर्हि को छोड़कर चार प्रयाजों (समित्, तनूनपात्, इड,स्वाहा) तथा दो अनुयाजों (द्वार, उषासानक्ता) का अनुष्ठान किया जाता है। पितृ सम्बन्धी कार्य प्राचीना वीती (यज्ञोपवीत दायें कन्धे पर, बायें हाथ के नीचे) होकर किये जाते हैं। मन्त्रों में जहाँ जहाँ देव शब्द का प्रयोग होता है, उसके अनन्तर यथेष्ट पितृ शब्द का ऊह किया जाता है, जैसे 'मम देवा विहवे=मम देवाः पितरो 'विहवे', दैव्या होतारा=दैव्याः पित्र्या होतारा', 'देवबर्हिर्मा त्वा=देवपितृबर्हिर्मा त्वा'। इस इष्टि का अनुष्ठान उपांशु किया जाता है। अनुष्ठानों के लिये पितृवेदि पृथक् बनायी जाती है।

दक्षिणाग्नि से पूर्व अथवा दक्षिण की ओर सञ्चरणार्थ मार्ग छोड़कर यजमान की ऊंचाई के प्रमाणानुसार समचौरस वेदि का निर्माण किया जाता है। वेदि के कोने पूर्व आदि दिशाओं में अथवा पूर्वोत्तर आदि उपदिशाओं में रखे जाते हैं। इसको चटाई आदि से आवृत कर दिया जाता है और उत्तर की ओर द्वार रखा जाता है। अध्वर्यु दक्षिणाग्नि में अन्वाधान आदि यथेष्ट ऊह के अनुसार करता है। पात्रासादन में इष्टि-पात्रों के अतिरिक्त, कशिपु (शय्या)-उपबर्हण (तकिया) -अञ्जन-अभ्यञ्जन (तैल), दशा (पहने हुए वस्त्रों के छोर=धागे), उदकुम्भ (जलपूर्ण घट), स्रुच, पलाश-पत्र, छह कपाल, भर्जनकपाल, मेक्षण तथा गन्ने का भी समावेश किया जाता है। निर्वाप-अवघात-फलीकरण आदि गार्हपत्य से पूर्व की ओर करके यव-तण्डुलों के तीन भाग करके, एक भाग को पीस कर गार्हपत्य के दक्षिणार्ध अङ्गारों पर छह कपाल रखकर पुरोडाश पकाया जाता है। शेष दो भागों को दक्षिणाग्नि में भर्जनकपाल में भूनकर, दो विभाग करके, एक भाग को पीस कर चूर्ण कर लिया जाता है। भूना हुआ प्रथम भाग धाना है और दूसरे चूर्ण भाग से मन्थ तैयार किया जाता है।

इसके पश्चात् दक्षिणाग्नि से अग्नि प्रणयन करके पैतृकवेदि प्रदीप्त की जाती है। परिस्तरण के पश्चात् दो परिधि रखी जाती हैं (उत्तर परिधि नहीं)। पैतृकवेदि से पश्चिम की ओर पुरोडाश आदि हवियों का स्थापन दक्षिण से उत्तर किया जाता हैं। हवियों के दक्षिण में कशिपु आदि रखे जाते हैं। चार प्रयाजों के पश्चात् पैतृकवेदि की परिक्रमा करके प्रधान आहुतियाँ दी जाती हैं। प्रधान आहुतियों के प्रदान में ऊह किया जाता है, उसका प्रकार यह है अध्वर्यु—ओ३म् स्व३धा। अग्नीत्—अस्तु स्व३धा। अध्वर्यु—सोमाय पितृमतेऽनु-स्व३धा। होता (पुरोनुवाक्या)—ओ३म् उदीरतामवर हविषो३म् त्वया···भवा नो३म्। अध्वर्यु—सोमं पितृमन्तं यज। होता (याज्या) ये स्व३धामहे, उपहूताः पितरः···तेऽवन्त्वस्मा३न् स्व३धा नमः।

इस इष्टि में दो-दो पुरोनुवाक्या तथा एक-एक याज्या का शंसन किया जाता है। प्रधान आहुतियों तथा स्विष्टकृत् (अग्नि कव्यवाहन) की पुरोनुवाक्या-याज्या हैं—

१. सोम पितृमान्	उदीरतामवर (ऋ० १०।१५।१) त्वया हि नः (ऋ० ६।९६।११)	उपहूताः पितरः(ऋ० १०।१५।५)
२. बर्हिषद् पितर.	बर्हिषदः पितरः (ऋ० १०।१५।४) आहं पितॄन् (ऋ० १०।१५।३)	इदं पितृभ्यः (ऋ० १०।१५।२)

३. अग्निष्वात्त पितर — अग्निष्वात्ताः पितरः (ऋ० १०।१५।११) ये अग्निदग्धाः (ऋ० १०।१५।१४) ये चेह पितरः (ऋ० १०।१५।१३)

४. स्विष्टकृत्—अग्निं कव्यवाहनं ये तातृपुर्देवत्रा (ऋ० १०।१५।९) स प्रत्नथा सहसा (ऋ० १।९६।१) त्वदग्ने काव्या (ऋ० ४।११।३)

प्रधान आहुतियों के लिए एक-एक बार तीनों हवियों में से क्रमशः पूर्व-मध्य-पश्चिम भाग से अवदान किया जाता है। स्विष्टकृत् अग्नि कव्यवाहन के लिये तीनों हवियों के दक्षिण भाग से अवदान किया जाता है। सक्षालन का निनयन उत्तर की ओर करके सब यज्ञोपवीती हो जाते हैं पूर्ववत् परिक्रमा करते हैं। चतुर्धाकरण नहीं किया जाता। इडा को यजमान तथा ऋत्विज केवल सूंघते हैं, खाते नहीं। यजमान अथवा अध्वर्यु तीन बार अप्रदक्षिण क्रम से वेदि का परिसेचन करता है। यजमान पिता-पितामह-प्रपितामह को उद्देश्य करके वेदि के उत्तर-पश्चिम दक्षिण-पश्चिम, दक्षिण-पूर्व कोनों पर अवनेजन (पद प्रक्षालनार्थ जल सेचन) करता है। वह पुरोडाश-धाना-मन्थ को मिलाकर तीन पिण्डों का निर्माण करके पूर्वोक्त तीनों कोनों पर यथाक्रम एतत् ते तत (तै० स० १।८।५) मन्त्र से रखता है और वेदि के उत्तर-पूर्व कोने में अत्र पितरो (य० २।३१) से हाथ में लगी हुई हवि को धोता है। ऋत्विज् तथा यजमान परिवृत पैतृकवेदि से बाहर जाते हैं और यज्ञोपवीती होकर अक्षन्नमीमदन्त (य० ३।५१-५२) मन्त्रों से आहवनीय तथा मनो न्वाह्वामहे (य० ३।५३-५५) मन्त्रों के गार्हपत्य का उपस्थान करते हैं। प्राचीनावीती हो कर सब पैतृकवेदि में लौट आते हैं। यजमान अमीमदन्त (३।३३) मन्त्र का जप करता है। वेदि का परिसेचन प्रदक्षिण क्रम से किया जाता है। अवशिष्ट कार्य पिण्डपितृयज्ञ के समान होते हैं। यजमान नमो वः (य० २।३२) मन्त्र से अञ्जलि (हाथ जोड़ना) करता है या छह नमस्कार कर के गृहान्नः पितरो दत्त (य० २।३२) मन्त्र का जप करता है। युशवाक तच्छंयोरा—चतुष्पदे (तै० ब्रा० ३।५।११) मन्त्र से इष्टि की समाप्ति होती है। अवशिष्ट हवि अग्नि या जल में डाल दी जाती है अथवा ऋत्विजों को खिला दी जाती है।

त्रैयम्बक इष्टि—इस इष्टि को प्रधान देवता रुद्र (त्र्यम्बक) हैं, जिस को एककपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। अध्वर्यु ही सब विधियों का उपांशु अनुष्ठान करता है। यह होम है अतः वषट्कार नहीं होता। सब कर्म उत्तराभिमुख किये जाते हैं तदनुसार यथेष्ट ऊह किया जाता है। इस की दक्षिणा बैल है। गार्हपत्य के उत्तर की ओर अङ्गार निकाल कर, एककपाल पुरोडाशों को पकाया जाता है। एककपाल पुरोडाशों की संख्या यजमान की प्रजा (पुत्र-अविवाहित पुत्री-पुत्रवधू-पौत्र आदि) की संख्या से एक अधिक अथवा न्यून से न्यून चार रखी जाती है। पात्रों में पुरोडाशों को रख कर दक्षिणाग्नि से अङ्गार ले कर उत्तर की ओर चौराहे पर जा कर, वहां अतिरिक्त को छोड़कर सब पुरोडाशों के उत्तरी भाग से अवदान कर के मध्यम-पलाश पत्र को जुहू के स्थान में प्रयोग करके एष ते (य० ३।५७) मन्त्र से होम किया जाता है। अतिरिक्त पुरोडाश को एष ते (य० ३।५७) मन्त्र से चूहे द्वारा खोदी गई मिट्टी पर रख कर मिट्टी से ढक देते हैं। लौटकर अब रुद्रमदीमहि (य० ३।५८) मन्त्र का जप करते हैं। यजमान तथा उस के सम्बन्धी त्र्यम्बकं यजामहे (य० ३।६०) का पाठ करते हुए अप्रदक्षिण क्रम से अग्नि की परिक्रमा करते हैं और दायें हाथ से बायीं जंघा का ताडन करते हैं। फिर दायें हाथ से दायीं जघा का ताडन करते हुए मन्त्र-पाठ के

के साथ परिक्रमा करते हैं। पति की कामना वाली कुमारियां यथेष्ट ऊह (त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥ अथवा मुक्षीय मा पतेः) करके परिक्रमा करती हैं।

अवशिष्ट पुरोडाशों को यजमान ऊपर को इतनी ऊंचाई तक फेंकता है, जहां तक गौ का मुंह न पहुंच सके और नीचे गिरते हुए पुरोडाशों को पुनः हाथ में पकड़ लेता है। यदि नीचे गिर जायें, तो वहीं हाथ से स्पर्श करता है। इसके पश्चात् पुरोडाशों के दो विभाग करके पोटलियों में बांध कर, एक बांस के दोनों छोरों पर बहंगी या तराजु के समान लटका कर किसी यज्ञिय सूखे वृक्ष, बांस या दीमक-बांबी में इतनी ऊंचाई पर एतत्ते (य० ३।६१) मन्त्र से बांध देते हैं जहां गौ का मुख न पहुंच सके। कृत्तिवासा (य० ३।६१) मन्त्र से उस को निश्चल कर दिया जाता है। बिना पीछे देखे सब वापिस लौट आते हैं और जल स्पर्श करते हैं।

शुनासीरीय पर्व

साकमेध पर्व के पश्चात् दो-तीन-चार दिन, एक मास या चार मास बीत जाने पर शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान किया जाता है। सोम याग आदि का इच्छुक एक वर्ष में चारों चातुर्मास्यों का अनुष्ठान करके उनका त्याग कर देता है। इस (अनावृत्ति) पक्ष में शुनासीरीय पर्व को फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् को करके पूर्णमासी को सोमयाग आदि किया जाता है। दूसरे (आवृत्ति) पक्ष में फाल्गुन शुक्ल चतुर्दसी को शुनासीरीय करके पूर्णमासी को वैश्वदेव का अनुष्ठान किया जाता है और पुनः वरुणप्रघास-साकमेध यथाकाल किये जाते हैं। इस पर्व की प्रधान देवताएं अग्नि-सोम-सविता-सरस्वती-पूषा—ये पांच पूर्ववत् ही होती हैं। इनके अतिरिक्त तीन देवता हैं—शुनासीर, वायु तथा सूर्य। आपस्तम्ब के अनुसार इन्द्राग्नि तथा विश्वदेव का समावेश करके दस प्रधान देवताएं होती हैं। देवतानुसार हवियां हैं—१. अग्नि—अष्टाकपाल पुरोडाश, २. सोम -चरु, ३. सविता—द्वादशकपाल पुरोडाश, ४. सरस्वती—चरु, ५. पूषा—पिष्ट चरु, ६. इन्द्राग्नि—द्वादशकपाल पुरोडाश, ७. विश्वदेव—चरु, ८. शुनासीर द्वादशकपाल पुरोडाश, ९. वायु—धारोष्ण दूध या यवागू, १० सूर्य—एककपाल पुरोडाश। प्रकृतिवत् पांच प्रयाज, तीन अनुयाज तथा एक समिष्ट यजु होता है। आपस्म्ब नौ-नौ प्रयाज-अनुयाज मानता है।

पात्रासादन में पैंतालीस कपाल, पांच चरुस्थाली तथा पांच मेक्षणों का भी समावेश किया जाता है। निर्वाप-प्रोक्षण-अवघात-पेषण-श्रपण (पकाना) आदि वैश्वदेववत् होते हैं। दुग्ध-दोहन आहुति के समय ही किया जाता है, अतः शाखाहरण आदि विधियां नहीं की जाती हैं। इस इष्टि में मासनामों से होम नहीं किया जाता, किन्तु संसर्प नामक अधिक मास के नाम से एककपाल होम किया जाता है। पूर्वोक्त देवताओं के अतिरिक्त तीन देवताओं की पुरोनुवाक्या-याज्या हैं—

देवता	पुरोनुवाक्या	याज्या
१. शुनासीर	शुनासीराविमाम् (ऋ० ४।५७।५)	शुनं नः फालाः (ऋ० ४।५७।८)
२. वायु	स त्वं नो देव (ऋ० ८।२६।२५)	इशानाय प्रहुतिम् (ऋ० ७।९०।२)
३. सूर्य	तरणिर्विश्वदर्शतो (ऋ० १।५०।४)	चित्रं देवानाम् (ऋ० १।११५।१)

इस इष्टि की दक्षिणा हलसहित छह बैल अथवा दो विशाल बैल। सूर्य के एककपाल पुरोडाश की दक्षिणा एक सफ़ेद घोड़ा अथवा सफेद बैल बतायी गई है।

इस प्रकार चातुर्मास्य यज्ञों का संक्षिप्त विवरण पूर्ण हुआ।

—०—

वाजपेय याग

सोम-यागों में वाजपेय को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शतपथ ब्राह्मण (५।१।१।१३) में यह याग राजसूय से भी उत्तम माना गया है। यद्यपि सात सोमयज्ञ-संस्थाओं -अग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम-उक्थ्य-षोडशी-वाजपेय-अतिरात्र-अप्तोर्याम—में इसका पांचवां स्थान है और इसकी प्रकृति अग्निष्टोम है, तथापि अनेक विशेषताओं के कारण इस का निरूपण स्वतन्त्र याग के रूप में किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'वाजपेय' शब्द की अनेक निरुक्तियां मिलती हैं। 'वाज' का अर्थ है—अन्न, बल, गति; 'पेय' का अर्थ है —पीना। अतः 'वाजपेय' का अर्थ है—अन्न-पान, बल का पान अथवा गति का पान। अभिप्राय यह है कि इस याग में सोमपान करने से विशिष्ट अन्न, शक्ति एवं स्फूर्त्ति की प्राप्ति होती है। इस याग के अन्तिम स्तोत्र-शस्त्र का नाम वाजपेय है।

वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत (तु० तै० ब्रा० १।३।२) वचन स्वाराज्य की कामना वाले को वाजपेय याग करने का विधान करता है। वाजपेय का अधिकार ब्राह्मण और क्षत्रिय को है। स्वाराज्य शब्द का अर्थ सामान्यतया स्वर्ग किया जाता है। वस्तुतः स्वाराज्य वह है जहां स्वयं राजा हो, स्वच्छन्द शासन हो। ऐतरेय ब्रा० १।३० में कहा है—तत्प्रजापतेवायतनं तत् स्वाराज्यम्। सायणाचार्य के मतनुसार स्वाराज्य है प्रजापति=आदित्य का मण्डल। गोविन्द स्वामी ने इस का अर्थ किया है—'स्वाराज्य नाम परमात्मा का तादात्म्य। ब्रह्मलोक की प्राप्ति की कामना वाला वाजपेय से यजन करे, यह अर्थ अधिक संगत होता हैं। वाजपेयी प्रतिष्ठा सूचक श्वेत-छत्र को धारण करने का अधिकारी हो जाता है, सभी उसके सामने आदरार्थ खड़े हो जाते हैं, प्रजापति को प्राप्त कर लेता है।

वाजपेय याग में सत्रह संख्या को विशेष स्थान प्राप्त है। ब्राह्मणों (तै० ब्रा० १।३।४।१३। शत० ब्रा० ५। २।११) में इसकी उपपत्ति दर्शायी गई है। प्रजापति सप्तदशात्मक (तै० सं० १।६।११।१) है और वही यज्ञ है (श० ब्रा० १।१।१।१३)। आशय यह है—ओ श्रावय, अस्तु श्रौषट्, यज, ये यजामहे, वौषट्—इन १७ अक्षरों मे यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है और यज्ञ की प्रधान देवता प्रजापति है। आधिदैविक पक्ष में—१२ महीने तथा शिशिर और हेमन्त को एक करके पांच ऋतुएं सप्तदश प्रजापति है (द्र० ऐ० ब्रा० १।१।। शत० १।३।५।१०)। अध्यात्म में—लोमन् (२ अक्षर), त्वचा (२ अक्षर) असृग् (२ अक्षर), मेदस् (२ अक्षर), मांस (२ अक्षर), स्नावा (२ अक्षर), अस्थि (२ अक्षर), मज्जा (२ अक्षर) ये १६ कलाएं और इनमें अन्तः संचरित होनेवाला सत्रहवां प्राण (शत० ११।४।१।७)। पक्षान्तर में—प्राण आदि १६ कलाएं (प्रश्नो० ६।४) तथा सत्रहवां प्रजाहुति (यजु० ८।३८)। वाजपेय १७ दिन (१३ दीक्षा, ३ उपसद्, १ सुत्या) में सम्पन्न होता है। यूप की ऊंचाई १७ अरत्नि रखी जाती है। १७ शरावों में नेवार चरु पकाया जाता है। १७ अरोंवाले रथचक्र का प्रवर्त्तन (घुमाना) किया जाता है। १७ बार बाण फेंका जाता है। १७ रथों की दौड़ होती है। १७ सोमग्रह तथा १७ सुरा (दूध) ग्रह होते हैं। १७ प्राजापत्य हवि होती हैं। १७ दक्षिणा द्रव्य होते हैं। १७ स्तोत्रों एवं १७ शस्त्रों का प्रयोग होता है, सत्रहवें स्तोत्र-शस्त्र का नाम वाजपेय है।

यज्ञारम्भ से पूर्व दिवस यज्ञ भूमि में विशाल पाण्डाल बनाया जाता है। यजमान-दम्पती अपने घर पर चान्द्रयण व्रत, गायत्री जप, पञ्चगव्य स्नान, गणपति पूजन, पुण्याहं वाचन, तथा नान्दीश्राद्ध आदि स्मार्त्त विधियों का अनुष्ठान करता है। इसके पश्चात् वाजपेय-विधियों का आरम्भ होता है।

१. संकल्प-ऋत्विज्वरण समाज के सम्मान्य सदस्यों के सामने यजमान वाजपेय याग करने के संकल्प की घोषणा करता है। घर की तीनों अग्नियों (गार्हपत्य-आहवनीय-दक्षिण) को पृथक् पृथक् पात्रों में लेकर गाड़ी में रखकर,यजमान–दम्पती तथा ऋत्विज् आदि पाण्डाल में जाकर प्राग्वंश-शाला में यथास्थान अग्नियों का स्थापन करते हैं। तदनन्तर १६ प्रधान ऋत्विजों, दस चमसाध्वर्युओं तथा सदस्यों का विधिवत् वरण करके यजमान उन्हें मधुपर्क, पञ्चपात्र, वस्त्र आदि से सम्मानित करता है।

२. घर्मसम्भरण-यूपछेदन-स्नान—अध्वर्यु मिट्टी के तीन सुदृढ़ महावीर (घर्म) नामक पात्रों तथा दो दोहन पात्रों का निर्माण करके पका लेता हैं (वस्तुतः पहले से ही निर्मित पात्रों का संस्कार मात्र किया जाता है)। इस के पश्चात् १७ अरत्नि लम्बे, चौकोन, देल, खैर या पलाश की लकड़ी के चषाल-रहित यूप का निर्माण किया जाता है। यजमान- दम्पती स्नान कर के रेशमी वस्त्रों को धारण करता है।

३. दीक्षणीयेष्टि—इष्टियों की प्रकृति दर्शपूर्णमास है। तदनुसार दक्षिणीय इष्टि की जाती है। इस की प्रधान देवता अग्नि-विष्णु है जिस को पुरोडाश या चरु की आहुति दी जाती है। तदनन्तर यजमान-दम्पती को दीक्षा दी जाती है। यजमान मृगचर्म, मृगशृङ्ग, पगड़ी तथा दण्ड धारण करता है और यजमान-पत्नी सिर पर जाली तथा कटि पर मूंज की मेखला धारण करती है।

४. प्रायणीयेष्टि-सोमक्रय-आतिथ्येष्टि—यज्ञ का आरम्भ प्रायणीयेष्टि से होता है। इस इष्टि में पथ्या स्वस्ति आदि पांच देवताओं को घृत एवं चरु की हवि दी जाती है। इस के पश्चात् सोमक्रय का अभिनय किया जाता है। वाजपेय याग में सोम का मूल्य सौ द्रव्य—९७ गायें, सोना, बकरी एवं वस्त्र—होते हैं। खरीदे हुये सोम को गाड़ी पर रख कर प्राग्वश के पूर्व द्वार तक ला कर आतिथ्येष्टि की जाती है जिस की प्रधान देवता विष्णु हैं तथा हवि पुरोडाश है। इसके पश्चात् आहवनीय के दक्षिण में रखी हुई राजासन्दी पर सोम रख दिया जाता है और मधुपर्क से उसको सम्मानित करते हैं। अग्नि-मन्थन करके, उत्पन्न अग्नि को आहवनीय में डाल कर आहुति दी जाती हैं।

५. तानूनप्त्र-आप्यायन निह्नव—आतिथ्येष्टि से बचे हुए घी में से चार-पांच स्रुवे घी अन्य पात्र में रखा जाता है। सब ऋत्विज पारस्परिक सौहार्द के लिए इस घृत का स्पर्श तथा आघ्राण करते हैं। यह कर्म तानूनप्त्र कहा जाता है। प्रत्येक ऋत्विज् दर्भ से सोम के ऊपर उष्ण जल के छींटे देकर सोम का आप्यायन करता है और दोनों हाथों में प्रस्तर ले कर निह्नव (स्तुति) करता है।

६. प्रवर्ग्य-उपसद्—प्रवर्ग्य का अनुष्ठान करते समय प्राग्वंश के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं। आग्नीध्र दो रौहिण पुरोडाशों को तैयार करता है। राजासन्दी से पूर्व सम्राडासन्दी रखकर, उस पर प्रवर्ग्य के महावीर आदि पात्र रखे जाते हैं। दक्षिण द्वार के बाहर गौ तथा बकरी बांधी जाती हैं। आहवनीय में सात आहुतियां दी जाती हैं। होता ऋचाओं का पाठ करता है, प्रस्तोता सामगान करता है, अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-आग्नीध्र गार्हपत्य के उत्तर में स्थित प्रवृञ्जनीय खर पर महावीर को रख कर, घी भर कर, अग्नि जला कर तपाते हैं।

पात्र के तप्त होने पर अध्वर्यु गाय को तथा प्रतिप्रस्थाता बकरी को दुह कर, दूध को महावीर में डालते हैं जिस से महाज्वाला उठती है। दोनों ऋत्विज् शफों तथा उपयमनी की सहायता से महावीर को उठा कर, उस से घी एव दही की आहुति आहवनीय में डालते हैं। आग्नीध्र रौहिण पुरोडाश की आहुति देता है। शफों एव उपयमनी सहित महावीर को आहवनीय के उत्तर में स्थित उद्वासनीय खर पर रख दिया जाता है। सब पात्रों को उच्छिष्ट खर पर धो कर सम्राडासन्दी पर रख देते हैं।

उपसद् आरम्भ करने से पूर्व सुरा-द्रव्यों को घड़े में भर कर भूमि में गाड़ दिया जाता है, सुत्या दिवस को निकाल कर सुरा को छान लेते हैं (आजकल सुरा के स्थान पर दूध का प्रयोग होता है, अतः यह विधि नहीं की जाती)। उपसद में मन्त्रों का उपांशु प्रयोग किया जाता है। अग्नि-सोम-विष्णु को घृत की आहुति दे कर अध्वर्यु उपसद् नामक आहुति देता है। इस के पश्चात् सोमाप्यायन, निह्नव तथा सुब्रह्मण्याह्वान होता है। इसी प्रकार तीन दिन तक प्रातः सायं प्रवर्ग्य-उपसद् आदि का अनुष्ठान किया जाता है।

७. महावेदिकरण-प्रवर्ग्योद्वासन-अग्नि सोम प्रणयन--प्राग्वंश से पूर्व की ओर महावेदि का सीमाङ्कन करके उस के पूर्वी भाग में उत्तरवेदि नामक चबूतरा चात्वाल से मिट्टी ले कर बनाया जाता है। अगले दिन प्रवर्ग्योद्वासन (प्रवर्ग्य सम्बन्धी वस्तुओं का स्थानान्तरण) किया जाता है—आहवनीय में तीन आहुति दे कर, प्रवृञ्जनीय-उद्वासनीय खरों (मिट्टी) को एक पात्र में ले कर, प्रवर्ग्य पात्रों के साथ सम्राडासन्दी को उठा कर यजमान-दम्पती तथा ऋत्विज् सामगान करते हुए उत्तरवेदि पर जा कर, सब वस्तुओं को उत्तरवेदि के मध्य मानवाकार में रख देते है।

महावेदि के पश्चिम में दो हविर्धान (गाड़ियां) खड़ी की जाती हैं। उत्तर हविर्धान पर पूतभृत् तथा आधवनीय नामक दो घड़े रखे जाते हैं, दक्षिण हविर्धान के नीचे भूमि में उपरव (चार बिल) बनाये जाते हैं जिनकी मिट्टी ले हविर्धान के पूर्व में सोमपात्रों के लिए तथा पश्चिम में सुरा (दूध) पात्रों के लिए खर बनाये जाते हैं। गाड़ियों के चारों ओर आच्छादन करके हविर्धान मण्डप बना दिया जाता है। हविर्धान मण्डप तथा प्राग्वंश के बीच सदोमण्डप बनाया जाता है जिसमें औदुम्बरी (गूलर का खूंटा) गाड़ी जाती है और छह धिष्ण्य खर बनाये जाते हैं। उद्गातृ-वर्ग औदुम्बरी के समीप बैठकर स्तोत्र(साम)गान करता है और धिष्ण्यो के समीप बैठ कर होतृ-वर्ग शस्त्र (ऋचाओं) का पाठ करता है। सदोमण्डप के उत्तर में आग्नीध्रीयमण्डप तथा दक्षिण में मार्जालीयमण्डप बनाये जाते हैं। अध्वर्यु, अन्य ऋत्विज्, यजमान-दम्पती तथा उनके परिजन समारोह पूर्वक आहवनीय को आग्नीध्रय में रख कर, उत्तरवेदि के मध्य में स्थापित करते हैं और सोम को दक्षिण हविर्धान पर रखते हैं।

८. अग्नीषोमीय विधि-वसतीवरी—अगले दिन अग्नीषोमीय विधि का अनुष्ठान किया जाता है जिस की देवता अग्नि-सोम है तथा हवि घी एवं पुरोडाश हैं। इसके लिए उत्तरवेदि के पूर्व में पूर्वोक्त १७ अरत्नि ऊंचा यूप गाड़ कर ऊपर गेहूं के आटे का चषाल रखा जाता है और यूप पर १७ वस्त्र खण्ड लपेटे जाते हैं। इसके पश्चात् सोम निचोड़ने के लिए नदी से वसतीवरी जल लाया जाता है।

९. प्रातःसवन—सुत्या दिवस को सब ऋत्विज् सोने की मालाएं पहिनते हैं। अध्वर्यु यज्ञतनु नामक ३३ आहुतियां देता है। सोमपात्रों तथा सुरा (दूध) पात्रों को खरों पर रखते हैं। होता प्रातरनुवाक (ऋचाओं) का पाठ करता है। उपरवों पर अधिषवण-फलक (दो तख्ते) रख कर, उन पर गोचर्म बिछाकर, उस पर पत्थर

रख कर, उस पर सोम रखा जाता है। दधिग्रह से दही की, अंशुग्रह से स्वल्प सोम की तथा अदाभ्यग्रह से भी स्वल्प सोम की आहुति दी जाती है।

९. १.—सोमाभिषव—चार ऋत्विज् सोम को कूट-छान कर द्रोणकलश, पूतभृत्, आधवनीय में भर लेते हैं और ग्रहों को भर कर खर पर रख देते हैं। सुराग्रहों में भी दूध भर कर रख देते हैं। विप्रुड् होम तथा सर्पण के पश्चात् बहिष्पवमान स्तोत्र का गान किया जाता है और आश्विन ग्रह की आहुति दी जाती है।

९. २.—सवनीय विधि—अग्नि, इन्द्राग्नि, इन्द्र, मरुत्, सरस्वान्, सरस्वती तथा प्रजापति देवताओं को घी तथा पुरोडाश की आहुतियां दी जाती हैं।

९. ३.—ग्रह-प्रचार—अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता द्विदेवत्य ग्रहों की आहुति दे कर, क्रमशः शुक्रग्रह एवं मन्थिग्रह की आहुति देते हैं। सोमशेष का भक्षण किया जाता है, जिसे सवनमुखभक्ष कहते हैं। ऋतुग्रहों के प्रचार के पश्चात् होता आज्य शस्त्र का पाठ करता है। इन्द्राग्नि ग्रह की आहुति दी जाती है। आज्य स्तोत्र तथा प्रउग शस्त्र के पश्चात् वैश्वदेव ग्रह की, द्वितीय आज्य स्तोत्र एवं मैत्रावरुण शस्त्र के पश्चात् मैत्रावरुण ग्रह की, तृतीय आज्य स्तोत्र एवं ब्राह्मणाच्छंसि शस्त्र के पश्चात् ऐन्द्रग्रह की, चतुर्थ आज्य स्तोत्र एवं अच्छावाक शस्त्र के पश्चात् इन्द्राग्नि ग्रह की आहुति दी जाती है। प्रायश्चित्ताहुति के पश्चात् प्रातःसवन समाप्त हो जाता है। प्रातःसवन में पांच-पांच स्तोत्र-शस्त्र होते हैं।

१०. माध्यन्दिन सवन—द्विदेवत्य तथा ऋतु ग्रहों को छोड़ कर अन्य विधियां प्रातःसवन के समान होती हैं।

१०. १. सोमाभिषव—प्रातः सवन के समान सोम निचोड़ा जाता है। उसी समय ग्रावस्तुत् सिर तथा आंखें ढक कर सोम की स्तुति करता है। ग्रहासादन, विप्रुड् होम तथा सर्पण के पश्चात् पवमान स्तोत्र का गान होता है और दधि घर्म ग्रह की आहुति दी जाती है।

१०. २. ग्रहप्रचार-दक्षिणा - सवनीय विधि के पश्चात् शुक्र-मन्थि ग्रहों का प्रचार होता है। दक्षिणा-होम के पश्चात् आहवनीय से पूर्व की ओर १७ रथों की दौड़ के लिए तैयारी की जाती है। एक क्षत्रिय पूर्व या उत्तर की ओर बाण छोड़ता है। बाण जहां भूमि पर गिरता हैं, वहां से पुनः बाण छोड़ता है। इसी प्रकार सत्रहवीं बार छोड़ा हुआ बाण जहां गिरता है, वहां गूलर का खम्बा गाड़ा जाता है। यह रथ-दौड़ की अन्तिम सीमा है। इस के पश्चात् प्रत्येक ऋत्विज् को रथ, निष्क (सोना), घोड़ा, हाथी, ऊंट, १०० गायें, बैलयुक्त गाड़ी, जौ, शय्या, वाहन, बहुमूल्य वस्त्र, साधारण वस्त्र, दास, दासी, भेड़, बकरी, दुन्दुभि—इन १७ द्रव्यों में से एक-एक द्रव्य की दक्षिणा दी जाती हैं (आज कल रुपये दिये जाते हैं)। तदनन्तर वैश्वकर्मण होम, मरुत्वतीय शस्त्र तथा मरुत्वतीय ग्रह का प्रचार होता है।

१०.३. आजिधावन-यूपारोहण—१७ शरावों में नीवार(जंगली धान)का चरु पका कर, १७ अरों वाले रथचक्र को चात्वाल के समीप अक्ष (कीली) पर रख कर, चक्र पर ब्रह्मा को बैठा कर, घोड़ों को नीवार-चरु सुंघा कर रथ-दौड़ आरम्भ कर दी जाती है। साथ ही १७ दुन्दुभियों का वादन, रथचक्र का ३ बार भ्रमण तथा ब्रह्मा द्वारा सामगान होता है। यजमान के रथ को आगे रखते हुए सब रथ गूलर के खम्बे तक जा कर लौट आते हैं। तदनन्तर यजमान १७ डण्डों वाली सीढ़ी की सहायता से यूप पर चढ़ता है। चार प्रधान

ऋत्विज् लम्बे बांसों के आगे ऊसर-मिट्टी से भरी थैलियों को बांध कर उन्हें क्रमशः यजमान के मुंह पर मारते हैं। तदनन्तर यजमान नीचे उतर कर आसन्दी पर बैठ जाता है। पृष्ठ स्तोत्र, यजमान के अभिषेक, तथा निष्केवल्य शस्त्र के अनन्तर महेन्द्र ग्रह की आहुति दी जाती है। अतिग्राह्य ग्रहों के पश्चात् क्रमशः द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पृष्ठस्तोत्र तथा मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-अच्छावाक शस्त्र और उक्थ्य ग्रहों की आहुति दी जाती है। सवनीय विधि, नीवार-चरु की आहुति, इडाभक्षण तथा प्रायश्चित्ताहुति के पश्चात् माध्यन्दिन सवन समाप्त होता है। इस में भी पांच-पांच स्तोत्र-शस्त्र होते हैं।

११. तृतीयसवन—हविर्धानमण्डप के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं। सोमपूर्ण स्थाली से आदित्य को आहुति दी जाती है।

११.१. सोमाभिषवः—ऋजीष से सोम का अभिषव कर के ग्रहों को भरा जाता है। विप्रुड् होम तथा सर्पण के पश्चात् आर्भव पवमान स्तोत्र होता है। सवनीय विधि तथा शेष भक्षण होता है।

११.२. ग्रहप्रचार—सविता को सोमग्रह की आहुति, वैश्वदेव शस्त्र, वैश्वदेवग्रह की आहुति तथा पात्नीवतग्रह का प्रचार होता है। तदनन्तर यज्ञायज्ञिय स्तोत्र, आग्निमारुत शस्त्र तथा ध्रुवास्थित सोम की आहुति के पश्चात् पूर्ववत् तीन उक्थ्य स्तोत्र, मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-अच्छावाक शस्त्र तथा सोमाहुति दी जाती है। सूर्यास्त के समय षोडशी स्तोत्र, षोडशी शस्त्र तथा षोडशी ग्रह प्रचार होता है। तदनन्तर अध्वर्यु १७ सोमग्रहों को और प्रतिप्रस्थाता १७ सुरा (दूध) ग्रहों को भरता है। वाजपेय स्तोत्र तथा वाजपेय शस्त्र के पश्चात् सोमग्रहों की आहुति आहवनीय में और सुरा (दूध) ग्रहों की आहुति मार्जालीय धिष्ण्य में दी जाती है। द्रोणकलश से हारियोजन आहुति, सद्य-विसर्जन तथा प्रायश्चित्ताहुति के पश्चात् तृतीयसवन समाप्त होता है। इस सवन में सात-सात स्तोत्र-शस्त्र होते हैं।

१२. अवभृथेष्टि—वरुण के लिए पुरोडाश, सब पात्र तथा घृत ले कर सामगान करते हुए यजमान-दम्पती एवं ऋत्विज् नदी पर जाते हैं। वहां जल में अवभृथेष्टि तथा स्नान करके पुनः यज्ञशाला में लौटते हैं।

१३. उदवसानीयेष्टि—प्रायणीयेष्टि के समान उदवसानीय (समापन) इष्टि होती है। तदनन्तर मित्र-वरुण के लिए आमिक्षा की आहुति दे कर, घृत से देविकाहुति दी जाती है। अरणियों में अग्नि-समारोपण करके यजमान-दम्पती अपने घर लौट आता है। इस प्रकार वाजपेय याग सम्पन्न होता है।

—०—

सोम-याग (अग्निष्टोम)

सोम-याग के भेद

सोमयाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं जटिल कृत्य है। इसकी प्रधान हवि: सोम नामक लता (का रस) है[1], अत: इसको सोमयाग का नाम दिया गया है। इसके भेद-प्रभेदों की संख्या शतकों तक पहुंचती है। सोमयाग के चार प्रकार हैं—एकाह, अहीन, साद्यस्क तथा सत्र। जिस सोमयाग का अनुष्ठान एक दिन में सम्पन्न हो जाता है, उसे 'एकाह' कहते हैं। दो दिन से ग्यारह दिन तक आवृत्ति करके सम्पन्न किया जानेवाला सोमयाग 'अहीन' कहलाता है। तेरह दिन से हजारों वर्ष तक किया जानेवाला सोमयाग 'सत्र' कहा जाता है। बारह दिन में सम्पन्न होनेवाला सोमयाग अहीन भी है और सत्र भी। एकाह, अहीन तथा सत्र संज्ञाएं सुत्यादिवस (सोम का रस निचोड़ने के दिनों) की अपेक्षा से हैं। एकाह में सुत्यादिवस से पूर्व चार दिन तक आनुषङ्गिक इष्टियां तथा सोम के अभिषव (निचोड़ने) की तैयारी की जाती है। इस प्रकार एकाह सोमयाग का अनुष्ठान पांच दिन में सम्पन्न होता है, परन्तु जिस सोमयाग में सङ्कल्प से अवभृथ तक पांच दिन में सम्पन्न होनेवाले कृत्यों को एक दिन में ही सम्पन्न कर लिया जाता है, वह 'साद्यस्क' कहा जाता है। अहीनात्मक द्वादशाह (बारह दिन में अनुष्ठेय सोमयाग) अहीनों की और सत्रात्मक द्वादशाह सत्रों की प्रकृति है। सत्र भी दो प्रकार के हैं—रात्रि-सत्र एवं अयन-सत्र। बारह दिन से सौ दिन तक होनेवाले याग रात्रि-सत्र और सौ से अधिक दिन तक चलनेवाले याग अयन-सत्र कहे जाते हैं।

एकाह की संस्थाएं

एकाह सोमयाग की सात संस्थाएं हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, अप्तोर्याम। जिस साम के द्वारा अग्नि की स्तुति (स्तोम = स्तुति) की जाती है, उस साम का नाम 'अग्निष्टोम' है। अग्निष्टोम के द्वारा जिस सोम-याग की समाप्ति (संस्था = समाप्ति) होती है, उसको अग्निष्टोम संस्था कहते हैं (अर्थात् अग्निष्टोम नामक सोमयाग में अन्तिम सामगान अग्निष्टोम = यज्ञायज्ञिय होता है)। इसी प्रकार उक्थ्य आदि अन्तिम सामों के नाम के अनुसार सोमयागों के नाम प्रचलित हैं। प्रथम चार संस्थाएं (अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र) ज्योतिष्टोम संस्थाएं कही जाती हैं, क्योंकि इन चारों संस्थाओं में ज्योति: नामक स्तोमों का गान किया जाता है। त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश तथा एकविंश—इन चार स्तोमों (इन का स्वरूप आगे स्पष्ट किया जायेगा) को ज्योति: कहा जाता है।[2] अग्निष्टोम नामक प्रथम संस्था में बारह स्तोत्र (सामगान

---

१. यह ओषधि प्राचीन काल से ही दुर्लभ है। अत: इसके स्थान में 'पूतीक' नामक ओषधि का विधान है। आजकल महाराष्ट्र में 'रांशेर' नामक पौधे को सोम का प्रतिनिधि मानकर अनुष्ठान किया जाता है।

२. त्रिवृत् पञ्चदश: सप्तदश एकविंश एतानि वाव तानि ज्योतींषि य एतस्य स्तोमा:। तै० ब्रा० १।५।११।।

द्वारा स्तुति) होते हैं[१]। उक्थ्य में पूर्वोक्त बारह के अतिरिक्त तीन स्तोत्र बढ़ कर स्तोत्रों की संख्या पन्द्रह हो जाती है, षोडशी में एक स्तोत्र अतिरिक्त होकर स्तोत्र-संख्या सोलह हो जाती है। अग्निष्टोम के पश्चात् उक्थ्य न करके यदि षोडशी किया जाए तो उसे अत्यग्निष्टोम कहते हैं। इसमें अग्निष्टोम के बारह स्तोत्र तथा षोडशी का एक स्तोत्र—कुल मिलाकर तेरह स्तोत्र होते हैं। वाजपेय में स्तोत्रों की संख्या सत्रह, अतिरात्र में पच्चीस तथा अप्तोर्याम में तेंतीस हो जाती है। स्तोत्र (सामगान द्वारा देवता की स्तुति) के पश्चात् शस्त्र (ऋचाओं द्वारा देवता की स्तुति) का पाठ किया जाता है[२]। अतः किसी याग में जितने स्तोत्र होते हैं, उतने ही शस्त्र होते हैं।

ऋत्विग् वर्ग—

दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान के लिए चार ऋत्विज्—ब्रह्मा-होता-अध्वर्यु-अग्नीत्—पर्याप्त होते हैं। वरुणप्रघास चातुर्मास्य में प्रतिस्थाता नामक नया ऋत्विज् आ जाता है और ऋत्विक्-संख्या पांच हो जाती है। सोम-याग तीनों वेदों से साध्य है[३], अतः तीनों वेदों के ऋत्विजों, समन्वय-कारकों तथा परिकर्मियों का समावेश ऋत्विक्-समुदाय में किया जाता है। प्रधान ऋत्विजों के चार गण होते हैं—ब्रह्मगण-होतृगण-अध्वर्यु गण-उद्गातृगण। प्रत्येक गण में चार-चार ऋत्विज्—प्रथम-द्वितीय-तृतीय--पादी होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

स्थिति	ब्रह्मगण	होतृगण	अध्वर्यु गण	उद्गातृगण
प्रथम	ब्रह्मा	होता	अध्वर्यु	उद्गाता
द्वितीयी	ब्राह्मणाच्छंसी	मैत्रावरुण (प्रशास्ता)	प्रतिप्रस्थाता	प्रस्तोता
तृतीयी	आग्नीध्र (अग्नीत्)	अच्छावाक	नेष्टा	प्रतिहर्त्ता
पादी	पोता	ग्रावस्तुत्	उन्नेता	सुब्रह्मण्य

सोलह प्रधान ऋत्विजों के अतिरिक्त एक सोमप्रवाक, दस चमसाध्वर्यु तथा एक या अनेक सदस्य भी होते हैं।

यज्ञ-शाला[४]

सोम-याग का आयोजन खुले स्थान पर किया जाता है। भूमि पूर्व या उत्तर की ओर कुछ नीची रखी जाती है। पहले पृष्ठ्या (पूर्व-पश्चिम मध्य रेखा) का रेखाङ्कन कर लिया जाता है, जिस को मध्य में रखते हुए शालाओं का निर्माण किया जाता है। पृष्ठ्या के पश्चिमी छोर पर एक वर्गाकार या आयताकार मण्डप बनाया जाता है, जिसकी लम्बाई चौड़ाई लगभग १० या १२ अरत्नि[५]

---

१. द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि। ता० ब्रा० ६।३।६॥

२. स्तुतमनु शंसति। ऐ० ब्रा० ५।२४।५॥ स्तुवतेऽथ शंसन्ति। शत० ब्रा० ८।१।३।३॥

३. यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैः। आप० श्रौ० २४।१।१-२॥

४. चित्र अन्त में देखें।

५. कोहनी से कनिष्ठा तक का परिमाण। यज्ञ में यजमान के परिमाण अभीष्ट होते हैं।

रखी जाती है। इसमें चारों दिशाओं में एक-एक द्वार (दो अरत्नि चौड़ा) बनाया जाता है। इस की छत घास-फूंस से बनाई जाती है, जिसका मध्य-बांस (शहतीर) पूर्व-पश्चिम (पृष्ठ्या के ठीक ऊपर) होता है। अतः इसे प्राग्वंशशाला अथवा प्राचीनवंशमण्डप कहते हैं (इसे विमित भी कहते हैं)। इस मण्डप में पश्चिम द्वार से दो अरत्नि पूर्व की ओर पृष्ठ्या पर गोल गार्हपत्य अग्निस्थान तथा पूर्व द्वार से दो अरत्नि पश्चिम की ओर चौकोन आहवनीयस्थान बनाया जाता है। इनसे दक्षिण की ओर अर्धचन्द्राकार दक्षिणाग्नि स्थान बनाया जाता है। गार्हपत्य से उत्तर में घर्मार्थं प्रवृञ्जनीय ख (एक अङ्गुल ऊंचा गोल चबूतरा) तथा आहवनीय से उत्तर में उद्वासनीय खर बनाया जाता है। उद्वासनीय खर से पूर्व की ओर आवसथ्य अग्नि स्थान तथा उत्तर-पूर्व कोने में उच्छिष्ट खर बनाया जाता है। आहवनीय के दक्षिण की ओर सभ्याग्निस्थान होता है। दक्षिणद्वार के समीप शाला के बाहर गौ एवं बकरी तथा उनके बछड़ों को बांधने के लिये चार खूंटे (गौ के बन्धनार्थ मेथी नामक स्थूणा शेष तीन खूंटे) गाड़े जाते हैं। पश्चिमी द्वार से पश्चिम में पत्नी-शाला बनाई जाती है, जिसके चारों ओर कनात या चटाई का आवरण लगाया जाता है। प्राग्वंशशाला का आवरण बांस की टट्टियों से किया जाता है। प्राग्वंशशाला का निर्माण याग आरम्भ होने से पूर्व ही कर लिया जाता है।

याग के तीसरे दिन महावेदी का निर्माण किया जाता है। विमित (प्राग्वंशशाला) की पूर्वी सीमा से तीन प्रक्रम[1] पूर्व की ओर पृष्ठ्या पर स्थित बिन्दु (चिह्न) को अन्तःपात्य कहा जाता है। अन्तःपात्य से १५ प्रक्रम उत्तर तथा १५ प्रक्रम दक्षिण रेखा खींची जाती है, जो क्रमशः महावेदी की उत्तर एवं दक्षिण श्रोणी हैं। पृष्ठ्या पर अन्तःपात्य से पूर्व की ओर ३६ प्रक्रम को दूरी पर बिन्दु (यूपावट स्थान) देकर, उसके १२ प्रक्रम उत्तर तथा १२ प्रक्रम दक्षिण रेखा खींची जाती है, जो क्रमशः महावेदी के उत्तर अंस एवं दक्षिण अंस हैं। इसप्रकार उत्तर अंस तथा उत्तर श्रोणी के अन्तिम बिन्दुओं और दक्षिण अंस तथा दक्षिण श्रोणी के अन्तिम बिन्दुओं को मिला देने से महावेदी तैयार हो जाती है। भूमि पर चूना डालकर या खड़ी ईंटें गाड़ कर महावेदी की सीमाएं स्पष्ट कर दी जाती हैं। महावेदी के पश्चिमी भाग में अन्तःपात्य से डेढ़ प्रक्रम पूर्व की ओर (पृष्ठ्या पर उत्तर-दक्षिण) १८×९ अरत्नि आयताकार सदःशाला बनाई जाती है, जिसके मध्य-दक्षिण में औदुम्बरी (यजमान की ऊंचाई के बराबर गूलर की स्थूणा) तथा पूर्व की ओर छह धिष्ण्य खर बनाये जाते हैं—पृष्ठ्या से कुछ दक्षिण में मैत्रावरुण-धिष्ण्य तथा उत्तरोत्तर क्रमशः होता-ब्राह्मणाच्छसि-पोता-नेष्टा-अच्छावाक के धिष्ण्य (चार अंगुल ऊंचे १८ अंगुल वर्गाकार) बनाये जाते हैं। सदःशाला में पृष्ठ्या पर पूर्व तथा पश्चिम द्वार होते हैं। इसी प्रकार सदःशाला से पूर्व पृष्ठ्या पर १० अरत्नि वर्गाकार हविर्धान मण्डप बनाया जाता है। इसमें भी पूर्व-पश्चिम दिशाद्वार होते हैं। इसमें दक्षिण की ओर उपरव नामक चार छेद बनाये जाते हैं। सदःशाला तथा हविर्धान मण्डप को भी बांस की टट्टियों से घेर दिया जाता है। यूपावट से पश्चिम की ओर ३ अरत्नि वर्गाकार उत्तरवेदी बनाई जाती है, जो चार अङ्गुल (या एक हाथ) ऊंची होती है। सदःशाला से उत्तर की ओर ५ अरत्नि वर्गाकार

---

१. यजमान के परिमाणानुसार एक प्रक्रम=२ पद।

आग्नीध्रीय मण्डप बनाया जाता है, जो आधा महावेदी के अन्दर तथा आधा बाहर होता है। इस में धिष्ण्य बनाया जाता है। आग्नीध्रीय मण्डप से पूर्व की ओर क्रमशः उत्कर, ऊवध्यगोह (पशु-अवशेष के लिए गढ़ा), शामित्र शाला एवं चात्वाल बनाये जाते हैं, जो महावेदी से बाहर होते हैं।

स्तोत्र-गान

सोम-याग में सामगान का महत्त्व इसी बात से प्रकट हो जाता है कि इन यागों के नाम विशिष्ट स्तोत्रों के नामों पर ही रखे गये हैं। ऋचाओं पर साम गाया जाता है[1]। याग (आहुति) से पूर्व देवता की स्तुति पहले सामगान से की जाती है, उसे 'स्तोत्र' कहते हैं। उसके पश्चात् उसी देवता की स्तुति ऋचाओं के पाठ से की जाती है, उस ऋक्-समूह को 'शस्त्र' कहते हैं। स्तोत्र की आधार-भूत (योनि) तीन ऋचाएं होती हैं। ये ऋचाएं तीन वार विभिन्न क्रमों से गाई जाती हैं, इस प्रकार इनके तीन पर्याय होते हैं। प्रत्येक पर्याय में एक या दो या तीनों ऋचाओं की आवृत्ति की जाती है। इस प्रकार आवृत्ति से निष्पन्न संख्यावाले स्तोत्र को 'स्तोम' नाम दिया गया है। कुल स्तोम नौ हैं—त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३), चतुर्विंश (२४) चतुश्चत्वारिंश (४४), अष्टाचत्वारिंश(४८)। आवृत्ति के विशेष प्रकार को विष्टुति कहते हैं। स्तोम तथा विष्टुति का स्वरूप उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा। कल्पना कीजिये—क ख ग तीन योनि ऋचाएं हैं। त्रिवृत (९) स्तोम में इन का गान होगा—प्रथम पर्याय=क ख ग; द्वितीय पर्याय=ख ग क; तृतीय पर्याय=ग क ख। त्रिवृत् की यही एक विष्टुति है। पञ्चदश(१५) स्तोम की तीन विष्टुतियां हैं। पहली विष्टुति में—प्रथम पर्याय=क क क ख ग; द्वितीय पर्याय=क ख ख ख ग; तृतीय पर्याय=क ख ग ग ग। दूसरी विष्टुति में—प्र०=क क क ख ग; द्वि०=क ख ग; तृ०=क ख ख ख ग ग ग। तीसरी विष्टुति में—प्र०=क ख ग; द्वि०=क ख ख ख ग; तृ०=क क क ख ग ग ग। सब स्तोमों की कुल मिलाकर अट्ठाईस विष्टुतियां हैं। यह उद्गाता की इच्छा पर निर्भर है कि वह किस स्तोम को किस विष्टुति के अनुसार गाना चाहता है। वस्तुतः सामगान कठिन कम है।

सामगान करने के लिए ऋक् पांच भागों में विभक्त कर ली जाती है—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव तथा निधन। गान करते समय ऋक् के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि उसमें हाउ, हाइ, ई ऊ हुम् आदि 'स्तोभों'[2] (गानानुकूल ध्वनियों) का समावेश कर दिया जाता है और अक्षरों में कई प्रकार के विकार कर दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ बहिष्पवमान स्तोत्र की प्रथम ऋक् है—**उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवाँ इयक्षते॥** इसका सामरूप है—**हुम्। उपास्मै गायता नरोम्। ओम् पा२ वा२मानायेन्दावा२ इ। अभि देवाँ इया १२१२। क्षातो। सा ३४५ त्॥** इसमें 'उपास्मै⋯नरोम्' प्रस्ताव है, 'ओम् वा ⋯२ इ' उद्गीथ है, 'अभि⋯⋯इया १२१२' प्रतिहार है, 'क्षातो' उपद्रव है और 'सा३४५ त्' निधन है। निधन के रूप में 'सात्, साम्, सुवः, इडा,

१. ऋच्यध्यूढं साम गीयते। छा० उप० १।६।१॥
२. देखें—छा० उप० १।१३॥ शाबरभाष्य पू० मी० ७।२।१॥

अा' आदि शब्दों का उच्चारण किया जाता है। सोमयाग में सामगान की साधारण विधि यह है कि सदोमण्डप में औदुम्बरी का स्पर्श करते हुए उद्गाता-प्रस्तोता-प्रतिहर्त्ता नामक ऋत्विज् क्रमशः उत्तर-पश्चिम-पूर्व की ओर मुख करके बैठ जाते हैं। बीच में सफेद वस्त्र बिछा लिया जाता है। प्रस्तोता साम का आरम्भ प्रस्ताव से करता है, उसके पश्चात् उद्गाता उद्गीथ का तथा प्रतिहर्त्ता प्रतिहार का गान करता है, उद्गाता उपद्रव का गान करता है और निधन का उच्चारण तीनों मिलकर करते हैं। प्रत्येक ऋक् की समाप्ति पर प्रस्तोता एक कुशा (लगभग चार अङ्गुल लम्बी गूलर की पतली लकड़ी)को सामने बिछे वस्त्र पर रख देता है। इससे गणना में सरलता हो जाती है।

शस्त्र-पाठ

सोय-याग में अनेक शस्त्रों का पाठ किया जाता है। उसकी विधि यह है—शस्त्र का पाठ करनेवाले चार ऋत्विज् (होता-मत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसी-अच्छावाक) सदःशाला में अपने-अपने धिष्ण्य के समीप पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठ जाते हैं। उनमें से जो ऋत्विज् शस्त्र का पाठ करनेवाला है, उस (होता आदि) के सामने अध्वर्यु (अथवा प्रतिप्रस्थाता) धिष्ण्य के पूर्व में पश्चिमाभिमुख खड़ा हो जाता है या उच्च आसन का सहारा लेकर (झुक कर) खड़ा हो जाता है। होता (या मैत्रावरुण आदि कोई होत्रक) **'शोंऽसावोऽम्'**[1] (हम दोनों शंसन—ऋक् पाठ करें) इस 'आहाव' (आह्वान वाक्य) को उच्च स्वर से बोलता है। अध्वर्यु (या प्रतिप्रस्थाता) इसके उत्तर में प्रतिगर (प्रोत्साहन वाक्य)बोलता है—**शोंशामो दैव** (हम शसन करें)। माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन में 'आहाव' का स्वरूप क्रमशः **अध्वर्यो शोंऽसावोऽम्, अध्वर्यो शोंशों ३ सावोऽम्** हो जाता है। ऋचाओं के अन्त में जहां होता (या होत्रक) प्रणव (प्लुत ओम्) का उच्चारण करता है, वहां अध्वर्यु (या प्रति-प्रस्थाता) **ओमोऽथामो दैव** प्रतिगर को बोलता है। अर्द्धर्च पर जहां होता (या होत्रक) अवसान करता है, वहां अध्वर्यु (या प्रतिप्रस्थाता) **ओऽथामो दैव** प्रतिगर का उच्चारण करता है। शस्त्र को समाप्ति पर **ओऽम्** यही प्रतिगर के रूप में बोला जाता है।

शस्त्रों के पाठ में प्रायः निम्नलिखित तत्त्वों का क्रमशः समावेश होता है—

(१) जप—शंसनकर्त्ता कुछ विशेष वाक्यों को मन्द स्वर से बोलता है। आज्य शस्त्र से पूर्व इसका प्रयोग होता है।

(२) आहाव-प्रतिगर—शस्त्र का आरम्भ आहाव से होता है। इसका प्रयोग शस्त्र के मध्य भी यथाविधि होता है। आहाव के उत्तर में प्रतिगर का प्रयोग किया जाता है, इस के सामान्य नियम ऊपर दर्शाये गये हैं।

(३) तूष्णींशंस—इन गद्य वाक्यों का प्रयोग मन्द स्वर से किया जाता है। श्रौतसूत्रकारों ने इन का उल्लेख किया है। आज्यशस्त्र में इन का प्रयोग विशेष दर्शनीय है।

(४) निविद (पुरोरुक्)—इन विशिष्ट गद्य वाक्यों का प्रयोग मन्द स्वर से किया जाता है। इन का संग्रह तथा विधान ऐतरेयादि ब्राह्मण तथा आश्वलायनादि श्रौतसूत्रों में किया गया है।

---

१. आश्व० श्रौ० ५।६।२॥

(५) **शंसनीय सूक्त**—ऋग्वेद के एक या अनेक सूक्त एवं ऋचाओं का संग्रह ही प्रधान रूप से शस्त्र है। प्रायः इसकी प्रतिपद् (प्रथम ऋक्) का पाठ तीन बार होता है। मैत्रावरुणादि शस्त्रों में स्तोत्रिय (स्तोत्र में गाये गये) तृचों या प्रगाथों और उन्हीं के अनुरूप अन्य तृचों या प्रगाथों का समावेश होता है। शंसनीय सूक्तों की अन्तिम ऋक् परिधानीया कहलाती है।

(६) **उक्थवाचि-उक्थशाः**—परिधानीया ऋक् के अन्त में शंसनकर्त्ता **'उक्थवाचि'** शब्द का उच्चारण करके **'घोषाय त्वा' 'श्लोकाय त्वा'** आदि शब्दों का प्रयोग करता है, जो प्रत्येक शस्त्र में भिन्न-भिन्न होते हैं। इस के पश्चात् अध्वर्यु **'ओ३म्'** प्रतिगर का उच्चारण कर के शंसनकर्त्ता को **'उक्थशाः सोमस्य यज'** यह कह कर याज्या-पाठ के लिये प्रैष देता है।

याज्या—पूर्वोक्त प्रैष के पश्चात् याज्या ऋक् का शंसन किया जाता है।

अग्निष्टोम में स्तोत्र-शस्त्र

याग में देवता की स्तुति स्तोत्र से कर के पुनः शस्त्र से की जाती है, अतः स्तोत्र-शस्त्रों की संख्या समान होती है। अग्निष्टोम याग में बारह स्तोत्र, बारह शस्त्र (तथा चार स्तोम) होते हैं—प्रातःसवन में पांच-पांच, माध्यन्दिन सवन में भी पांच-पांच तथा तृतीय सवन में दो-दो। प्रातःसवन में प्रथम स्तोत्र बहिष्पवमान है। साममन्त्र संहिता उत्तरार्चिक के **उपास्मै, दविद्युतत्या, पवमानस्य ते** (सा० उ० १।१।१-३) इन तीन तृचात्मक सूक्तों पर गायत्र नामक साम त्रिवृत् स्तोम से गाया जाता है, इस का नाम बहिष्पवमान है। इस के पश्चात् चार आज्य स्तोत्र हैं। पूर्वोक्त तीन सूक्तों के आगे चार सूक्तों (सा० उ० १।१।४-७) पर गायत्र साम पञ्चदश स्तोम से गाया जाता है, इन चारों सूक्तों को आज्य स्तोत्र कहते हैं। माध्यन्दिन सवन में प्रथम स्तोत्र माध्यन्दिनपवमान है। आज्यस्तोत्रों से अगले तीन सूक्तों (सा० उ० १।१।८।१०) पर गायत्र-आमहीयव-रौरव-यौधाजय-औशनस नामक पांच सामों को पञ्चदश स्तोम से गाया जाता है, इसका नाम माध्यन्दिन पवमान है। इस के पश्चात् चार पृष्ठ स्तोत्र होते हैं। बृहत्-रथन्तर-वैरूप-वैराज-शाक्वर-रैवत—इन छह सामों की संज्ञा पृष्ठ है। अग्निष्टोम में बृहत् या रथन्तर साम का प्रयोग होता है। माध्यन्दिन पवमान से अगले चार सूक्तों (सा० उ० १।१।११-१४) पर क्रमशः रथन्तर-वामदेव्य-नौधस-कालेय नामक सामों को सप्तदश स्तोम से गाया जाता है, इन चारों सूक्तों को पृष्ठस्तोत्र कहते हैं। तृतीय सवन में प्रथम स्तोत्र आर्भव पवमान है। पृष्ठस्तोत्र के पश्चात् पांच सूक्तों (सा० उ० १।१।१५-१९) पर गायत्र-संहित-शफ-पौष्कल-श्यावाश्व-आन्धीगव-काव नामक सामों को सप्तदश स्तोम से गाया जाता है, इसको आर्भवपवमान स्तोत्र कहते हैं। इसके पश्चात् अग्निष्टोम स्तोत्र होता है। आर्भव-पवमान से अगले सूक्त (सा० उ० १।१।२०) पर यज्ञायज्ञिय साम को एकविंशति स्तोम से गाया जाता है।

प्रातःसवन में पहले आज्यशस्त्र[1] और दूसरे प्रउगशस्त्र का शंसन (पाठ) होता करता है। तदनन्तर मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-अच्छावाक शस्त्रों का शंसन क्रमशः मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसी-

१. शस्त्रों के स्वरूप (ऋक् संग्रह) के लिए देखें 'श्रौतकोश' द्वितीय भाग (पूना)।

अच्छावाक करते हैं। माध्यन्दिन सवन में प्रथम-द्वितीय मरुत्वनीय-निष्केवल्य शस्त्रों का शंसन होता करता है और मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-अच्छावाक शस्त्रों का शंसन क्रमशः वह-वह ऋत्विज् करता है। तृतीय सवन के दोनों—वैश्वदेव तथा आग्नि मारुत शस्त्रों का शंसन होता करता है।

अधिकारी तथा काल

सोमयाग के अनुष्ठान में दो पक्ष हैं—प्रथम—अनाहिताग्नि (अग्न्याधान से रहित) ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य उत्कट इच्छा होने पर वसन्त ऋतु में यथाविधि अग्न्याधान के पश्चात् सोमयाग कर सकता है। द्वितीय—यथाकाल अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास तथा चातुर्मास्य आदि यागों को करके त्रैवर्णिक वसन्त ऋतु में सोम याग कर सकता है। जिसके पिता या पितामह ने सोमयाग का अनुष्ठान नहीं किया, उसे सोमयाग करने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार जिसके पिता या पितामह ने वेदाध्ययन नहीं किया अथवा श्रौत हविर्यज्ञों का अनुष्ठान नहीं किया, वह दुर्ब्राह्मण भी सोमयाग का अधिकारी नहीं है। परन्तु ये दोनों प्रकार के दोष ऐन्द्राग्न पशु (घृत) याग तथा आश्विन पशु (घृत) याग करके दूर किये जा सकते हैं। ये दोनों याग सोमयाग के आरम्भ से पूर्व पौर्णमासी को किये जा सकते हैं अथवा सोमयाग के मध्य अग्नीषोमीय तन्त्र के साथ किये जा सकते हैं। इन के अतिरिक्त कूश्माण्ड होम[1], पवित्रेष्टि, गायत्री जप आदि विधियों से आत्म-शोधन तथा निर्वैरता-प्राप्ति भी सोमयाग के इच्छुक के लिये अनिवार्य हैं।

सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम है, जो सामान्यतः पांच दिन में सम्पन्न होता है। पांच दिन में सम्पन्न होनेवाले अग्निष्टोम में एकदिवसीय दीक्षा होती है। इसका आरम्भ एकादशी को किया जाता है। दीक्षादिवसों[2] की संख्या तीन या चार होने पर नवमी या अष्टमी को याग का आरम्भ किया जाता है। यागारम्भ से पर्याप्त समय पूर्व ऋत्विजों को निश्चित करके सोमप्रवाक नामक ऋत्विज् के द्वारा उनको आमन्त्रित किया जाता है, जो निश्चित तिथि को निश्चित स्थान पर आ कर उपस्थित हो जाते हैं। याग में अनुष्ठीयमान कृत्यों का क्रमिक विवरण आगे दिया जाता है—

प्रथम दिन के कृत्य

१. **ऋत्विग्वरण-देवयजनयाचन-प्राग्वंशशाला निर्माण**—निश्चित तिथि को यजमान विधिवत् याग-संकल्प करके ऋत्विजों का वरण करता है। वरणमन्त्र का देवता सम्बन्धी अंश मन्दस्वर से तथा मनुष्यसम्बन्धी अंश उच्च स्वर से बोला जाता है—**अग्निर्मे होतादित्यो मेऽध्वर्युश्चन्द्रमा मे ब्रह्मा पर्जन्यो म उद्गाता**···(उपांशु) **गणपतिशर्मा** (होता आदि ऋत्विज् का नाम) **मानुषः** (उच्च स्वरसे[3])। वरण के पश्चात् ऋत्विजों को मधुपर्क, पञ्च-पात्र, वस्त्र, अलंकार आदि से सम्मानित किया जाता

---

१. तैत्तिरीय आरण्यक में पठित 'यद्देवा देवहेडनम्' (तै० आ० २।२) इत्यादि कूश्माण्डसंज्ञक मन्त्रों से किया जाने वाला होम।

२. दीक्षादिवसों की संख्या १२ दिन, एक मास या एक वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है, जब तक यजमान अतिकृश न हो जाय। द्र०—आप० श्रौ० १०।१४।८॥ १०।१५।४॥ आश्व० श्रौ० ४।२।१३-१५॥

३. द्र०—आप० श्रौ० १०।१।१४॥

है। इसके पश्चात् यजमान राजा से देवयजन (याग के योग्य भूमि) को मांगता है—**देव वरुण देवयजनं मे देहि।** यजमान यदि स्वयं राजा हो तो होता आदि ऋत्विजों से देवयजन की याचना करता है। देवयजन के पश्चिमी भाग में विमित (प्राग्वंशशाला), पत्नीशाला तथा व्रतश्रपणागार (यजमानदम्पती के पानार्थ दूध को उष्ण करने के लिए मण्डप) का निर्माण किया जाता है।

२. **अग्निसमारोपण-देवयजनप्रवेश-अप्सुदीक्षा-दीक्षणीयेष्टि-यजमानदीक्षा**—अपने गृह पर यजमान **अयं ते योनिः** (य० ३।१४) मन्त्र से गार्हपत्य एवं आहवनीय अग्नियों पर अरणियों को तपा कर[1] अग्नियों को बुझाकर, अरणियों को हाथों में लेकर, पत्नीसहित देवयजन में पहुंच कर, पूर्वी द्वार से प्राग्वंशशाला में घुस कर शाला के मध्यस्तम्भ का स्पर्श करता है। सम्भारों (यज्ञसामग्री) को भी देवयजन में ले जाते हैं। अरणियों को मथ कर (पृष्ठ ८६) उत्पन्न हुई अग्नि को प्राग्वंशशालीय गार्हपत्य एवं आहवनीय में स्थापित करके, अध्वर्यु आहवनीय में सम्भार **यजुः** (तै० आ० ३।८) मन्त्रों से २४ घृताहुतियां, सप्तहोतृ (तै० आ० ३।५) मन्त्रों से घृताहुति तथा यूपाहुति भी घृत से देता है। प्राग्वंशशाला से उत्तर की ओर यजमान केशवपन (पृ० ८६) तथा नख-कर्त्तन के पश्चात् स्थावर जल में स्नान करके रेशमी वस्त्र धारण कर लेता है। केशवपन से स्नान तक किये जानेवाले कृत्यों को 'अप्सुदीक्षा' कहते हैं। यजमानपत्नी भी केशवपन को छोड़कर इन कृत्यों को करती है। तदनन्तर यजमान दम्पती यथारुचि भोजन करते हैं।

यजमान एवं पत्नी मक्खन से शरीर का अभ्यङ्ग करके आंखों में अञ्जन लगाते हैं। अध्वर्यु मन्त्रोच्चारण-पूर्वक यजमान के शरीर का शोधन दर्भों से करता है। प्रतिप्रस्थाता यजमानपत्नी के शरीर का शोधन मन्त्रोच्चारण के बिना ही करता है। यजमान दम्पती प्राग्वंशशाला में अपने-अपने आसन पर बैठ जाते हैं। इसके पश्चात् दीक्षणीय इष्टि का अनुष्ठान होता है। दीक्षणीय इष्टि की प्रधान देवता अग्नाविष्णु है और हवि एकादशकपाल पुरोडाश है। यह इष्टि पत्नीसंयाज तक की जाती है तथा प्रकृति (दर्शपूर्णमास) विहित अनेक कर्म छोड़ दिये जाते हैं। छः दीक्षाहुतियां (जो औद्ग्रहण या औद्ग्रभण भी कही जाती हैं) दी जाती हैं—ध्रुवा से स्रुव में घृत लेकर **आकूत्यै** (यजु० ४।६) आदि मन्त्रों से चार, स्रुच् द्वारा **आपो देवीः** (यजु० ४।६) से पांचवीं तथा स्रुच् से ही **विश्वे देवस्य** (यजु० ४।७) से छठी पूर्णाहुति (स्रुच् को आज्य से पूर्ण करके) दी जाती है।

इसके पश्चात् यजमान दम्पती को दीक्षित किया जाता है। यजमान अध्वर्यु द्वारा दिये गये कृष्णाजिन मृग-चर्म पर बैठ कर, मूंज की मेखला को कटि पर बांध कर, शरीर खुजलाने के लिए कृष्णविषाण (मृग के सींग) को वस्त्र या हाथ में बांध कर, सिर पर पगड़ी बांध कर, अपनी ऊंचाई के बराबर गूलर के दण्ड को धारण करता है। यजमानपत्नी सिर पर जाली तथा कटि पर मूंज का योक्त्र बांधती है। यजमान विशेष प्रकार से मुट्ठी बांधता है। तब यजमान दीक्षित घोषित किया जाता है—'अदीक्षिष्टाय ब्राह्मणः[2] [रङ्गनाथशर्मा देवदत्तशर्मणः पुत्रः केशवशर्मणः पौत्रः यज्ञदत्तशर्मणो

१. इस विधि से अग्नि अरणियों में प्रविष्ट हुई मानी जाती है, अतः इस विधि को अग्निसमारोपण कहते हैं।

२. यजमान के क्षत्रिय-वैश्य होने पर भी ब्राह्मण शब्द का ही प्रयोग होता है, क्योंकि दीक्षित अवस्था के नियम ब्राह्मणत्व के अनुरूप होते हैं।

नप्ता यमुनादेव्या पुत्रो विमलायाः पौत्रो रुक्मिण्या नप्ता]'। इस प्रकार तीन बार उपांशु एवं तीन बार उच्च स्वर से दीक्षित होने की घोषणा के पश्चात् यजमान तारे निकलने तक मौन रहता है। इसके पश्चात् सनीहार (यज्ञसहायतार्थ द्रव्य) लाने के लिए यजमान के सम्बन्धी जाते हैं। यजमान-दम्पती रात को व्रत (दूध) पान कर के रात्रि-जागरण करते हैं।

द्वितीय दिन के कृत्य

१. प्रायणीयेष्टि-सोमक्रय-आतिथ्येष्टि—दूसरे दिन प्रातः प्रायणीय (आरम्भणीय) इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। इस इष्टि की प्रधान देवताएं पांच हैं और अग्नि स्विष्टकृत् छठी देवता हैं। पथ्या स्वस्ति-अग्नि-सोम-सविता इन चार देवताओं को आहवनीय में क्रमशः पूव-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर दिशाओं में घृत की और अदिति को आहवनीय के मध्य में चरु की आहुति दी जाती है। इनकी पुरोनुवाक्या-याज्या हैं—

	देवता	पुरोनुवाक्या	याज्या
(१)	पथ्या स्वस्ति	स्वस्तिः नः पथ्यासु (ऋ० १०।६३।१५)	स्वस्तिरिद्धि(ऋ० १०।६३।१६)
(२)	अग्नि	अग्नये नय सुपथा (ऋ० १।१८९।१)	आ देवानामपि (ऋ० १०।२।३)
(३)	सोम	त्वं सोम प्र (ऋ० १।९१।१)	या ते धामानि (ऋ० १।९१।४)
(४)	सविता	आ विश्वदेव (ऋ० ५।८२।७)	य इमा विश्वा (ऋ० ५।८२।९)
(५)	अदिति	सुत्रामाणं पृथिवीं (ऋ० १०।६३।१०)	महीमूषु मातरं(तै०सं० १।५।११।५)
(६)	अग्नि स्विष्टकृत्	सेदग्निरग्नींरत्यस्त्वन्यान्(ऋ० ७।१।१४)	सेदग्निर्यो (ऋ० ७।१।१५)

इस इष्टि की समाप्ति प्रथम शंयु पर हो जाती है और पत्नी-सयाज तथा समिष्टयजु का अनुष्ठान नहीं किया जाता। उपयनीय (समापनीय) इष्टि भी इसी के समान होती है। इसकी पुरोनुवाक्या-याज्या उसमें क्रमशः याज्या-पुरोनुवाक्या बन जाती हैं। चरु-पात्र को बिना धोए ही उदयनीय इष्टि के लिए रख देते हैं।

इसके पश्चात् उपरव-स्थान पर सोमक्रय का अभिनय किया जाता है। अध्वर्यु आहवनीय में हिरण्यवती आहुति (जुहू में सोना रखकर) देता है और यजमान के साथ सोमक्रयणी गौ के पीछे चलकर गौ के सातवें पदचिह्न पर सोना रखकर अदिति के लिए घृताहुति देता है, यजमान त्याग करता है। सोमविक्रयी से सौदा करके एकवर्षीय गौ, सोना, बकरी, बछड़े सहित गौ, बैल, गाड़ी को खींचनेवाला बैल, जवान बैल, जवान बछड़ी, वस्त्र—इन दस वस्तुओं के बदले सोम राजा को खरीद कर, हविर्धान (गाड़ी) में रखकर ऋक्-पाठ तथा सामगान के साथ प्राग्वंशशाला के पूव द्वार तक लाया जाता है। सोम राजा के सम्मानार्थ आतिथ्येष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। इस इष्टि की प्रधान देवता विष्णु तथा हवि नवकपाल पुरोडाश है। हविष्कृदाह्वानं के पश्चात् सोम की गाड़ी से उठाकर, आहवनीय के दक्षिण तथा ब्रह्मा के पूर्व स्थित राजासन्दी पर रख देते हैं। इडाभक्षण पर इष्टि समाप्त होती है। विष्णु तथा स्विष्टकृत् की पुरोनुवाक्या तथा याज्या हैं—

विष्णु	इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० १।२२।१७)	तदस्य प्रियमभि(ऋ० १।१५४।५)
स्विष्टकृत्	होतारं चित्ररथम् (ऋ० १०।१।५)	प्रप्रायमग्निः (ऋ० ७।८।४)

१. **तानूनप्त्र-सोमाप्यायन-निह्नव**—आतिथ्येष्टि से बचे हुए घी में से चार-पांच स्रुव घी कांसे के कटोरे में रखा जाता है। सभी ऋत्विज् तथा यजमान यज्ञ में परस्पर अविरोध की शपथ के रूप में इस घी का स्पर्श करते हैं। यह विधि तानूनप्त्र कही जाती है। इसके पश्चात् यजमान सहित सब ऋत्विज् कुश हाथ में लेकर **अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायताम्** (य० ५।७) मन्त्र से सोम पर गर्म जल के छींटे दे कर आप्यायन करते हैं। तदनन्तर वे एक एक कर के प्रस्तर पर दायीं हथेली को सीधी रख कर उसको बायीं हथेली से ढकते (उलटी रख कर) हैं, इस क्रिया को निह्नव (नमस्कार) कहा जाता है। प्रति दिन दो बार—सोमाप्यायन तथा निह्नव किया जाता है।

२. **प्रवर्ग्य-उपसद्-सुब्रह्मण्याह्वान**—प्रवर्ग्य तथा उपसद सोमयाग की महत्त्वपूर्ण इष्टियां हैं। इन का अनुष्ठान प्रतिदिन दो बार—पूर्वाह्न एवं अपराह्न में—किया जाता है। श्रौतग्रन्थों में प्रवर्ग्य का निरूपण पृथक् किया गया है। यह स्वतन्त्र कृत्य है, किसी की विकृति नहीं। प्रवर्ग्य के लिये मिट्टी के सुदृढ़ पात्र की आवश्यकता होती है। इस के निर्माण का प्रकार यह है—सोमयाग के प्रथम दिवस (अथवा उस से पूर्व अमावस्या या पूर्णमासी को) उपयुक्त स्थल से विधि-विधान के साथ मिट्टी लाई जाती है। उस में सूअर द्वारा खोदी गई मिट्टी, दीमक की मिट्टी, पूतीक के तिनके, बकरी तथा मृग के बाल आदि मिलाकर, उष्ण जल से गूंथ कर तीन महावीर(=घर्म=सम्राट्)पात्र बनाये जाते हैं, जो लगभग तीस सेंटीमीटर ऊंचे, ऊपर नीचे रखी तीन घटिकाओं के आकारवाले होते हैं। इनके अतिरिक्त हाथी के ओष्ठ के आकारवाले दो दोहनपात्र (पिन्वन) तथा दो रौहिण कपाल(छोटे-छोटे घोड़े, जिनकी पीठ पर गोल कपाल बने हों)भी इसी मिट्टी से बनाये जाते हैं। गार्हपत्य से पूर्व दिशा में गड्ढा खोदकर इन को ईंटों के समान पका कर बकरी के दूध से चिकना कर लिया जाता है। प्रवर्ग्य सम्बन्धी अन्य पात्र गूलर की लकड़ी से बनाये जाते हैं।

निह्नव के पश्चात् प्रवर्ग्य का आरम्भ होता है। प्राग्वंशशाला के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं। आग्नीध्र रौहिण कपालों पर पुरोडाश तैयार करता है। अध्वर्यु आहवनीय में सात प्राणाहुतियां घृत से देता है। प्रवृञ्जनीय खर पर चांदी का रुक्म रख कर, अग्नि जला कर, उस पर महावीर रख कर, महावीर में घी भर कर, उस के मुख को सोने के रुक्म (पतला गोल टुकड़ा) से ढक कर, अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-आग्नीध्र हाथों में धवित्र (मृगचर्म के पंखे) ले कर अग्नि को प्रज्वलित करते हुए महावीर को तपाते हैं, साथ ही होतृवर्ग ऋचाओं का पाठ करता है और उद्गातृवर्ग सामगान करता है। महावीर के तप्त होने पर क्रमशः अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता प्राग्वंश के दक्षिण में बंधी गौ बकरी का दोहन पिन्वन पात्रों में करते हैं। गौ तथा बकरी के दूध को क्रमशः तप्त महावीर में उपयमनी नामक महास्रुच् की सहायता से डालते हैं; जिससे महाज्वाला उठती है। प्रतिप्रस्थाता दक्षिण रौहिणकपाल की आहुति आहवनीय में देता है। अध्वर्यु (प्रतिप्रस्थाता की सहायता से) महावीर को शफों (=परीशास) एवं उपयमनी से उठा कर आहवनीय में घर्म की आहुति अश्विद्वय तथा इन्द्र को देता है। स्विष्टकृत् आहुति के पश्चात् महावीर में दही डालकर पुनः आहुति दी जाती है। दधिशेष को पात्रों सहित उद्वासनीय खर पर रख कर, प्रतिस्थाता उत्तर रौहिण कपाल की आहुति आहवनीय में देता है। छह शाकलहोम, शेष घर्म से अग्निहोत्र, इडाभक्षण तथा प्रवर्ग्य-प्रायश्चित्त-

हुति के पश्चात् प्रवर्ग्यसम्बन्धी पात्रों को आहवनीय के दक्षिण एवं राजासन्दी के उत्तर (या पूर्व) में रखी हुई सम्राडासन्दी पर रख देते हैं।

प्रवर्ग्य के अनन्तर उपसद इष्टि का अनुष्ठान उपांशुयाग के समान किया जाता है। इस की प्रकृति दर्शपूर्णमास है, किन्तु इसमें आज्यभाग, प्रयाज, अनुयाज एवं स्विष्टकृत् आहुति को छोड़ दिया जाता है। प्रातः तीन ऋचाओं (ऋ० ७।१५।१-३) की आवृत्ति करके नौ सामिधेनी होती हैं, इसी प्रकार सायं भी तीन ऋचाओं (ऋ० २।६।१-३) की आवृत्ति कर के नौ सामिधेनी होती हैं। इस इष्टि की प्रधान देवताएं, अग्नि, सोम एवं विष्णु हैं, जिन को आज्य की हवि दी जाती है। इन की पुरोनुवाक्या-याज्या हैं—

देवता	पुरोनुवाक्या	याज्या
(१) अग्नि	**अग्निर्वृत्राणि (ऋ० ६।१६।३४)**	**य उग्र इव (ऋ० ६।१६।३९)**
(२) सोम	**त्वं सोमासि (ऋ० १।८१।५)**	**गयस्फानो (ऋ० १।९१।१२)**
(३) विष्णु	**इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० १।२२।१७)**	**त्रीणि पदा विचक्रमे(ऋ०१।२२।१८)**

आपराह्णिक उपसद् में इन का क्रम उलट कर याज्याएं पुरोनुवाक्याएं और पुरोनुवाक्याएं याज्याएं बन जाती हैं। प्रधान आहुतियों के पश्चात् घृत से एक उपसत् आहुति **या ते अग्ने अयःशया तनुः** (य० ५।८) मन्त्र से दी जाती है। दूसरे तथा तीसरे दिन **अयःशया** के स्थान में क्रमशः **रजःशया** तथा **हरिशया** शब्दों का उच्चारण किया जाता है।

उपसद् के पश्चात् सोमाप्यायन एवं निह्नव होता है। तदनन्तर सुब्रह्मण्य नामक ऋत्विज् के नेतृत्व में सुब्रह्मण्याह्वान (सोमपान के लिये इन्द्र का आह्वान) होता है। सुब्रह्मण्य-निगद का पाठ इस प्रकार है—**सुब्रह्मण्यो३म्। सुब्रह्मण्योरम्। सुब्रह्मण्यो३म्। इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जार कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाण** [एतावदहे] **सुत्यां** [यावदहे स्यात्]। **देवा ब्राह्मण आगच्छतागच्छतागच्छत** (लाटया० श्रौ० १।३।१॥ तु०—शत० ब्रा० ३।३।४।१७-२०)। इसमें **गौतम-ब्रुवाण**,के पश्चात् क्रमशः त्र्यहे, द्व्यहे, श्वः, अद्य पदों का प्रयोग दिनों के अनुसार होता है। इस निगद की तीन आवृत्ति की जाती हैं। सुत्या से पूर्व दिवस 'असौ (यजमान के तीन पूर्वज, यजमान तथा उसकी सन्तानों के नाम) यजते' का उल्लेख भी किया जाता है। प्रवर्ग्य-उपसद्-सोमाप्यायन-निह्नव-सुब्रह्मण्याह्वान का क्रम सुत्या दिवस तक प्रतिदिन प्रातः सायं चलता है।

तृतीय दिन के कृत्य

१. **पौर्वाह्णिक प्रवर्ग्यादि-महावेदिकरण-आपराह्णिक प्रवर्ग्यादि**—तीसरे दिन प्रातःकाल प्रवर्ग्य-उपसद्-सोमाप्यायन-निह्नव-सुब्रह्मण्याह्वान के पश्चात् महावेदि का निर्माण किया जाता है। महावेदि के निर्माण का विवरण पूर्व (पृ० १०५) दिया जा चुका है। सायङ्काल भी प्रवर्ग्य आदि कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है।

चतुर्थ दिन के कृत्य

१. **प्रवर्ग्यादि-प्रवर्ग्योद्वासन-वैसर्जन-अग्निसोमप्रणयन-दीक्षाविसर्जन**—चौथे दिन पौर्वाह्णिक प्रवर्ग्य-उपसद्-सोमाप्यायन-निह्नव-सुब्रह्मण्याह्वान के पश्चात् आपराह्णिक प्रवर्ग्य का अनुष्ठान करके प्रवर्ग्योद्वासन किया जाता है, जिसकी विधि यह है—अध्वर्यु आहवनीय में तीन आज्याहुति देता है, प्रथम आहुति के समय स्रुच् को मुख की ऊंचाई पर, दूसरी आहुति के समय नाभि की ऊंचाई पर और तीसरी आहुति के समय घुटने की ऊंचाई पर रखता है। प्रवृञ्जनीय तथा उद्वासनीय खरों की मिट्टी और सम्राडासन्दी सहित सब प्रवर्ग्य पात्रों, मेथी (गोबन्धन स्थूणा) तथा शङ्कुओं (खूंटों) को उठा कर यजमान दम्पती तथा ऋत्विज् सामगान के साथ उत्तरवेदि पर ले जाते हैं। अध्वर्यु तीन बार दायें से उत्तरवेदि के चारों ओर जलसेचन कर के, तीन बार बायें से उत्तरवेदि की परिक्रमा करता है। सब प्रवर्ग्य पात्रों को उत्तरवेदि के मध्य में मानव के आकार में रख कर, उनमें घी, दही, मधु भर दिया जाता है। इसके पश्चात् उसी समय आपराह्णिक उपसद्-सोमाप्यायन-निह्नव-सुब्रह्मण्याह्वान होता है।

क्रमशः अध्वर्यु-यजमान पत्नी-यजमान के परिजन परस्पर स्पर्श करते हुए एक वस्त्राच्छादन के नीचे चल कर आहवनीय तक जाते हैं और अध्वर्यु प्रचरणी (स्रुच्) में आज्य लेकर सोम देवता के लिये वैसर्जन होम करता है। तदनन्तर आहवनीय में काष्ठ डालकर, जलते हुए काष्ठों को लेकर, समारोहपूर्वक उत्तरवेदि के मध्य में अग्नि को स्थापित किया जाता है। अब उत्तरवेदि में स्थित अग्नि की संज्ञा आहवनीय, शालामुखीय अग्नि (प्राग्वंशशालीय आहवनीय) की संज्ञा गार्हपत्य और प्राकृत गार्हपत्य की संज्ञा प्राजहित हो जाती है। इस प्रकार अग्नि-प्रणयन के पश्चात् सोम-प्रणयन किया जाता है। एक हविर्धान (गाड़ी) में पूतभृत् तथा आधवनीय नामक मिट्टी के घड़े और दूसरे हविर्धान में सोम को रख कर प्राग्वंशशाला के पूर्वी द्वार से महावेदि के पूर्वी भाग तक ले जा कर पहली गाड़ी को उत्तर में तथा दूसरी को दक्षिण में पूर्वाभिमुख खड़ा करते हैं। दोनों हविर्धानों को चारों ओर से घेर कर हविर्धानमण्डप बना दिया जाता है। दक्षिणी हविर्धान के नीचे उपरव नामक चार बिल बनाये जाते हैं। हविर्धानमण्डप तथा प्राग्वंशशाला के मध्य सदोमण्डप बनाया जाता है और उत्तर-दक्षिण में आग्नीध्रीय-मार्जालीय मण्डपों का निर्माण किया जाता है। अब यजमान **अग्ने व्रतपते** (य०५।४०) से आहवनीय में समिधा डालकर दीक्षा (मेखला-कृष्णाजिन-दण्ड-व्रतपान-मौन) का त्याग कर देता है।

२. **अग्नीषोमीयपशु-वसतीवरीग्रहण-दधितञ्चन**—आहवनीय से पूर्व की ओर बेल, खैर या ढाक का यूप गाड़ कर, उस के ऊपर चषाल रख कर, वस्त्र से ढक कर मूंज की रस्सी बांध कर, उस में बकरे[1] को बांध कर उपाकरण (कुश से पशु का स्पर्श) किया जाता है। पर्यग्निकरण के पश्चात् प्रवृत आदि विधियाँ प्रकृति (निरूढ पशुबन्ध) के समान की जाती हैं। संज्ञपन (दम घोट कर

१. आज कल बकरे को नहीं लाया जाता। हाडी में घी भर कर उसी से पशु विधियां की जाती हैं। वपा-अङ्ग होम घृत से किये जाते हैं।

मारने) के पश्चात् वपा तथा अन्य दस अङ्ग निकाल कर, पका कर वपा होम किया जाता है। सुब्रह्मण्याह्वान के पश्चात् अग्नि सोम के लिए पशु पुरोडाश (वपाहोम तथा अङ्गहोम के बीच जिस पुरोडाश से आहुति दी जाती है, उसे पशुपुरोडाश कहते हैं) तैयार किया जाता है। सूर्यास्त के समय अध्वर्यु नदी पर जाकर **हविष्मतीः** (य० ६।२३) मन्त्र से घड़े में वसतीवरी नामक जल भर लाता है और शालामुखीय अग्नि के पश्चिम में रख देता है। इस के पश्चात् पशुपुरोडाश की आहुति तथा इडाभक्षण होता है, तदनन्तर अङ्गहोम तथा शेषभक्षण किया जाता है। वसतीवरी तथा सोम को आग्नीध्रीय मण्डप में रख दिया जाता है और यजमान रात भर जाग कर उनकी रक्षा करता है। अगले दिन मित्र-वरुण को दी जानेवाली आमिक्षा, दधि ग्रह, दधिघर्म तथा आदित्य ग्रह आदि के लिये प्रतिप्रस्थाता गोदोहन करके दही जमा देता है।

पञ्चम दिन के कृत्य

प्रातःसवन

१. **यज्ञतनुहोम-पात्रस्थापन-प्रातरनुवाक-सवनीयहवि एकधनाजल** —पांचवें दिन सोम का अभिषव (रस निकालना) होने के कारण इसे 'सुत्या दिवस' कहते हैं। सोम का अभिषव तीन बार होता है, अतः कृत्यों के तीन विभाग—प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, तृतीयसवन (सायंसवन नहीं) कर दिये गये हैं। अर्धरात्रि के पश्चात् ऋत्विज विभिन्न कृत्यों में लग जाते हैं। अध्वर्यु आग्नीध्रीय अग्नि में घृत से यज्ञतनु (तै० सं० ४।४।६) नामक ३३ आहुतियां देता है। पात्रों (उलूखल के समान लकड़ी के ११ ग्रह, लकड़ी के चौकोन १० चमस, मिट्टी की ४ स्थाली, द्रोणकलश, परिप्लु आदि) को दक्षिण हविर्धान से पूर्व की ओर निर्मित खर पर रखा जाता है। सवनीय पशु के अनुष्ठान की तैयारी होती है। होता प्रातरनुवाक (ऋचाओं से प्रातःकालिक देवों—अग्नि, उषा, अश्विद्वय—की स्तुति) का आरम्भ कर देता है। प्रातरनुवाक तीन भागों (क्रतुओं) में विभक्त होता है—प्रथम क्रतु अग्नि के लिये, द्वितीय उषा के लिये एवं तृतीय अश्वियों के लिये। प्रत्येक क्रतु में गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-त्रिष्टुप्-बृहती-जगती-पंक्ति इन सात छन्दों में से कम से कम एक-एक सूक्त का समावेश आवश्यक है। तीनों क्रतुओं की सम्पूर्ण ऋक्-संख्या लगभग दो हजार है। प्रातरनुवाक-पाठ के समय ही आग्नीध्र (या प्रतिप्रस्थाता) पांच सवनीय हवियों की तैयारी में जुट जाता है। पांच सवनीय हवि तथा उन की देवता हैं—हरिवान् इन्द्र के लिए धाना (भुने हुए जौ), पूषण्वान् इन्द्र के लिये करम्भ (घृत-मिश्रित जौ के सत्तु), सरस्वती भारती के लिये परिवाप (लाजा), इन्द्र के लिए एकादश कपाल पुरोडाश और मित्रावरुण के लिए पयस्या (आमिक्षा)। अध्वर्यु आदि नदी या झील से एकधना नामक मिट्टी के घड़ों में जल लाते हैं। यजमान-पत्नी पन्नेजनी (पादप्रक्षालनार्थ) नामक पात्र में जल लाती है। मैत्रावरुण के चमस में भी जल लाया जाता है, जिस को वसतीवरी में मिला कर निग्राभ्य जल बनाया जाता है।

२. **महाभिषव से पूर्ववर्त्ती (दधि-अदाभ्य-अंशु-उपांशु) ग्रहप्रचार**—ग्रह नामक पात्र में पूर्वदिवस जमाए हुए दही को भर कर अध्वर्यु आहवनीय में प्रजापति देवता को **प्राणाय त्वा** (तै० सं० ३।५।८) मन्त्र से आहुति देता है। इसे दधिग्रह का प्रचार (अनुष्ठान) कहते हैं। इसके पश्चात्

अदाभ्यग्रह का प्रचार होता है—अदाभ्यग्रह को दही या दूध से भर कर, सोम के तीन अंशुओं को ग्रह के ऊपर रख कर सोम देवता को **यत् ते सोमादाभ्यं नाम** (तै० सं० ३।३।३) मन्त्र से आहुति दी जाती है। तदनन्तर अंशुग्रह का प्रचार इस प्रकार है—एक ग्रह के योग्य सोम लेकर उपर (सिल) पर रखकर, वसतीवरी से भिगो कर, उपांशुसवन नामक पत्थर से एक बार आघात करके रस निचोड़ कर, उसी (अदाभ्य) ग्रह में भर कर **प्रजापतये स्वाहा** से प्रजापति को आहुति देकर शेष रस का भक्षण किया जाता है।

सम्पूर्ण सोम को दो भागों में विभक्त किया जाता है—प्रातःसवन के लिए बड़ा भाग तथा माध्यन्दिन सवन के लिए छोटा भाग। इसके पश्चात् उपांशुग्रह प्रचार होता है—प्रातःसवनार्थ पृथक् रखे गये सोम में से एक ग्रह के लिए पर्याप्त सोम को लेकर, होतृचमस में रखकर, उस पर वसतीवरी जल छिड़क कर, उपांशुसवन से आठ आघात करके, रस निचोड़ कर अञ्जलि से उपांशु-ग्रह में रस भरा जाता है। यही क्रिया दूसरे पर्याय में ग्यारह आघात और तीसरे पर्याय में बारह आघात करके दोहरायी जाती है। इस प्रकार रस से पूर्ण ग्रह से सूर्य देवता को **स्वाहा त्वा सुभवः** (तै० सं० १।४।२) मन्त्र से आहुति दी जाती है। उपांशुग्रह की आहुति सूर्योदय से पूर्व दी जाती है। यह अधारा ग्रह है, इसके पश्चात् सोम की धारा से ग्रहों का ग्रहण किया जाता है, अतः महाभिषव किया जाता है।

३. महाभिषव-अन्तर्यामग्रह-ग्रहंग्रहणासादन—हविर्धान मण्डप में उपरवों के ऊपर अधिषवण फलक (दो लकड़ी के तख्ते) रखकर, उन पर गोचर्म बिछाकर, उसके ऊपर (बड़ा पत्थर या सिल) रखा जाता है। उसके पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर दिशा में क्रमशः अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-होता-उन्नेता पश्चिम-उत्तर-पूर्व-दक्षिण को मुंह कर के बैठ जाते हैं। पत्थर पर सोम रखकर वसतीवरी (अथवा निग्राभ्यं=होतृचमस जल तथा वसतीवरी का मिश्रण) से भिगो कर सोम को कूटते हैं। इसी प्रकार तीन पर्याय होते हैं। भीगे तथा कुचले हुए सोम-अंशुओं को अध्वर्यु सम्भरणी नामक लकड़ी के पात्र में इकट्ठा करके जलयुक्त आधवनीय में डालकर, उसी में निचोड़ कर ऋजीष (रस रहित सोम) को पृथक् रख देता है। सोमरस को पवित्र (ऊन की छाननी) से द्रोणकलश (लकड़ी के पात्र) में छाना जाता है। छनते हुए सोम की धारा से अन्तर्याम ग्रह भरा जाता है (द्रोणकलश में गिरनेवाले सोमरस को शुक्र कहते हैं) और अध्वर्यु उसे लेकर **स्वाहा त्वा सुभवः** (तै० स० १।४।२) से इन्द्र को आहवनीय में आहुति देता है (यह आहुति सूर्योदय के पश्चात् दी जाती है)। हुतशेष सोम में से कुछ सोम आग्रयणस्थाली में गिराकर, शेष सोमसहित ग्रह खर पर रख दिया जाता है। दधिग्रह से अन्तर्याम तक पांच ग्रहों की आहुतियां सोमग्रहण के तत्काल पश्चात् दे दी जाती हैं। परन्तु अगले ग्रहों को भर कर, खर पर रख कर यथाकाल आहुति दी जाती है। छनते हुए सोम की धारा से ऐन्द्रवायव, मैत्रा-वरुण, शुक्र, मन्थी, आग्रयण (आग्रयणस्थाली में), तीन अतिग्राह्य (आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य), उक्थ्य (स्थाली में) तथा ध्रुव (इस का उपयोग तृतीय सवन में होता है) ग्रह को भर कर पवित्र के छोर से पोंछ कर खर पर आसादन (स्थापन) किया जाता है। पूतभृत् भरने के बाद द्रोणकलश के आधा भर जाने पर धारा बन्द कर दी जाती है।

४. प्रसर्पण-बहिष्पवमानस्तोत्र-सवनीयपशु-सवनीयहवि—अध्वर्यु-प्रस्तोता-प्रतिहर्ता-उद्गाता-ब्रह्मा-यजमान क्रम से एक दूसरे के कच्छ को दायें हाथ से पकड़े हुए हविर्धानमण्डप से प्रसर्पण करते हुए आहवनीय तक जाते हैं और विप्रुड्-होम करते हैं। उसके पश्चात् वे उसी प्रकार प्रसर्पण करके चात्वाल के समीप आस्ताव (सामगानार्थ स्थान) तक जाकर वहीं बैठ जाते हैं और कच्छ छोड़ देते हैं। उद्गाता उत्तराभिमुख, प्रस्तोता पश्चिमाभिमुख और प्रतिहर्ता दक्षिणाभिमुख बैठता है, उन के सामने अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता पश्चिमाभिमुख बैठते हैं और यजमान इन के दक्षिण में बैठता है। प्रस्तोता-उद्गाता-प्रतिहर्ता **बहिष्पवमान** स्तोत्र[1] (प्रथम स्तोत्र) का गान करते हैं। स्तोत्र के समाप्त होने पर आग्नीध्र धिष्ण्यों को प्रज्वलित कर के गार्हपत्य से आहवनीय तक पृष्ठ्या पर कुश बिछाता है। अध्वर्यु परिप्लु (या परिप्लवा=लकड़ी का छोटा सा नौकाकार पात्र) द्वारा द्रोणकलश से सोम रस ले कर आश्विन ग्रह को भर कर खर पर रखता है।

इसके पश्चात् सवनीय पशु विधि उपाकरण से वपायाग पर्यन्त की जाती है, इस की देवता अग्नि है। ऋत्विज् तथा यजमान सदःशाला में अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। प्रतिप्रस्थाता सवनीय हवियों को लाता है, और अध्वर्यु प्रैषादि के पश्चात् आहवनीय में आहुति देता है। पुरोडाश आदि हवियों की अनुवाक्या तीनों सवनों में क्रमशः ऋ० ३।५२।१,५,६ हैं और स्विष्टकृत् अनुवाक्या तीनों सवनों में क्रमशः ऋ० ३।२८।१,४,५ हैं। याज्याएं ऐ० ब्रा० ८।६ में दी गई हैं।

५. द्विदेवत्य-शुक्रामन्थि-होत्रकचमस-ऋतुग्रह—सवनीय आहुतियों के पश्चात् द्विदेवत्य (ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन) ग्रहों का प्रचार (अनुष्ठान) होता है, जिस का प्रकार यह है—अध्वर्यु ऐन्द्रावायव ग्रह को लेता है, उस समय प्रतिप्रस्थाता आदित्य पात्र में द्रोणकलश से परिप्लु के द्वारा ऐन्द्रावायव सम्बन्धी प्रतिनिग्राह्य(सोम) को लेता है। दोनों आहवनीय के समीप जाते हैं। अध्वर्यु बायें हाथ में ग्रह लिये हुए आहवनीय में घृत से आघार देकर आश्राव-प्रत्याश्राव-प्रैष-श्रौषट् के पश्चात् ग्रह के कुछ सोम की आहुति देता है। दूसरे वषट्कार (अनुवषट्कार) पर दोनों (अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता) इन्द्र-वायु को सोमाहुति देते हैं। तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता शेष प्रतिनिग्राह्य को अध्वर्यु के पात्र में और अध्वर्यु शेष सोम का आधा भाग प्रतिप्रस्थाता के पात्र में अवनयन (गिराना) करता है। प्रतिप्रस्थाता हविर्धान मण्डप में जा कर प्रतिनिग्राह्य-शेष का अवनयन आदित्य स्थाली में करता है। और अध्वर्यु अपने पात्र को होता को दे देता है। मैत्रावरुण तथा आश्विन ग्रहों का प्रचार भी इसी प्रकार किया जाता है। इस के पश्चात् चमसोन्नयन (चमसों का भरना) होता है। उन्नेता परिप्लु द्वारा द्रोणकलश से थोड़ा सोम लेकर, चमस में उपस्तरण कर के, पूतभृत् में से अधिक सोम चमस में भर कर, पुनः द्रोणकलश से सोम ले कर, चमस में अभिघारण करता है। इस प्रकार होता-ब्रह्मा-उद्गाता-यजमान-मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-पोता-नेष्टा-आग्नीध्र इन नौ चमसियों के चमसों (सदस्य भी हो, तो दस चमसों) को भर कर रखा जाता है।

---

१. तीनों सवनों में पहला स्तोत्र 'पवमान' होता है। प्रातःसवन में इस का गान सदोमण्डप से बाहर होता है, अतः यह 'बहिष्पवमान' कहलाता है।

इसके पश्चात् शुक्रामन्थी ग्रहों तथा चमसों का प्रचार होता है। अध्वर्यु शुक्रग्रह को तथा प्रतिप्रस्थाता मन्थिग्रह को लेकर, हविर्धान मण्डप के पूर्वी द्वार पर परस्पर ग्रहों या कोहनियों का स्पर्श करके आहवनीय के पूर्व में पश्चिमाभिमुख खड़े होते हैं। चमसाध्वर्यु भी चमसों को ले कर आहवनीय के पश्चिम में पूर्वाभिमुख खड़े होते हैं। आश्राव-प्रत्याश्राव-प्रैष-वौषट् के पश्चात् अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता तथा चमसाध्वर्यु एक साथ इन्द्र देवता को आहुति देते हैं, अनुवषट्कार पर होता-ब्रह्मा-उद्गाता-यजमान-सदस्य के चमसाध्वर्यु स्विष्टकृत् अग्नि को सोमाहुति दे कर शेष भक्षणार्थ शाला में जाते हैं, शेष चमसाध्वर्यु (मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-पोतृ-नेष्टृ आग्नीध्र के) पुनः चमसों को भर कर होमार्थ लाते हैं। प्रतिप्रस्थाता आहवनीय के उत्तर से अङ्गार बाहर निकाल कर उस पर मन्थि-शेष की आहुति रुद्र को देता है। मंत्रावरुण आदि चमसाध्वर्युओं द्वारा लाये गये चमसों को लेकर अध्वर्यु आश्रावादि के पश्चात् क्रमशः मित्रावरुण, इन्द्र, मरुत्, त्वष्टा तथा अग्नि देवताओं को आहुति देता है। इस के पश्चात् परस्पर उपहव (आह्वान) पूर्वक शेष इडा तथा सोम का भक्षण होता है। सामूहिक सोमपान को सवनमुख भक्षण कहते हैं। तदनन्तर अच्छावाक चमस का अनुष्ठान भी पूर्वोक्त रीति से होता है। सब पात्र मार्जालीय में धो कर पुनः सोम से पूर्ण करके खर पर रख दिये जाते हैं।

अब ऋतुग्रह प्रचार होता है। ऋतुग्रह बारह हैं, किन्तु पात्र दो होते हैं, जिन से अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता पर्याय से मधु-माधव आदि १२ मासों की देवताओं को आहुति देते हैं। अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता एक साथ द्रोणकलश से अपने-अपने पात्र को भर कर पूर्वी द्वार तक जाते हैं। प्रतिप्रस्थाता वहीं खड़ा रहता है और अध्वर्यु आहवनीय तक जा कर आश्राव-प्रत्याश्राव-प्रैष-याज्या के पश्चात् आहुति देकर जब उसी पात्र को पुनः भरने के लिये मण्डप में आता है, तभी प्रतिप्रस्थाता आश्राव आदि के पश्चात् आहुति देता है। जब तक प्रतिप्रस्थाता आहुति देकर पूर्वी द्वार तक आता है, तब तक अध्वर्यु ग्रह को भर कर पूर्वी द्वार तक पहुंच जाता है। इसी प्रकार पर्याय से ग्रहण तथा होम होते हैं। अन्त में सोमग्रहण साथ-साथ होता है, परन्तु होम पर्याय से ही होता है। प्रत्येक ग्रह की दो-दो देवताएं हैं—१. इन्द्र-मधु २. मरुत्-माधव ३. त्वष्टा-शुक्र ४. अग्नि-शुचि ५. इन्द्र-नभस् ६. मित्रावरुण-नभस्य ७, द्रविणोदस्-इष ८. द्रविणोदस्-ऊर्ज ९. द्रविणोदस् सहस् १०. द्रविणोदस्-सहस्य ११. अश्विद्वय-तपस् १२. अग्नि गृहपति-तपस्य। अध्वर्यु अपने पात्र के सोमशेष का कुछ अंश प्रतिप्रस्थाता के पात्र में डालता है, प्रतिप्रस्थाता भी अपने पात्र से अध्वर्यु के पात्र म कुछ अंश डालता है।

६. ऐन्द्राग्नग्रहग्रहण-आज्यशस्त्र-ऐन्द्राग्नग्रह प्रचार—तदनन्तर अध्वर्यु अपने पात्र में ही ऐन्द्राग्नग्रह को भर कर खर पर रख देता है और प्रतिप्रस्थाता अपना पात्र को भक्षणार्थ ले जाता है। भक्ष के बाद साफ किये हुए ऋतु पात्र को हाथ में लेकर अध्वर्यु प्रतिगर के लिए होता के सामने जाकर खड़ा हो जाता है और होता आज्य शस्त्र का पाठ आरम्भ करता है। होता मन्द स्वर से त्रिपद या षट्पद तूष्णींशंस (आश्व० श्रौ० ५।९।११) का पाठ करके, उच्च स्वर से दश पद निविद (ऐ०ब्रा० १०।२) का पाठ करता है। इसके पश्चात् **आज्यशस्त्र** (ऋ० ३।१३।१-७) का पाठ किया

जाता है, जिस में प्रतिपद् (पहली) ऋचा तीन बार पढ़ी जाती है। शस्त्र की समाप्ति पर अध्वर्यु ऐन्द्राग्नग्रह को तथा चमसाध्वर्यु चमसों को लेकर आहवनीय पर पहुंचते हैं। आश्राव-प्रत्याश्राव-प्रैष के बाद होता के याज्या (ऋ० ३।२५।४) के अन्त में वौषट् बोलने पर अध्वर्यु इन्द्राग्नि को आहुति देता है और अनुवषट्कार (सोमस्याग्ने वीहि३ वौ३षट्) पर चमसाध्वर्यु चमसों को हिला कर कुछ बिन्दुओं को ऊमा पितरों के लिए आहुति के रूप में गिराते हैं। अब इन चमसों की संज्ञा 'नाराशंस' हो जाती है। यथाविधि सोमपान के पश्चात् चमसों को पुनः भर कर खर पर रख देते हैं।

७. **वैश्वदेवग्रहग्रहण-प्रथम आज्यस्तोत्र-प्रउग शस्त्र-वैश्वदेवग्रह प्रचार**—अध्वर्यु वैश्वदेव ग्रह को भर कर खर पर रख देता है। तदनन्तर प्रथम **आज्यस्तोत्र** (द्वितीय स्तोत्र)[1] का गान होता है। आज्यस्तोत्र की समाप्ति पर होता **प्रउग शस्त्र** (ऋ० १।२,३ सूक्त) का पाठ करता है और अध्वर्यु प्रतिगर बोलता है। आश्रावादि तथा याज्या (ऋ० १।१४।१०) वषट्कार के पश्चात् पूर्ववत् आहुति एवं सोमशेष-भक्षण किया जाता है।

८. **उक्थ्यग्रहण-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ आज्यस्तोत्र, मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-अच्छावाक शस्त्र, मैत्रावरुण-ऐन्द्राग्नग्रह प्रचार**—पात्रों को साफ करके उक्थ्यस्थाली में रखे हुए सोम का तृतीयांश मैत्रा-वरुण (उक्थ्य) ग्रह में भर कर रख दिया जाता है। चमसों को भी भरकर रखा जाता है। इस के पश्चात् द्वितीय **आज्यस्तोत्र** (तृतीय स्तोत्र), मैत्रावरुण द्वारा **मैत्रावरुणशस्त्र**, अध्वर्यु द्वारा प्रतिगर, मैत्रावरुण (उक्थ्य) ग्रह तथा चमसों का होम, शेष भक्षण, पात्रमार्जन-सादन होता है। यह उक्थ्य का प्रथम पर्याय है। दूसरे पर्याय में प्रतिप्रस्थाता उक्थ्यस्थाली से आधा सोम ऐन्द्र ग्रह में ग्रहण करके खर पर रखता है। चमसों का पूरण, तृतीय **आज्यस्तोत्र** (चतुर्थ स्तोत्र), ब्राह्मणाच्छंसी द्वारा **ब्राह्मणाच्छंसि-शस्त्र**, प्रतिप्रस्थाता द्वारा प्रतिगर, ऐन्द्र ग्रह तथा चमसों का होम, शेष भक्षण, पात्रमार्जन-सादन पूर्ववत् होता है। तृतीय पर्याय में प्रतिप्रस्थाता द्वारा उक्थ्यस्थाली से ऐन्द्राग्नग्रह में सम्पूर्ण सोम का ग्रहण-सादन, चमस-पूरण, चतुर्थ **आज्य स्तोत्र** (पांचवां स्तोत्र), अच्छावाक द्वारा **अच्छावाक-शस्त्र**, प्रतिप्रस्थाता द्वारा प्रतिगर, ऐन्द्राग्नग्रह तथा चमसों का होम, शेष भक्षण, पात्र मार्जनसादन पूर्ववत् होता है। सवनसंस्थाहुति (सवन-समाप्ति की आहुति) के पश्चात् ऋत्विज् शाला से बाहर चले जाते हैं। इस प्रकार प्रातःसवन की समाप्ति होती है।

माध्यन्दिन सवन

१. **सोमाभिषव-ग्रहग्रहण**—माध्यन्दिन सवन के कृत्यों का अनुष्ठान प्रायः प्रातःसवन के समान ही होता है। इस सवन में द्विदेवत्य तथा ऋतुग्रहों का ग्रहण-प्रचार नहीं होता। यथाकाल ऋत्विज् तथा यजमान शाला में प्रवेश करते हैं। यजमान लोकद्वार साम का गान करके आग्नीध्रीय अग्नि में होम करता है। महाभिषव के लिए सोम को खोल कर बन्धन-वस्त्र ग्रावस्तुत् को दिया जाता है। सोम के अभिषव की विधि पूर्ववत् ही है। अभिषव के समय ग्रावस्तुत् पूर्व दिये हुए वस्त्र

१. यह तथा इस से अगले स्तोत्र सदःशाला में गाये जाते हैं।

को सिर तथा चेहरे पर पगड़ी के समान लपेट कर, सोम के सामने दक्षिणपूर्वाभिमुख खड़ा हो कर कूटने वाले पत्थरों की स्तुति ऋ० १।२४।३; ५।८१।१; ८।८१।१; ८।१।१; १०।६४(अर्बुद सूक्त); १०।७६,१७५—ग्रावस्तुत्-स्तोत्र—ग्रावस्तोत्रीया ऋचाओं से करता है[1]। स्तुति के पश्चात् वस्त्र लौटा दिया जाता है। सोम की धारा से शुक्र, मन्थी, आग्रयण (स्थाली में) दो मरुत्वतीय तथा उक्थ्य (स्थाली में) पात्रों को भर कर खर पर रखा जाता है।

२. **प्रसर्पण-माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र-दधिघर्म प्रचार**—प्रातःसवन के समान अध्वर्यु आदि ऋत्विज् तथा यजमान परस्पर कच्छ पकड़ कर आहवनीय तक जाते हैं, विप्रुड्-होम कर के सर्पण करते हुए सदोमण्डप में आ कर अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। **माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र** (छठा स्तोत्र) का गान किया जाता है। सामगान के पश्चात् दधिघर्म का अनुष्ठान किया जाता है। प्रतिप्रस्थाता आग्नीध्रीय अग्नि में दही को गर्म कर के, अध्वर्यु को देता है। आश्राव-प्रत्याश्राव-पुरोनुवाक्या (ऋ० १०।१७६।२), याज्या (ऋ० १०।१७६।३) के पश्चात् वषट्कार तथा अनुवषट्कार पर अध्वर्यु दधिघर्म की आहुति आहवनीय में देता है। तदनन्तर होता-अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-आग्नीध्र-प्रस्तोता-यजमान क्रम से उपहव करके शेष भक्षण करते हैं। यजमान प्रत्यक्ष भक्षण करता है और ऋत्विज् प्राण भक्षण (सूंघना) मात्र करते हैं।

३. **सवनीय पुरोडाशयाग-शुक्रामन्थि प्रचार-होत्रकचमस प्रचार-सवनमुखभक्ष**—सवनीय हवियों का निर्वाप प्रातःसवन में ही हो जाता है। प्रातःसवन के समान माध्यन्दिन सवनीय पशु पुरोडाश याग प्राशित्र तक कर के सवनीय हवियों का अनुष्ठान किया जाता है। दस होत्रकों=चमसियों (प्रातःसवनकालिक नौ होत्रकों के साथ अच्छावाक को सम्मिलित कर के) के चमसों का उन्नयन (भरना) कर के सादन किया जाता है।। तदनन्तर शुक्र तथा मन्थी ग्रहों की आहुति क्रमशः अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता देते हैं। होत्रकों के चमसाध्वर्यु चमसों की आहुति पूर्ववत् देते हैं। सवनीय इडाभक्षण के पश्चात् सवनमुख सोम-भक्षण यथाविधि किया जाता है।

४. **दक्षिणा होम-विभाग-दान-वैश्वकर्मण होम**—वैसर्जन होम के समान अध्वर्यु, यजमान-दम्पती तथा उन के परिजन एक लम्बे वस्त्र के नीचे चल कर शालामुखीय अग्नि तक जाते हैं। अध्वर्यु शालामुखीय अग्नि में **उदुत्यम्** (ऋ० १।५०।१) तथा **चित्रं देवानाम्** (ऋ० १।११५।१) मन्त्रों से दो दक्षिणाहुति घृत से देता है। पुनः घृत की एक आहुति **अग्ने नय** (ऋ० १।१८९।१) मन्त्र से आग्नीध्रीय में दी जाती है। यजमान सदःशाला के दक्षिण में स्थापित दक्षिणाओं के पास जाकर दक्षिणाओं का विभाग करके ऋत्विजों आदि को इस क्रम से देता है—आत्रेय (अत्रि गोत्र वाला ब्राह्मण), आग्नीध्र, ब्रह्मा, होता, उद्गाता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, चमसाध्वर्यु, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, अच्छावाक, नेष्टा, उन्नेता, सुब्रह्मण्य तथा सदस्य। प्रधान ऋत्विजों को दी जानेवाली दक्षिणा गणों के अनुसार पहले चार समान भागों में विभक्त की जाती है, फिर गण में ऋत्विजों की स्थिति के अनुसार क्रमशः १२ : ६ : ४ : ३ के अनुपात में विभक्त करके प्रत्येक को दी जाती है।

---

१. यह स्तोत्र अन्य स्तोत्रों से भिन्न है। इन ऋचाओं का शसन एक सांस में किया जाता है।

दक्षिणा के द्रव्यों में गायें, बकरी, भेड़, घोड़े, हाथी, वस्त्र, रथ, अन्न, सोना आदि पदार्थ समाविष्ट होते हैं। आजकल प्रचलित मुद्रा के रूप में ही दक्षिणा दी जाती है। दक्षिणा-दान के पश्चात् यजमान कृष्णविषाण (मृग-सींग) को चात्वाल में फेंक देता है। इस के पश्चात् वैश्वकर्मण होम होता है। अध्वर्यु यजमानसहित आग्नीध्रीय के समीप जाकर विश्वकर्मा को **यज्ञपतिमृषयः** (तै० सं० ३।२।८। १-३) मन्त्रों से पांच घृताहुतियां देता है।

५. मरुत्वतीययाग-ग्रह ग्रहण-शस्त्र ग्रहप्रचार—अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता एक-एक मरुत्वतीय ग्रह को उठा कर, आहवनीय के समीप जाकर, आश्राव-प्रत्याश्राव-प्रैष के पश्चात् वषट्कार-अनुवषट्कार पर साथ साथ आहुति देते हैं। प्रतिप्रस्थाता सोमशेष को अध्वर्यु के ग्रह में गिराता है। अध्वर्यु अपने पात्र (तृतीय मरुत्वतीय ग्रह) में सोम भर कर रख देता है और प्रतिप्रस्थाता अपना पात्र भक्षणार्थ ले जाता है, दोनों भक्षण करते हैं। तदनन्तर होता **मरुत्वतीय शस्त्र** का पाठ करता है और अध्वर्यु हाथ में रिक्त ग्रह लिये हुए प्रतिगर बोलता है। शस्त्र के समाप्त होने पर अध्वर्यु तृतीय मरुत्वतीय ग्रह को एवं चमसाध्वर्यु चमसों को लेते हैं और आहवनीय के समीप जाते हैं। आश्रावादि के पश्चात् अध्वर्यु आहुति देता है तथा चमसाध्वर्यु चमसों को हिला कर बूंदें डालते हैं। ग्रह की देवता मरुत्वान् इन्द्र है। चमसों की देवता ऊर्ध्व पितर हैं और इन चमसों की संज्ञा अब नाराशंस हो जाती है। तदनन्तर ग्रहचमसों का भक्षण होता है।

६. माहेन्द्र ग्रह ग्रहण-पृष्ठस्तोत्र-निष्केवल्यशस्त्र-माहेन्द्रग्रहप्रचार—इस के पश्चात् चमसों का पूरण-सादन होता है और शुक्रग्रह के रिक्त पात्र में माहेन्द्रग्रह को भर कर खर पर रख दिया जाता है। महेन्द्र देवता के लिए प्रथम पृष्ठस्तोत्र (सातवां स्तोत्र) का गान किया जाता है। तदनन्तर होता **निष्केवल्य शस्त्र** का पाठ करता है जिस में अध्वर्यु प्रतिगर बोलता है। आश्रावादि के पश्चात् पूर्ववत् अध्वर्यु माहेन्द्रग्रह की दो आहुतियां देता है तथा चमसाध्वर्यु नाराशंसों (चमसों) का अनुकम्पनपूर्वक बिन्दुपातन करते हैं। ग्रह एवं चमसों का भक्षण भी पूर्ववत् ही होता है।

७. अतिग्राह्यग्रह प्रचार-उक्थ्यग्रह प्रचार-तीन पृष्ठस्तोत्र-तीन शस्त्र—माहेन्द्र ग्रह के होम के समय तीन अतिग्राह्य (आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य) ग्रहों को लेकर प्रतिप्रस्थाता-नेष्टा-उन्नेता क्रमशः अग्नि-इन्द्र-सूर्य को आहुति देते हैं। इन का भक्षण-प्रक्षालनादि पूर्ववत् होता है। इस के पश्चात् प्रातःसवन के समान उक्थ्यस्थाली से तृतीय भाग सोम का मैत्रावरुण (उक्थ्य) ग्रह में अध्वर्यु द्वारा ग्रहण, चमस ग्रहण, द्वितीय पृष्ठस्तोत्र (आठवां स्तोत्र), मैत्रावरुण शस्त्र, अध्वर्यु द्वारा प्रतिगर, ग्रह-चमसों का होम, भक्षण-प्रक्षालन-सादन होता है। दूसरे पर्याय में प्रतिप्रस्थाता उक्थ्यस्थाली से आधे सोम का ऐन्द्र ग्रह में ग्रहण कर के खर पर रखता है। चमस-ग्रहण, तृतीय पृष्ठस्तोत्र (नवां स्तोत्र), ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र, प्रतिप्रस्थाता द्वारा प्रतिगर, ग्रह चमस होम-भक्षणादि पूर्ववत् होता है। तीसरे पर्याय में प्रतिप्रस्थाता द्वारा उक्थ्यस्थाली के सम्पूर्ण सोम का ऐन्द्राग्न ग्रह में ग्रहण, चमस ग्रहण, चतुर्थ पृष्ठस्तोत्र (दसवां स्तोत्र), अच्छावाक शस्त्र, प्रतिप्रस्थाता द्वारा प्रतिगर, ग्रह-चमस होम आदि पूर्ववत् होता है। सवनसंस्थाहुति के पश्चात् ऋत्विज् शाला से निकल जाते हैं। इस प्रकार माध्यन्दिन सवन समाप्त होता है।

तृतीय सवन

१. आदित्य ग्रह प्रचार-अभिषव-ग्रहग्रहण—तृतीय सवन का आरम्भ करने के लिए ऋत्विज् शाला में प्रवेश करते हैं, यजमान उत्तरवेदि के समीप लोकद्वार साम का गान करके प्रवेश करता है। पहले आदित्यग्रह का ग्रहण होता है। प्रातःसवन में द्विदेवत्य होम के पश्चात् ग्रह शेष के आदित्य-स्थाली में गिराये गये सोम को अध्वर्यु आदित्य ग्रह में ले कर उस में दही या दूध डालकर, उपांशुसवन (सोम कूटनेवाला पत्थर) से मिश्रित करके आश्राव-प्रत्याश्राव-प्रैष-पुरोनुवाक्या (ऋ० ७।५१।१) याज्या (ऋ० ७।५१।२) के पश्चात् आदित्यों को आहुति देता है (शेष का भक्षण नहीं होता, अपितु अभिषव के समय आग्रयणस्थाली में डाला जाता है)। प्रातः एवं माध्यन्दिनसवनों में सोम निचोड़ने के पश्चात् बचे हुए ऋजीष[1] (रसहीन सोम) को लेकर पूर्ववत् चारों ऋत्विज् सोम का अभिषव करते हैं। सोम को पूतभृत् में छानते समय मथा हुआ दही (आशिर्) मिला कर छाना जाता है। छनते हुए सोम की धारा से आग्रयण ग्रह (स्थाली) को भर कर, धारा बन्द कर दी जाती है, और ग्रह को खर पर रख दिया जाता है।

२. प्रसर्पण-आर्भवपवमानस्तोत्र-सवनीयहवि प्रचार-होत्रकचमस प्रचार—पूर्ववत् विप्रुड्होम कर के यजमान सहित पांच ऋत्विज् प्रसर्पण करते हुए सदोमण्डप में आकर बैठ जाते हैं। आर्भव-पवमान स्तोत्र (ग्यारहवां स्तोत्र) का गान होता है। सवनीय पशुहवि पुरोडाश तथा सवनीय हवियों का प्रचार इडापर्यन्त किया जाता है। चमसाध्वर्यु चमसों में सोम भर लेते हैं। अध्वर्यु होतृचमस को लेकर तथा चमसाध्वर्यु अपने अपने होत्रकों के चमसों को लेकर, आहवनीय के समीप जाते हैं, आश्रावादि के पश्चात् होता के द्वारा याज्या (ऋ० ३।६०।५)—वषट्कार-अनुवषट्कार पर आहुति दी जाती है। मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-पोता-नेष्टा-अच्छावाक-आग्नीध्र के चमसाध्वर्यु पुनः चमसों को भर लाते हैं। अध्वर्यु उन में से एक-एक चमस को लेकर आश्रावादि के पश्चात् उस-उस होत्रक के क्रमशः[2] याज्या-वषट्-अनुवषट् बोलने पर आहुति देता है। तदनन्तर इडा तथा चमसों का भक्षण-प्रक्षालन-ग्रहण-सादन होता है। चमसाध्वर्यु पुरोडाश हविशेष से स्वल्प-स्वल्प अंश ले कर, चमसों में रखकर अपने-अपने पिता-पितामह-प्रपितामह को उद्दिष्ट करके, फेंक कर उपस्थान करते हैं, यजमान षड्होतृ मन्त्रों (तै० आ० ३।४) का पाठ करता है।

३. सावित्र ग्रह प्रचार-वैश्वदेवग्रह ग्रहण-वैश्वदेवशस्त्र-वैश्वदेवग्रह प्रचार—अध्वर्यु प्रातः सवन में अन्तर्यामग्रह के लिए प्रयुक्त पात्र में आग्रयण स्थाली से सावित्रग्रह को भर कर, खर पर रखे बिना ही, आश्राव आदि के पश्चात् सविता देवता को आहुति देता है। तदनन्तर उसी सोम सहित पात्र में पूतभृत् से सोम ग्रहण कर के खर पर रख दिया जाता है। तब होता वैश्वदेवशस्त्र का पाठ

---

१. ऋजीष से सोमाभिषव का कारण कथा के रूप में तै० सं० ६।१।६।४, ऐ० ब्रा० ५।२।१३।२-३, शत० ब्रा० ३।२।३।१ में बताया गया है।

२. मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-पोता-नेष्टा-अच्छावाक-आग्नीध्र द्वारा पठित याज्याएं क्रम से हैं—ऋ० ६।६८।१०; ४।५०।१०; १।८५।६; २।३६।३; ६।६६।७; १।६४।१॥

करता है और अध्वर्यु प्रतिगर का उच्चारण करता है। शस्त्र की समाप्ति पर अध्वर्यु वैश्वदेव ग्रह को तथा चमसाध्वर्यु नाराशंस चमसों को लेकर आहवनीय के समीप जाते हैं। आश्रावादि के पश्चात् अध्वर्यु विश्वेदेव देवता को आहुति देता है तथा चमसाध्वर्यु काव्य पितरों को प्रकम्पन द्वारा आहुति देते हैं। ग्रह-चमसों का भक्षण-प्रक्षालन होता है।

४. **सौम्यचरु-पात्नीवतग्रह प्रचार-चमसग्रहण-अग्निष्टोमस्तोत्र-आग्निमारुत शस्त्र-चमस प्रचार**—सोम देवता के लिए चरु पकाया जाता है। अध्वर्यु प्राचीनावीत हो कर, चरु के दक्षिण भाग से दो अवदान (एक बार दाहिने हाथ से, दूसरी बार मेक्षण से) कर के, आहवनीय के उत्तर में जा कर **त्वं सोम पितृभिः संविदानः** (ऋ० ८।४८।१३) मन्त्र से आहवनीय के दक्षिण भाग में आहुति देता है। शेष चरु में आज्य डाल कर अध्वर्यु तथा प्रस्तोता-उद्गाता-प्रतिहर्त्ता आज्य में अपनी छाया देखते हैं। अध्वर्यु प्रातःसवन में प्रयुक्त उपांशुपात्र में आग्रयणस्थाली से पात्नीवतग्रह को ग्रहण करके आसादन के बिना ही, आहवनीय में पत्नीवान् अग्नि के लिए **एभिरग्ने** (ऋ० ३।६।९) मन्त्र से आहुति देता है। शेष भक्षण-मार्जन-सादन के पश्चात् आधवनीय के सम्पूर्ण सोम को पूतभृत् में छान कर उन्नेता सब चमसों को भर देता है। तदनन्तर **अग्निष्टोम (यज्ञायज्ञिय) स्तोत्र** (बारहवां स्तोत्र) का गान होता है। उस समय शाला में उपस्थित सब लोग अपने सिरों तथा कानों पर वस्त्र लपेट लेते हैं। हिंकार के समय उद्गाता यजमान-पत्नी की ओर देखता है, निधन के समय पत्नी अपनी दाहिनी जघा से वस्त्र हटाकर पन्नेजनी से उस पर जल डालती है। सामगान के समय यजमान सप्तहोतृ मन्त्रों (तै० आ० ३।५) का पाठ करता है।

स्तोत्र के समाप्त होने पर होता **आग्निमारुत शस्त्र** का पाठ करता है और अध्वर्यु प्रतिगर का उच्चारण करता है। जब होता इस शस्त्र की **आपो हि ष्ठा** (ऋ० १०।९।१) ऋक् का शंसन आरम्भ करता है तो सिर-कानों पर लपेटे वस्त्र हटा लिये जाते हैं[1]। शंसन के समय प्रतिप्रस्थाता प्रातःसवन के समय भरे गये ध्रुव ग्रह के सोम को होतृचमस में डालता है। शस्त्र के समाप्त होने पर अध्वर्यु होतृचमस को ले कर तथा चमसाध्वर्यु अन्य चमसों को ले कर अग्नि-वैश्वानर-मरुतों को आहुति दे कर यथाविधि भक्षण-प्रक्षालन-सादन करते हैं। इस प्रकार तृतीय सवन की मुख्य विधियां समाप्त हो जाती हैं। अतः अगले अनुष्ठानों को यज्ञपुच्छ कहा जाता है।

यज्ञपुच्छ

१. **अनुयाजादि-हारियोजनग्रह प्रचार**—अवशिष्ट पाशुक विधियों—उपयाज, ग्यारह, अनुयाज, स्रुग्व्यूहन, प्रस्तरपरिधि-प्रहरण आदि का अनुष्ठान होता है। उसके पश्चात् उन्नेता हारियोजन ग्रह के लिए द्रोणकलश में आग्रयण स्थाली में बचे हुए सोमरस को डालकर, धाना (भुने हुए जौ) को रस में मिला कर, सिर पर रख कर, आहवनीय के समीप जा कर, आश्रावादि के पश्चात्

१. व्याख्याकारों का कथन है कि 'यज्ञायज्ञिय' से अग्नि की स्तुति की जाती है। अग्नि के ताप से बचने के लिये सिर पर वस्त्र लपेट लिया जाता है। 'आपो हि ष्ठा' से आपः (जल) की स्तुति होने के कारण सिरों से वस्त्र हटा लेना उचित ही है।

वषट्-अनुवषट्कार पर दो बार इन्द्र को आहुति देता है और यजमान '**इदम् इन्द्राय हरिवते**' बोलकर त्याग करता है।[1] तदनन्तर यजमान तथा ऋत्विज् हारियोजनशेष का भक्षण करते हैं। चमसी आग्नीध्रीयमण्डप में जा कर दधिद्रप्स (स्वल्प दही) का भक्षण **दधिक्राव्णो** (ऋ० ४।३९।६) मन्त्र से करते हैं। पूर्व प्रतिज्ञात पारस्परिक सख्य (तानूनप्त्र) का विसर्जन होता है। संयाज, नौ समिष्ट-यजु आहुतियों, प्रायश्चित्त होम तथा सवनसमाप्ति होम के पश्चात् ऋत्विज् शाला से बाहर चले जाते हैं।

२. **अवभृथेष्टि-उदयनीयेष्टि-अनूबन्ध्यायाग-देविकाहवि-उदवसानीयेष्टि**—अवभृथेष्टि के लिये एककपाल पुरोडाश तैयार करके, आहवनीय में आज्य-आहुति देकर, सोमयाग में प्रयुक्त होनेवाले पात्रों (आग्रयण-उक्थ्य-आदित्य-ध्रुव स्थालियों तथा ऐष्टिक पात्रों को छोड़कर) को राजासन्दी पर रखते हैं। आसन्दी, एककपाल पुरोडाश, घृत तथा ऐष्टिक पात्रों को साथ लेकर सब ऋत्विज्, यजमानदम्पति तथा अन्य लोग सामगान तथा मन्त्रपाठ करते हुए नदी या तालाब पर जाते हैं। जल में अवभृथेष्टि की जाती है। इसमें आज्यभागों की देवता अग्नि-वरुण हैं, चार प्रयाज एव दो अनु-याज होते हैं, एककपाल पुरोडाश की आहुति अग्नि-वरुण को स्विष्टकृत् के रूप में दी जाती है। सोमपात्रों तथा ऋजीष को जल में फेंक कर सब लोग स्नान करते हैं। यजमान-दम्पति एक दूसरे की पीठ मलकर स्नान करते हैं और दूसरों के ऊपर जल के छींटे फेंकते हैं। उन्नेता यजमानादि को जल से बाहर निकालता है। नवीन वस्त्र धारण कर के सब लोग यज्ञशाला में लौट आते हैं।

इसके पश्चात् शालामुखीय अग्नि में उदयनीयेष्टि (समापनीय) की जाती है। इसका अनुष्ठान प्रायणीयेष्टि के समान होता है। पूर्व स्थापित प्रायणीय चरुपात्र में चरु पकाया जाता है, प्रायणीयेष्टि की पुरोनुवाक्या-याज्या यहां क्रमशः याज्या-पुरोनुवाक्या हो जाती हैं। प्रधान देवताओं का क्रम अग्नि-सोम-सविता-पथ्यास्वस्ति हो जाता है। उदयनीय के समाप्त होने पर अनूबन्ध्यायाग किया जाता है, जिस की प्रधानदेवता मित्र-वरुण हैं तथा हवि आमिक्षा होती है। इस के पश्चात् पांच देविका नामक आहुतियां, द्वादशकपाल पुरोडाश की एक आहुति धाता देवता को और पूर्वोक्त चार स्थालियों में पकाये गये चरु (दूध-चावल) की पृथक्-पृथक् चार आहुतियां अनुमति, राका, सिनीवाली तथा कुहू को दी जाती हैं। यजमान के क्षौर के पश्चात् अग्नियों का अरणियों में समारोपण कर के, घर लौट कर, अरणि-मन्थन द्वारा पुनः अग्नियों की स्थापना करके उदवसनीय (देवयजन त्याग) इष्टि की जाती है, जिस की प्रधान देवता अग्नि है और हवि अष्टा-कपाल पुरोडाश होती है। अथवा इष्टि के स्थान में **इदं विष्णुः** (ऋ० १।२२।१७) मन्त्र से आहवनीय में आज्य की एक आहुति भी दी जा सकती है। इस प्रकार सोमयागों के प्रकृतिभूत अग्निष्टोम नामक सोमयाग का विवरण समाप्त हुआ।

१. यह ग्रह सोमपान के पश्चात् हारियोजन=इन्द्र के वापिस लौटने का सूचक है।

सौत्रामणी

सौत्रामणी एक इष्टि है जिस की प्रधान देवता इन्द्र है। ऋग्वेद (१०।१३१।६-७) में सुत्रामा (सुत्रामन्) शब्द इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, अतः सुत्रामन् से सम्बद्ध होने के कारण इस इष्टि को सौत्रामणी कहते हैं[1]। इस इष्टि के दो भेद हैं—चरक सौत्रामणी एवं कौकिल सौत्रामणी। तैत्तिरीय संहिता (राजसूय प्रकरण में) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१२।५।१२) में चरक सौत्रामणी को नैमित्तिक एवं काम्य कहा गया है और तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।६) में कौकिल सौत्रामणी नित्य हविःसंस्था के रूप में वर्णित है। वाजसनेय संहिता में राजसूय के अन्तर्गत चरक सौत्रामणी का तथा चयन के अनन्तर कौकिल सौत्रामणी का निरूपण किया गया है। इस प्रकार चरक सौत्रामणी नैमित्तिक होती है, किन्तु कौकिल सौत्रामणी नित्य-नैमित्तिक-काम्य भेद से तीन प्रकार की है। दोनों यागों की अनुष्ठान-प्रक्रिया में विशेष अन्तर नहीं है (आपस्तम्ब ने त्रिपशुक को नित्य कहा है, जब कि कात्यायन ने पञ्च-पशुक को)। फल-विशेष की कामना के विना ही अनुष्ठित यह इष्टि हविर्यज्ञों के अन्तर्गत होने से नित्य कही जाती है। यज्ञ में अत्यधिक सोमपान (मुखेतर अङ्गों से सोम का बहिर्गमन), सोमवमन, अग्निचयन आदि निमित्तों के कारण की जानेवाली यह इष्टि नैमित्तिक है और पशु आदि की कामना से की गई यह इष्टि काम्या है। इन में प्रथम का अधिकारी केवल ब्राह्मण है, अन्य दोनों में त्रैवर्णिक का अधिकार है।

इष्टि होने के कारण यह प्रकृति (दर्शपूर्णमास) का अनुसरण करती है, परन्तु पाशुक कृत्यों का अनुष्ठान निरूढ पशुबन्ध अथवा अग्निष्टोम में वर्णित अग्नीषोमीय पाशुक विधि के अनुसार किया जाता है।[2] श्रौतसूत्रों मे वपा, पशु-अङ्ग, वसा तथा सुरा के द्वारा होम का विधान है, परन्तु वर्त्तमान काल में वसादि के स्थान में घृत से एवं सुरा के स्थान में दुग्ध[3] से होम किये जाते हैं। वरुणप्रघास के समान सौत्रामणी में भी प्राकृत (दर्शपूर्णमासिक) वेदि के अतिरिक्त, उस से पूर्व की ओर दो वेदियां—उत्तरावेदि-दक्षिणावेदि और बनाई जाती हैं। इन में उत्तरावेदि पर अध्वर्यु तथा दक्षिणावेदि पर प्रतिप्रस्थाता कृत्यों का अनुष्ठान करता है। इन दोनों वेदियों के पश्चिमी भाग में हव्य द्रव्यों को रखने के लिए एक-एक खर और पूर्वी भाग में एक-एक आहवनीय खर का निर्माण किया जाता है। इस याग में—ब्रह्मा-अध्वर्यु-होता-अग्नीत्-प्रतिप्रस्थाता-मैत्रावरुण—इन छह ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। सामगान ब्रह्मा (या उद्गाता) करता है। यह याग चार दिन (आजकल एक दिन) में सम्पन्न होता है। कात्यायन श्रौत-सूत्र के आधार पर इस का यथाक्रम विवरण आगे दिया जाता है—

१. आदित्यचरु-समिदाधान-ऐन्द्र पशु—प्रातः अग्निहोत्र के पश्चात् आदित्येष्टि का अनुष्ठान किया जाता है जिस में अदिति देवता को चरु की आहुति दी जाती है। इसके पश्चात् अध्वर्यु आह-

---

१ सौत्रामणी शब्द की व्युत्पत्ति देखें—शत० ब्रा० ५।५।४।१२।।

२. शत० ब्रा० १२।७।२।१०।।

३. तांबे के पात्र में दूध को रख देने से दूध में सुरागुण उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसी याज्ञिक-मान्यता है। अतः ताम्रपात्रस्थित दुग्ध सुरा का प्रतिनिधि माना जाता है।

वनीय में **अभ्यादधामि** (य० २०।२४-२६) इन मन्त्रों से पृथक्-पृथक् तीन समिधाओं का आधान करता है। इसके पश्चात् ऐन्द्र पशु का अनुष्ठान किया जाता है।

२. **सुरानिर्माण**—सुरा-सोमविक्रयी अथवा नपुंसक से सुरा द्रव्यों को खरीदा जाता है (इस में भी सोमक्रय के समान अभिनय किया जाता है)। अन्तःपात्य (आहवनीय से ६ कदम पूर्व की ओर पृष्ठ्या) पर गोचर्म बिछाकर सीसे-ऊन-सूत के बदले क्रमशः शष्प (अङ्कुरित धान), तोक्म (अङ्कुरित जौ) तथा लाजा को और अन्य किसी द्रव्य से नग्नहु[1] को खरीदकर गोचर्म पर रखा जाता है। शष्प-तोक्म-लाजा को पीस कर, नग्नहु नामक ओषधियों का चूर्ण करके, दर्शपूर्णमास विधि से फलीकरण करके, व्रीहि एवं श्यामाक का भात पका कर, पृथक्-पृथक् पात्रों में रख कर, दोनों भातों में उष्ण जल डाल कर, दोनों का जल सहित माण्ड निकाल कर, उस में पूर्वोक्त चूर्णों को मिला कर रख दिया जाता है। इस मिश्रण का नाम 'मासर' है। दोनों भात, चारों चूर्ण तथा मासर को **स्वाद्वीं त्वा** (य० १९।१) एवं **अंशुना** (य० २०।२७) मन्त्रों से मिला कर एक महाकुम्भ में भर कर, शाला के दक्षिण पश्चिम में खुदे गड्ढे में रख दिया जाता है। महाकुम्भ तीन दिन तक गड्ढे में रखा रहता है। पहले दिन अश्विद्वय के लिए एक गौ को दुह कर उसका दूध **परीतो षिञ्चत** (य० १९।२) से महाकुम्भ में डालकर, ऊपर से शष्प चूर्ण डाल दिया जाता है। दूसरे दिन सरस्वती के लिए दो गौओं के दूध को (पूर्वोक्त मन्त्र से) डाल कर तोक्म चूर्ण डाला जाता है और तीसरे दिन सुत्रामा इन्द्र के लिए तीन गौओं का दूध एवं लाजा चूर्ण (पूर्वोक्त मन्त्र से) डाला जाता है।

३. **वेदिमान**—तीसरे दिन वरुणप्रघास के समान उत्तरावेदि तथा दक्षिणावेदि का निर्माण किया जाता है। उत्तरावेदि का परिमाण सोमयागीय वेदि का तृतीयांश होता है। दोनों वेदियों में पश्चिम की ओर खर तथा पूर्व की ओर अग्निस्थान (आहवनीय) बनाये जाते हैं। चतुर्थ दिन उत्तरा-वेदि में आधान के आसादन तक कार्य किया जाता है, दक्षिणावेदि में भी स्फ्यादि कार्य वरुणप्रघास के समान किया जाता है। सुरा सम्बन्धी विधियां दक्षिणावेदि में ही सम्पन्न की जाती हैं।

४. **सुरा-दुग्ध पवन-ग्रहग्रहण-सादन**—दक्षिणावेदि से पश्चिम में वेदि से बाहर गड्ढा खोद कर, गोचर्म बिछा कर, महाकुम्भ स्थित सुरा कारोतर नामक बांस की छननी में से किसी बड़े पात्र में **सिञ्चन्ति** (य० २०।२८) मन्त्र बोल कर छानी जाती है। पुनः यह सुरा गौ तथा अश्व के बालों से बनी हुई छननी के द्वारा सत नामक (पलाश की लकड़ी से बने हुए) पात्र में **पुनातु ते** (य० १९।४) मन्त्र से छानी जाती है। उत्तरावेदि में अध्वर्यु दूध को भेड़-बकरी की ऊन में से बेंत के बने हुए पात्र में **ब्रह्म क्षत्रम्** (य० १९।५) मन्त्र से छानता है। फिर अध्वर्यु **कुविदङ्ग यवमन्तः** (य० १९।६),

---

१. नग्नहु पदार्थ के विषय में मतभेद है। बौ० श्रौ० २६।२२ में माष को नग्नहु बताया गया है। आप० श्रौ० १९।५।१० में संस्राव से भीगे हुए जौ-चावल के स्थूलचूर्णों को नग्नहु कहा है। महीधर (य० १९।१ भाष्य) ने नग्नहु में इन द्रव्यों का समावेश किया है—सर्जत्वक्, त्रिफला, शुण्ठी, पुनर्नवा, चतुर्जातक, पिप्पली, गजपिप्पली, वंश, अवका, बृहच्छत्रा, चित्रक, इन्द्रवारुणी, अश्वगन्धा, धान्यक, यवानी, जीरकद्वय, हरिद्राद्वय तथा अङ्कुरित यवव्रीहि।

उपयाम० (य० १९।६) से पीपल के पात्र आश्विन ग्रह में दूध भर कर, **एष ते योनिः** (य० १९।६) से खर पर रख कर, **तेजोऽसि** (१९।९) से गेहूं तथा कुवल[1] का चूर्ण डाल कर मिला देता है। इसी प्रकार दक्षिणावेदि में प्रतिप्रस्थाता अश्विद्वय के लिए **नाना हि** (य० १९।७) से मिट्टी के पात्र में सुरा ग्रह का ग्रहण तथा पूर्ववत् सादन-चूर्णावाप करता है। अध्वर्यु पूर्ववत् उत्तरावेदि में दूसरे गूलर के पात्र में सारस्वत ग्रह का ग्रहण-सादन तथा **वीर्यमसि** (य० १९।९) से इन्द्रजौ एवं बदर के चूर्ण का आवाप करता है और प्रतिप्रस्थाता सरस्वती के लिए इसी विधि से सुराग्रह का ग्रहण-सादन-चूर्णावाप करता है। पुनः अध्वर्यु तीसरे वट के पात्र में ऐन्द्रग्रह का ग्रहण-सादन कर के **बलमसि** (य० १९।९) से जौ एवं कर्कन्धु के चूर्ण का आवाप करता है और प्रतिप्रस्थाता इसी विधि से सुत्रामा इन्द्र के लिए सुराग्रह का ग्रहण-सादन-चूर्णावाप करता है। कुछ आचार्य सुराग्रहों में चूर्णावाप के साथ क्रमशः वृक-व्याघ्र-सिंह के बालों को भी डालने का विधान करते हैं।

५. पाशुकविधि-ग्रहप्रचार-पितृतर्पण—सौत्रामणी की तीन प्रधान देवताओं—अश्विद्वय-सरस्वती-सुत्रामा इन्द्र—के लिए क्रमशः अज-मेष-ऋषभ का आलम्भन किया जाता है, तीनों के लिए एक ही यूप गाड़ा जाता है। कात्यायन इन्द्र तथा वयोधस् के लिए उत्तर-दक्षिण में दो अन्य यूपों की व्यवस्था करता है। उपाकरण से वपामार्जन तक तीनों पशुओं की विधि के पश्चात् अध्वर्यु आश्राव-प्रत्याश्राव-प्रैष (आश्व० श्रौ० ३।९।३), पुरोनुवाक्या (य० २०।७६॥ ऋ० १०।१३१।४), याज्या (य० २०।७७॥ ऋ० १०।१३१।५), वषट्-अनुवषट्कार पर उत्तरावेदि की अग्नि में पयोग्रहों की आहुति देता है। प्रतिप्रस्थाता मिट्टी के पात्रों में रखी सुरा को पलाश के ग्रहपात्रों में लेकर इसी प्रकार दक्षिणावेदि की अग्नि में आहुति देता है। अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-अग्नीत् क्रम से आश्विन पयोग्रह शेष का, होता-ब्रह्मा-मैत्रावरुण सारस्वत पयोग्रह शेष का तथा यजमान ऐन्द्र पयोग्रह शेष का भक्षण करते हैं और पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर ग्रह में सस्राव करते हैं। सुराग्रहशेष का भक्षण पयोग्रहवत् या प्राणभक्ष या परिक्रीत व्यक्ति द्वारा भक्ष या दक्षिण आहवनीय से अङ्गार बाहर रख कर, उस पर आहुति दी जाती है। गो-बाल तथा भेड़-बकरी के बालों की छननी को सैंकड़ों छेद वाली कुम्भी में रख कर, सोना रख कर, शेष सुरा को उसमें भर कर, छींके में रख कर, दक्षिणावेदि की अग्नि के ऊपर इस प्रकार लटका दिया जाता है, जिससे सुरा बूंद-बूंद करके अग्नि पर गिरती है। उस समय **पुनन्तु मा** (य० १९।३७-४४) आदि नौ मन्त्रों और **त्वं सोम** (य० १९।५२-६०) आदि नौ मन्त्रों का पाठ किया जाता है। इन बिन्दु-आहुतियों की देवताएं सोमवत्, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त पितर हैं।

६. पशु पुरोडाश प्रचार-आसन्दी स्थापन-वसाहोम-यजमानाभिषेक——तीन पशु पुरोडाशों का निर्वाप किया जाता है। यहां 'यद्देवताकः पशुः तद्देवताकः पुरोडाशः' (पशु तथा पुरोडाश की देवताएं समान होती हैं) नियम का पालन नहीं किया जाता। पाशुक देवताएं अश्विद्वय, सरस्वती तथा सुत्रामा इन्द्र हैं, परन्तु पुरोडाश इन्द्र-सविता-वरुण के लिए क्रमशः एकादशकपाल-द्वादशकपाल दशकपाल बनाये जाते हैं और यथाविधि उन की आहुतियां दी जाती हैं। अवभृथ के लिए वारुण

---

१. कुवल-बदर-कर्कन्धु क्रमशः छोटे-मझले-बड़े आकार के जंगली बेर होते हैं।

एककपाल पुरोडाश भी इसी समय तैयार कर लिया जाता है। पाशुक विधियों को वनस्पति याग तक कर के, सोमासन्दी के समान घुटने तक ऊंची एक आसन्दी दोनों वेदियों (दो पैर उत्तरावेदि में एवं दो पैर दक्षिणावेदि में) में रखी जाती है। उस पर कृष्णाजिन बिछा कर यजमान को बैठाया जाता है और यजमान के बायें पैर के नीचे चांदी का तथा बायें पैर के नीचे सोने का रुक्म रखा जाता है।

अध्वर्यु सब पशुओं की वसा को एक पात्र में संचित कर लेता है। बैलों के खुरों के मांस को निकाल कर उन को ग्रहपात्र के रूप में प्रयुक्त करते हैं। ऐसे ३२ खुर ग्रहों में वसा भर कर अध्वर्यु क्रमशः **सीसेन** (य० १९।८०-९५) आदि मन्त्रों (एक मन्त्र से दो ग्रह) से उत्तर आहवनीय में वसा होम करता है और शेष को सत (बेंत का पात्र) में डालता रहता है। उस के पश्चात् सुगन्धित द्रव्यों से यजमान का उन्मर्दन कर के सत में रखे वसाशेष से अभिषेक किया जाता है। अध्वर्यु के स्पर्श करने पर यजमान अपने परिजनों को माङ्गलिक नाम लेकर बुलाता है जो उस को आसन्दी सहित क्रमशः जानु-नाभि-मुख तक उठाते हैं। उस के पश्चात् यजमान कृष्णाजिन पर उत्तर जाता है।

७. वसाग्रहग्रहण-सामगान-शस्त्र वसाग्रहप्रचार—अध्वर्यु तेंतीसवें खुरग्रह में वसा भर कर सामगान के लिए प्रैष देता है। उद्गाता (या ब्रह्मा) **बृहदिन्द्राय** (य० २०।३०) इस बृहती ऋक् पर सामगान करता है और **'संश्रवसे विश्रवसे सत्वश्रवसे श्रवसे'**[1] इन निधनों को सब मिल कर गाते हैं। साम की समाप्ति पर होता शस्त्र (य० २०।८०-९०) पाठ करता है और अध्वर्यु प्रतिगर बोलता है। शस्त्र के अन्त में **त्रया देवा** (य० २०।११) मन्त्र से अध्वर्यु तेंतीसवें खुरग्रह की आहुति देता है। शेष का प्राणभक्ष होता है।

८. इष्टिशेष-अवभृथ-आदित्येष्टि-मैत्रावरुणी पयस्या-वायोधस पशु—स्विष्टकृत् से बर्हिहोम तक इष्टिकृत्यों के पश्चात् सोमयाग के समान अवभृथेष्टि की जाती है (यहां सोमपात्रों के स्थान में सुरापात्रों को ले जाया जाता है)। लौट कर प्राकृत आहवनीय में अदिति को चरु की आहुति दी जाती है और मित्र-वरुण देवताओं को पयस्या की आहुति दी जाती है। इस के पश्चात् आरम्भिक ऐन्द्र पशु के समान अन्त में इन्द्र वयोधस् देवता के लिए पाशुक विधि का अनुष्ठान होता है। इस प्रकार यह सौत्रामणी याग का कात्यायनानुसारी विवरण समाप्त हुआ।

---

१. क्षत्रिय तथा वैश्य यजमान होने पर इन का ऊहित रूप क्रमशः 'संजित्यै विजित्यै सत्यजित्यै जित्यै' तथा 'संपुष्ट्यै विपुष्ट्यै सत्यपुष्ट्यै पुष्ट्यै' होता है।

बृहस्पति सव

तैत्तिरीय ब्राह्मण(२।७।१)में एक दिन में सम्पन्न होनेवाले कुछ सोमयागों का विधान किया गया है, जो सवों के नाम से प्रसिद्ध हैं। एकाह सव बारह हैं—१. बृहस्पति सव, २. वैश्य सव, ३. ब्राह्मण सव, ४. सोम सव, ५. पृथि सव, ६. गो सव, ७. ओदन सव, ८. मरुत्स्तोम सोम (पञ्चशारदीय), ९. अग्निष्टुत्, १०. इन्द्रस्तुत्, ११. अप्तोर्याम, १२. विघन। इन यागों में प्रायः घी-दूध-दही आदि द्रव्यों से यजमान का अभिषेक किया जाता है, अतः सायण तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्य (२।७।१) में 'सव' की व्युत्पत्ति करता है—'सूयत ईश्वरत्वेनाभिषिच्यत एष्विति सवाः' (इन में यजमान का अभिषेक अधिपति के रूप में होता है, अतः ये 'सव' कहलाते हैं)। ब्राह्मण तथा श्रौतग्रन्थों में नैमित्तिक तथा काम्य कर्मों के रूप में सवों का विधान किया गया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।७।१) में कहा गया है कि पुरोहित बनने के इच्छुक को बृहस्पति सव का अनुष्ठान करना चाहिये। स्वयं बृहस्पति इस सव का अनुष्ठान कर के देवों के पुरोधा बन गये थे। कात्यायन (१४।१।२) का कथन है कि वाजपेय के आदि-अन्त में बृहस्पति सव को करना चाहिये, परन्तु इस के स्वरूप पर उसने प्रकाश नहीं डाला। आपस्तम्ब (२२।७।६)तथा आश्वलायन (९।५।३)ने भी आधिपत्य, ब्रह्मवर्चस एवं पौरोहित्य की कामना वालों के लिए इस यज्ञ के अनुष्ठान का विधान किया है। शबरस्वामी का कथन है—**वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत** (पू० मी० ४।३।२९ शाबरभाष्य) अर्थात् वाजपेय के पश्चात् बृहस्पतिसव का अनुष्ठान करना चाहिये।

सोमयाग होने के नाते इस याग की प्रकृति अग्निष्टोम है। ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में अग्निष्टोम का विस्तृत विवरण दिया गया है। अतः उस की विकृतियों का निरूपण करते समय अत्यन्त सक्षेप से विशेष विधियों का संकेत किया गया है। आगे अग्निष्टोम की विधियों का क्रमशः सकेत किया जा रहा है, उनमें यथावसर बृहस्पतिसव की विशेष विधियों का समावेश किया जायेगा, जिस से समग्र बृहस्पति सव का स्वरूप स्पष्ट हो जाय।

१. प्रथम दिवस—यागसंकल्प, ऋत्विज्-वरण, देवयजनयाचन, प्राग्वंशशाला-निर्माण, अग्नि-स्थापन, दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा—ये सभी विधियां अग्निष्टोम के समान सम्पन्न की जाती हैं। संकल्प के समय 'बृहस्पतिसव' का उल्लेख किया जाता है। ऋत्विजों के वरण में होता के चार विशिष्ट गुण उल्लेखनीय हैं—(१) होता परिस्रजी होना चाहिए अर्थात् उसके सिर पर मध्य में केश न हों, चारों ओर केश माला के समान हों। (२) होता का वर्ण अरुण (सन्ध्या काल के सूर्य के समान) होना चाहिये। (३) होता मिर्मिर हो अर्थात् वह अतिवेग से चक्षु निमीलन—उन्मीलन करने वाला हो। (४) होता त्रिशुक्र हो अर्थात् वह तीनों (ऋग्-यजु-साम) वेदों में दक्ष हो अथवा माता-पिता-निज आचार की दृष्टि से शुद्ध हो।

२. द्वितीय दिवस—प्रायणीय इष्टि, सोमक्रय, आतिथ्येष्टि, पौर्वाह्णिक प्रवर्ग्य उपसद्-सुब्रह्मण्याह्वान, आपराह्णिक प्रवर्ग्य-उपसद्-सुब्रह्मण्याह्वान।

३. तृतीय दिवस—पौर्वाह्णिक प्रवर्ग्य-उपसद्-सुब्रह्मण्याह्वान, महावेदिमान-उत्तरवेदिनिवाप, आपराह्णिक प्रवर्ग्य-उपसद्-सुब्रह्मण्याह्वान।

४. चतुर्थ दिवस—पौर्वाह्णिक प्रवर्ग्य-उपसद्-सुब्रह्मण्याह्वान, आपराह्णिक प्रवर्ग्य-उपसद्-सुब्रह्मण्याह्वान, प्रवर्ग्योद्वासन, अग्नि-प्रणयन, हविर्धान-प्रवर्त्तन, सदो-हविर्धान-आग्नीध्र मण्डप निर्माण, अग्नीषोमीय-वपायाग, अग्नीषोमीय पशुपुरोडाश याग, पितापुत्रीयसुब्रह्मण्याह्वान, वसतीवरी परिहरण, अग्नीषोमीय हविर्याग, अनुयाज, पत्नीसंयाज।

५. पञ्चम दिवस—पञ्चम दिवस के कृत्यों के चार विभाग हैं—प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन, यज्ञपुच्छ।

५. १. प्रातःसवन—प्रातरनुवाक, एकधना जलानयन, दधि-अदाभ्य-अंशु-उपांशु ग्रहप्रचार, महाभिषव, अन्तर्यामग्रहप्रचार और ग्रहग्रहण—ऐन्द्रवायव-मैत्रावरुण-शुक्रामन्थि-आग्रयण-अतिग्राह्य-उक्थ्य-ध्रुव—इन धाराग्रहों का ग्रहण-सादन होता है। अग्निष्टोम में आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य—ये तीन अतिग्राह्य होते हैं, बृहस्पतिसव में बार्हस्पत्य अतिग्राह्य का भी ग्रहण **बृहस्पते जुषस्व नः** (तै० सं० १।८।२२) मन्त्र से किया जाता है। सर्पण, बहिष्पवमान स्तोत्र। अग्निष्टोम में बहिष्पवमान स्तोत्र का गान त्रिवृत् स्तोम से किया जाता है (अन्य स्तोत्र पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश स्तोम से गाये जाते हैं), परन्तु बृहस्पतिसव में सभी बारह स्तोत्रों का गान त्रिवृत् स्तोम से किया जाता है। अग्निष्टोम में स्तोत्रों का गान बृहत् अथवा रथन्तर (विकल्प) से किया जाता है, परन्तु बृहस्पतिसव में केवल रथन्तर से ही गान किया जाता है। सवनीय पशु—अग्निष्टोम में आग्नेय पशु का उपाकरण होता है, परन्तु बृहस्पतिसव में बार्हस्पत्य पशु होता है (केवल देवताभेद है)। द्विदेवत्य-शुक्रामन्थि-ऋतुग्रह प्रचार, ऐन्द्राग्नग्रहग्रहण, आज्यशस्त्र (ऋचाओं के शंसन की कुछ विशेषताओं का निर्देश आश्व० श्रौ० ६।५।३ आदि में देखें), ऐन्द्राग्नग्रहप्रचार। नाराशंस होम के पश्चात् दक्षिणा का विकल्प कहा गया है। तीनों सवनों में ११-११ गौएं तथा माध्यन्दिनसवन में एक अश्व भी बारहवीं दक्षिणा होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।७।१) में इस की उपपत्ति दी गयी है—तेंतीस देवता हैं, चौंतीसवां प्रजापति है, अश्व प्राजापत्य (प्रजापति-जन्य) है। वैश्वदेवग्रहग्रहण, प्रथम आज्य स्तोत्र, प्रउग शस्त्र, वैश्वदेवग्रहप्रचार, तीन उक्थ्यग्रहों का ग्रहण, तीन आज्यस्तोत्र, मैत्रावरुणादि तीन शस्त्र तथा उक्थ्यग्रहप्रचार क्रमशः होते हैं।

५. २. माध्यन्दिनसवन—अभिषव, ग्रहग्रहणसादन सर्पण, माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र, दधि-घर्मप्रचार, सवनीय पशु पुरोडाश, शुक्रामन्थिग्रहप्रचार, होत्रकचमस, इडासोमभक्ष, दक्षिणा। उपर्युक्त सम्पूर्ण दक्षिणा इसी काल में, अथवा तीनों सवनों में विभक्त करके दी जा सकती है। दो मरुत्वतीय-याग, तृतीय मरुत्वतीयग्रहग्रहण, मरुत्वतीयशस्त्र, मरुत्वतीयग्रहप्रचार, माहेन्द्रग्रहग्रहण, प्रथम पृष्ठ-स्तोत्र। निष्केवल्य शस्त्र, माहेन्द्रग्रह-प्रचार, अनिग्राह्य ग्रहप्रचार—बार्हस्पत्य ग्रह का प्रचार किया जाता है। तीन पृष्ठस्तोत्र, तीन शस्त्र, तीन उक्थ्य ग्रहों का प्रचार।

५. ३. तृतीयसवन—आदित्यग्रहप्रचार, ऋजीष का अभिषव, ग्रहग्रहण, सर्पण, आर्भव पवमान स्तोत्र, सवनीय पशु पुरोडाश, होत्रकचमस, इडासोमभक्ष, पितृतर्पण, सावित्रग्रहप्रचार, वैश्व-

देवग्रहग्रहण, वैश्वदेवशस्त्र, वैश्वदेवग्रह प्रचार, सौम्यचरु, पात्नीवतग्रह प्रचार, होतृचमसोन्नयन, अग्निष्टोम स्तोत्र, आग्निमारुत शस्त्र, होतृचमस प्रचार, यजमानाभिषेक। यजमान का अभिषेक आपस्तम्ब (२२।७।११) के अनुसार माध्यन्दिनसवन में किया जाता है; परन्तु बौधायन (१८।१) के अनुसार प्रतीत होता है, तृतीयसवन के अन्त में यजमानाभिषेक होता है। अभिषेक की विधि इस प्रकार है—यजमान के आयतन (उत्तरवेदि के दक्षिण) में प्राचीनग्रीव उत्तरलोम कृष्णाजिन (पूर्वाभिमुख ऊपरलोम मृगचर्म) बिछा कर उस पर यजमान को पूर्वाभिमुख बैठा कर, पलाश के पात्र में आज्य लेकर अध्वर्यु **बृहस्पतिः प्रथमं ··तमांसि** (ऋ० ४।५०।४) **देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां सरस्वत्यै वाचो यन्तु यन्त्रेण बृहस्पतिसवेनाभिषिञ्चामि** (बौ० श्रौ० १८।१) मन्त्र से अभिषेक करता है। आपस्तम्ब के अनुसार आज्य अथवा शुक्रामन्थि संस्राव के द्वारा **बृहस्पते युवमिन्द्रश्च** (ऋ० ७।९७।१०) मन्त्र से अभिषेक किया जाता है।

५. ४. **यज्ञपुच्छ**—अनूयाज, हारियोजन प्रचार, शेषभक्षण, अवभृथेष्टि, उदयनीयेष्टि, अनुबन्ध्या याग, उदवसानीयेष्टि, देविका हवि।

इस प्रकार बृहस्पतिसव का संक्षिप्त विवरण समाप्त हुआ।

एकाह सोमयाग की अन्य संस्थाएं

एकाह सोमयाग की सात संस्थाएं हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय तथा अप्तोर्याम। इन की प्रकृति अग्निष्टोम है[1], जिस का विस्तृत विवरण पूर्व (पृ० १०३-१२२) दिया जा चुका है। विशेषकारणवश वाजपेय याग का निरूपण भी पूर्व (पृ० ९८-१०२) हो चुका है। प्रकृति (अग्निष्टोम) का साङ्गोपाङ्ग निरूपण हो जाने के कारण विकृतियों की विशेष विधियों का संक्षिप्त निर्देश आगे किया जायेगा।

२. उक्थ्य

अग्निष्टोम में एक सवनीय पशु आग्नेय है; किन्तु उक्थ्य क्रतु में दो सवनीय पशु—आग्नेय-ऐन्द्राग्न होते हैं। इस याग में अग्निष्टोम से अधिक सोम की आवश्यकता होती है, अतः सोमक्रय के समय अधिक सोम का ग्रहण करते हैं। माध्यन्दिनसवन तक प्रकृति के समान अनुष्ठान किये जाते हैं। तृतीयसवन में ऋजीष से सोम का अभिषव करके सोम की धारा से ग्रहों का ग्रहण किया जाता

१. यद्यपि वाजपेय की प्रकृति षोडशी और अप्तोर्याम की प्रकृति अतिरात्र है, तथापि उन्हें परम्परा से अग्निष्टोम की विकृति कहा जाता है। वस्तुतः अग्निष्टोम के आधार पर उक्थ्य-षोडशि-अतिरात्र का अनुष्ठान किया जाता है और इन चारों में कुछ विधियों को जोड़ कर या घटा कर अत्यग्निष्टोम-वाजपेय-अप्तोर्याम का अनुष्ठान किया जाता है।

है। आग्रयण ग्रह (स्थाली) को भरने के पश्चात् धारा से ही तीन उक्थ्यग्रहों को भर कर रख दिया जाता है। उस के पश्चात् प्रकृति (अग्निष्टोम) के समान विधियां की जाती हैं। अग्निष्टोम स्तोत्र सम्बन्धी चमसों के प्रचार के बाद उक्थ्यग्रह का प्रचार होता है, जिसका क्रम यह है—

चमसाध्वर्युओं के चमसों का उन्नयन (पूरण) होता है। तदनन्तर उद्गातृगण उक्थ्यस्तोत्र का गान करता है। इसके पश्चात् मैत्रावरुण शस्त्र का शंसन करता है और अध्वर्यु प्रतिगर बोलता है। शस्त्रपाठ की समाप्ति पर अध्वर्यु प्रथम उक्थ्यग्रह को तथा चमसाध्वर्यु अपने-अपने चमसों को लेकर आहवनीय के समीप जाते हैं और आश्राव-प्रत्याश्राव आदि के पश्चात् इन्द्रावरुण को आहुति देकर शेष भक्षण करते हैं। दूसरे पर्याय में उक्थ्यस्तोत्र-ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र के अनन्तर द्वितीय उक्थ्य-ग्रह तथा चमसों का प्रकार इन्द्राबृहस्पति के लिए होता है। तृतीय पर्याय में उक्थ्यस्तोत्र—अच्छा-वाकशस्त्र के पश्चात् तृतीय उक्थ्य ग्रह एवं चमसों का प्रचार इन्द्राविष्णु के लिए किया जाता है। इस प्रकार इस याग में अग्निष्टोम के १२-१२ स्तोत्र-शस्त्रों की अपेक्षा तीन-तीन स्तोत्र-शस्त्र अधिक होते हैं, जिन का अनुष्ठान अन्त में किया जाता है। अगली विधियां अग्निष्टोम के समान ही की जाती हैं।

३. षोडशी

उक्थ्य क्रतु में पन्द्रह-पन्द्रह स्तोत्र-शस्त्र होते हैं। उक्थ्य की विधियों को सम्पन्न करके षोडशी क्रतु की विधियां आरम्भ की जाती हैं। इस याग में सोलह संख्या का विशेष महत्त्व है, अतः इस का नाम षोडशी (=सोलह वाला) प्रसिद्ध हुआ है। इस याग में अन्तिम स्तोत्र-शस्त्र सोलहवें हैं, इसलिए उनको षोडशी कहा जाता है। स्तोत्र-शस्त्र के सम्बन्ध से ग्रह को षोडशी ग्रह और ग्रह के सम्बन्ध से क्रतु को भी षोडशी नाम दिया गया है। षोडशी शस्त्र की ऋचाएं अनुष्टुप्-छन्द में हैं, सोलह अक्षरों के पाठ के पश्चात् 'ओ३म्' का उच्चारण किया जाता है, इस में सोलह अक्षरोंवाली निविद् का निवेश किया जाता है।[1]

इस याग में उक्थ्य में कहे गये आग्नेय-ऐन्द्राग्न पशुओं के अतिरिक्त एक अन्य पशु (मेष) का आलम्भन इन्द्र के लिए किया जाता है। प्रातःसवन में धाराग्रहग्रहण के अन्त में चौकोन ऊंचे पात्र में षोडशी ग्रह का ग्रहण करके खर पर रखा जाता है। तृतीयसवन में उक्थ्य ग्रह-चमसों का प्रचार सम्पन्न होने के पश्चात्, षोडशि-सम्बन्धी चमसों का उन्नयन किया जाता है। सूर्यास्त के समय षोडशी स्तोत्र का गान आरम्भ होता है और गान की समाप्ति पर षोडशी शस्त्र का शंसन किया जाता है। इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार ग्रह-चमसों का प्रचार होता है। शेष विधियां प्रकृति (अग्निष्टोम) के समान सम्पन्न की जाती हैं।

४. अतिरात्र

यह याग एक दिन में समाप्त नहीं हो पाता, रात्रि भर निरन्तर चलता रहता है और अगले

१. ऐतरेयब्राह्मण ४।१॥

दिन समाप्त होता है। रात्रि का अतिक्रमण होने के कारण इस का नाम अतिरात्र प्रसिद्ध हुआ है। इस याग में अधिक सोम-आहुतियां दी जाती हैं, अतः सोमक्रय के समय अधिक परिमाण में सोम का ग्रहण किया जाता है। षोडशी क्रतु में तीन सवनीय पशुओं का आलम्भन पहले कहा गया है। अतिरात्र क्रतु में चार सवनीय पशु होते हैं—षोडशी में उक्त तीन तथा सरस्वती के लिए मेषी।

षोडशी ग्रह के पश्चात् ग्रह नहीं होते, केवल चमस ही होते हैं और उन की देवता इन्द्र है। रात्रि में बारह बारह स्तोत्र-शस्त्र होते हैं, जिन को चार-चार के तीन पर्यायों में किया जाता है, अतः इन्हें रात्रिपर्याय कहा जाता है। प्रथम रात्रिपर्याय में षोडशी ग्रह प्रचार के पश्चात् होता के चमस को प्राथमिकता दे कर दसों चमसों का उन्नयन, प्रथम रात्रिस्तोत्र का गान, होता के द्वारा प्रथम रात्रिशस्त्र का शंसन होने के पश्चात् अध्वर्यु होतृचमस की तथा अन्य चमसाध्वर्यु अपने चमसों की आहुति आहवनीय में दे कर शेषभक्षण करते हैं। इसके पश्चात् मैत्रावरुण के चमस को प्राथमिकता देते हुए दसों चमसों का उन्नयन, द्वितीय रात्रि-स्तोत्र का गान, मैत्रावरुण के शस्त्र का शंसन होने के के पश्चात् अध्वर्यु मैत्रावरुण चमस की तथा चमसाध्वर्यु अपने-अपने चमसों की आहुति दे कर शेष भक्षण करते हैं। तदनन्तर ब्राह्मणाच्छंसी के चमस को प्राथमिकता देते हुए दसों चमसों का उन्नयन, तृतीय रात्रि-स्तोत्र का गान, ब्राह्मणाच्छंसी का शस्त्र-शसन होने के बाद प्रतिप्रस्थाता ब्राह्मणाच्छंसि-चमस की तथा चमसाध्वर्यु अपने-अपने चमसों की आहुति देकर शेषभक्षण करते हैं। इसके बाद अच्छावाक के चमस को प्राथमिकता देते हुए दसों चमसों का उन्नयन, चतुर्थ रात्रि-स्तोत्र का गान; अच्छावाक के शस्त्र-शंसन के समाप्त होने पर प्रतिप्रस्थाता अच्छावाक चमस की तथा चमसाध्वर्यु अपने-अपने चमसों की आहुति देकर शेषभक्षण करते हैं। यह प्रथम रात्रि पर्याय हुआ। इसी प्रकार दूसरे-तीसरे पर्याय का अनुष्ठान किया जाता है।

रात्रि-पर्यायों के सम्पन्न होने पर प्रतिप्रस्थाता व्रीहिग्रहण-प्रोक्षण-अवहनन-पेषण प्रकृतिवत् (दर्शपूर्णमास के समान) कर के अश्विद्वय देवताओं के लिए दो-कपालों पर पुरोडाश पका कर वेदि पर रख देता है। अध्वर्यु होतृचमस को प्राथमिकता देते हुए चमसों का उन्नयन करता है। इसके पश्चात् सन्धि-स्तोत्र का गान किया जाता है, जो रात-दिन की सन्धि का प्रतीक है। इस स्तोत्र में अग्नि-उषा-अश्विद्वय देवताओं की ऋचाओं का समावेश है। इस के पश्चात् होता आश्विन शस्त्र का शंसन करता है। इस शस्त्र में अग्नि-अश्विद्वय देवताओं की एक हजार से भी अधिक ऋचाएं समाविष्ट हैं। यह शस्त्र प्रातरनुवाक के समान है और सूर्योदय के पश्चात् समाप्त किया जाता है। शस्त्र के समाप्त होने पर अध्वर्यु होतृचमस की तथा चमसाध्वर्यु अन्य चमसों की आहुति विधिपूर्वक आहवनीय में देते हैं। इन चमसों एवं पुरोडाशों की देवता अश्विद्वय हैं। चमसशेष का भक्षण होता है, पुरोडाशों का शेष नहीं रखा जाता। इस के पश्चात् यज्ञ-पुच्छ विधियां प्रकृति (अग्निष्टोम) के समान की जाती हैं।

ऊपर अग्निष्टोम-उक्थ्य-षोडशि-अतिरात्र नामक चार संस्थाओं का स्वरूप दर्शाया गया है। इन्हीं चार-संस्थाओं के ग्रह-चमस-स्तोत्र-शस्त्र आदि की न्यूनता वा अधिकता से शेष तीन संस्थाओं अत्यग्निष्टोम-वाजपेय-अप्तोर्याम के स्वरूप का निरूपण होता है।

५. अत्यग्निष्टोम

इस याग के अधिकार के विषय में मतभेद पाया जाता है। किन्हीं का मत है कि केवल क्षत्रिय ही अत्यग्निष्टोम करने का अधिकारी है। आश्वलायन आदि आचार्य ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य—तीनों वर्णों को इस का अधिकारी बताते हैं। जैसा कि पूर्व दिखाया गया है, क्रम से अग्निष्टोम स्तोत्र के पश्चात् तीन उक्थ्य स्तोत्र गाये जाते हैं। परन्तु जिस क्रतु में उक्थ्य स्तोत्रों का गान न करके षोडशी स्तोत्र का गान किया जाय, उस क्रतु को अत्यग्निष्टोम कहा जाता है। इस प्रकार षोडशिग्रह-चमस-स्तोत्र-शस्त्र आदि का समावेश होने पर अग्निष्टोम का ही नामान्तर अत्यग्निष्टोम हो जाता है।

६. वाजपेय

इस संस्था का विशद निरूपण पूर्व (पृ० ९८-१०२) किया जा चुका है।

७. अप्तोर्याम

अप्तोर्याम शब्द की व्युत्पत्ति ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर इस प्रकार की जाती है—अप्तोः=प्राप्तः यामः=यज्ञः अप्तोर्यामः। अभिप्राय यह है—इस क्रतु के द्वारा प्रजापति ने पृथक् हुए पशुओं को पुनः प्राप्त किया, अतः इस का नाम अप्तोर्याम प्रचलित हो गया। इसी लिए आश्वलायन (९।११।१) ने कहा है कि उत्तम पशुओं की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को इस क्रतु का अनुष्ठान करना चाहिये। ताण्ड्यब्राह्मण (२०।३।४-५) के अनुसार इस याग का अनुष्ठान करनेवाले को सभी पदार्थ प्राप्त होते हैं।

यह क्रतु अतिरात्र की विकृति माना जाता है। अतः रात्रि-स्तोत्र-शस्त्र और सन्धिस्तोत्र एवं आश्विन शस्त्र का अनुष्ठान प्रकृतिवत् सम्पन्न होने के पश्चात् अप्तोर्याम स्तोत्र-शस्त्रों का अनुष्ठान किया जाता है। इस की विधि यह है—आश्विन शस्त्र की समाप्ति पर चमस प्रचार तथा शेष भक्षण के पश्चात् होतृचमस को प्राथमिकता देते हुए दसों चमसों के उन्नयन, प्रथम अप्तोर्याम स्तोत्र के गान, होता के द्वारा प्रथम अप्तोर्याम शस्त्र के शंसन के पश्चात् अध्वर्यु होतृचमस की तथा चमसाध्वर्यु अन्य चमसों की आहुति अग्नि देवता को देकर शेषभक्षण करते हैं। इस के अनन्तर मैत्रावरुण-चमस को प्राथमिकता देकर चमसों के उन्नयन, द्वितीय अप्तोर्यामस्तोत्र के गान, मैत्रावरुण द्वारा द्वितीय अप्तोर्यामशस्त्र के शंसन के बाद अध्वर्यु मैत्रावरुण-चमस की तथा चमसाध्वर्यु अन्य चमसों की आहुति इन्द्र देवता को देकर शेषभक्षण करते हैं। उसके पश्चात् ब्राह्मणाच्छंसि-चमस को प्राथमिकता देते हुए चमसों के उन्नयन, तृतीय अप्तोर्यामस्तोत्र के गान, ब्राह्मणाच्छंसि के द्वारा तृतीय अप्तोर्याम शस्त्र के शंसन के पश्चात् प्रतिप्रस्थाता ब्राह्मणाच्छंसि-चमस की तथा चमसाध्वर्यु अन्य चमसों की आहुति विश्वेदेवा देवताओं को देकर शेषभक्षण करते हैं। उसके बाद अच्छावाक-चमस को प्राथमिकता देकर चमसों के उन्नयन, चतुर्थ अप्तोर्याम स्तोत्र के गान, अच्छावाक द्वारा चतुर्थ अप्तोर्याम शस्त्र के शसन के पश्चात् प्रतिप्रस्थाता अच्छावाक-चमस की तथा चमसाध्वर्यु अन्य चमसों की आहुति विष्णु देवता को देकर शेषभक्षण करते हैं। आगे यज्ञपुच्छ विधियों का अनुष्ठान प्रकृतिवत् (अग्निष्टोमवत्) होता है।

इस प्रकार सात सोम संस्थाओं का परिचय ऊपर दिया गया। इन संस्थाओं में प्रयुक्त होनेवाले स्तोत्र-शस्त्रों की संख्या, उन के नाम, स्तोमों के नाम, शस्त्र-शंसन करनेवाले ऋत्विजों के नाम और देवतासम्बन्धी ग्रहों के नाम तालिका के रूप में आगे लिखे जाते हैं, जिस से पाठकों को सरलता से बोध हो सके।

१. अग्निष्टोम

स्तोत्र-शस्त्र की संख्या	स्तोत्रनाम	स्तोम	शस्त्रनाम	शस्त्रकर्त्ता	देवता-ग्रह
	प्रातःसवन				
१	बहिष्पवमानस्तोत्र	त्रिवृत्	आज्य शस्त्र	होता	ऐन्द्राग्न
२	आज्य स्तोत्र	पञ्चदश	प्रउग शस्त्र	होता	वैश्वदेव
३	,,	,,	मैत्रावरुण शस्त्र	मैत्रावरुण	मैत्रावरुण
४	,,	,,	ब्राह्मणाच्छंसि शस्त्र	ब्राह्मणाच्छसी	ऐन्द्र
५	,,	,,	अच्छावाक शस्त्र	अच्छावाक	ऐन्द्राग्न
	माध्यन्दिनसवन				
६	माध्यन्दिन पवमानस्तोत्र	पञ्चदश	मरुत्वतीय शस्त्र	होता	मरुत्वान्इन्द्र
७	पृष्ठ स्तोत्र	सप्तदश	निष्केवल्य शस्त्र	होता	माहेन्द्र
८	,,	,,	मैत्रावरुण शस्त्र	मैत्रावरुण	मैत्रावरुण
९	,,	,,	ब्राह्मणाच्छसि शस्त्र	ब्राह्मणाच्छंसी	ऐन्द्र
१०	,,	,,	अच्छावाक शस्त्र	अच्छावाक	ऐन्द्राग्न
	तृतीयसवन				
११	आर्भवपवमान स्तोत्र	सप्तदश	वैश्वदेवशस्त्र	होता	वैश्वदेव
१२	अग्निष्टोम स्तोत्र	एकविंश	आग्निमारुत शस्त्र	होता	आग्निवैश्वानरमारुत

२. उक्थ्य

१-५ **प्रातःसवन** में अग्निष्टोम के समान स्तोत्र, शस्त्र तथा स्तोम।

६-१० **माध्यन्दिनसवन** में ,, ,, ,, ,, ,,

	तृतीयसवन				
११	आर्भवपवमानस्तोत्र	सप्तदश	वैश्वदेव शस्त्र	होता	
१२	अग्निष्टोम स्तोत्र	एकविंश	आग्निमारुतशस्त्र	,,	
१३	उक्थ्य स्तोत्र	,,	मैत्रावरुणशस्त्र	मैत्रावरुण	ऐन्द्रावरुण
१४	,,	,,	ब्राह्मणाच्छंसि शस्त्र	ब्राह्मणाच्छंसी	ऐन्द्राबार्हस्पत्य
१५	,,	,,	अच्छावाक शस्त्र	अच्छावाक	ऐन्द्रावैष्णव

३. षोडशी

१-५ **प्रातःसवन** में अग्निष्टोमवत् स्तोत्र, शस्त्र, स्तोम।

६-१० **माध्यन्दिनसवन** में ,, ,, ,, ,, ।

तृतीयसवन

११	आर्भवपवमानस्तोत्र	सप्तदश	वैश्वदेवशस्त्र	होता
१२	अग्निष्टोमस्तोत्र	एकविंश	आग्निमारुतशस्त्र	,,
१३	उक्थ्यस्तोत्र	,,	मैत्रावरुणशस्त्र	मैत्रावरुण
१४	,,	,,	ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र	ब्राह्मणाच्छंसी
१५	,,	,,	अच्छावाकशस्त्र	अच्छावाक
१६	षोडशिस्तोत्र	,,	षोडशिशस्त्र	होता

४. अतिरात्र

१-५ **प्रातःसवन** में अग्निष्टोमवत् स्तोत्र, शस्त्र, स्तोम।

६-१० **माध्यन्दिनसवन** में ,, ,, ,, ,, ।

तृतीयसवन

११	आर्भवपवमानस्तोत्र	सप्तदश	वैश्वदेवशस्त्र	होता
१२	अग्निष्टोमस्तोत्र	एकविंश	आग्निमारुतशस्त्र	,,
१३	उक्थ्यस्तोत्र	,,	मैत्रावरुणशस्त्र	,,
१४	,,	,,	ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र	ब्राह्मणाच्छंसी
१५	,,	,,	अच्छावाकशस्त्र	अच्छावाक
१६	षोडशिस्तोत्र	,,	षोडशिशस्त्र	होता

प्रथमरात्रिपर्याय

१७	प्रथम रात्रिस्तोत्र	पञ्चदश	प्रथम रात्रिशस्त्र	होता
१८	द्वितीय ,,	,,	द्वितीय ,,	मैत्रावरुण
१९	तृतीय ,,	,,	तृतीय ,,	ब्राह्मणाच्छंसी
२०	चतुर्थ ,,	,,	चतुर्थ ,,	अच्छावाक

द्वितीयरात्रिपर्याय

२१	प्रथम रात्रिस्तोत्र	पञ्चदश	प्रथम रात्रिशस्त्र	होता
२२	द्वितीय ,,	,,	द्वितीय ,,	मैत्रावरुण
२३	तृतीय ,,	,,	तृतीय ,,	ब्राह्मणाच्छंसी
२४	चतुर्थ ,,	,,	चतुर्थ ,,	अच्छावाक

तृतीय रात्रिपर्याय

२५	प्रथम रात्रिस्तोत्र	पञ्चदश	प्रथम रात्रिशस्त्र	होता
२६	द्वितीय ,,	,,	द्वितीय ,,	मैत्रावरुण
२७	तृतीय ,,	,,	तृतीय ,,	ब्राह्मणाच्छंसी
२८	चतुर्थ ,,	,,	चतुर्थ ,,	अच्छावाक
२९	सन्धिस्तोत्र	त्रिवृत्	आश्विन शस्त्र	होता

५. अत्यग्निष्टोम

१-५ **प्रातःसवन** में अग्निष्टोमवत् स्तोत्र, शस्त्र तथा स्तोम।

६-१० **माध्यन्दिनसवन** में ,, ,, ,, ,,।

तृतीयसवन

११	आर्भवपवमानस्तोत्र	सप्तदश	वैश्वदेवशस्त्र	होता
१२	अग्निष्टोमस्तोत्र	एकविंश	आग्निमारुतशस्त्र	,,
१३	षोडशिस्तोत्र	,,	षोडशिशस्त्र	,,

६. वाजपेय

१-५ **प्रातःसवन** में अग्निष्टोमवत् स्तोत्र, शस्त्र, स्तोम।

६-१० **माध्यन्दिनसवन** में ,, ,, ,, ,,।

तृतीयसवन

११	आर्भवपवमानस्तोत्र	सप्तदश	वैश्वदेवशस्त्र	होता
१२	अग्निष्टोमस्तोत्र	एकविंश	आग्निमारुतशस्त्र	होता
१३	उक्थ्यस्तोत्र	,,	मैत्रावरुणशस्त्र	मैत्रावरुण
१४	,,	,,	ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र	ब्राह्मणाच्छसी
१५	,,	,,	अच्छावाकशस्त्र	अच्छावाक
१६	षोडशिस्तोत्र	,,	षोडशिशस्त्र	होता
१७	वाजपेयस्तोत्र	सप्तदश	वाजपेयशस्त्र	,,

७. अप्तोर्याम

प्रातःसवन

१	बहिष्पवमानस्तोत्र	त्रिवृत्	आज्यशस्त्र	होता
२	आज्यस्तोत्र	पञ्चदश	प्रउगशस्त्र	होता
३	,,	,,	मैत्रावरुणशस्त्र	मैत्रावरुण
४	,,	,,	ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र	ब्राह्मणाच्छंसी
५	,,	,,	अच्छावाकशस्त्र	अच्छावाक

माध्यन्दिनसवन

६	माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र	सप्तदश	मरुत्वतीयशस्त्र	होता
७	होता का पृष्ठस्तोत्र	एकविंश	निष्केवल्यशस्त्र	होता
८	मैत्रावरुण का ,,	चतुर्विंश	मैत्रावरुणशस्त्र	मैत्रावरुण
९	ब्राह्मणाच्छंसी का ,,	चतुश्चत्वारिंश	ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र	ब्राह्मणाच्छंसी
१०	अच्छावाक का ,,	अष्टाचत्वारिंश	अच्छावाकशस्त्र	अच्छावाक

तृतीयसवन

११	आर्भवपवमानस्तोत्र	त्रिणव	वैश्वदेवशस्त्र	होता
१२	अग्निष्टोमस्तोत्र	त्रयस्त्रिंश	आग्निमारुतशस्त्र	,,
१३	उक्थ्यस्तोत्र	त्रिणव	मैत्रावरुणशस्त्र	मैत्रावरुण
१४	,,	एकविंश	ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र	ब्राह्मणाच्छंसी
१५	,,	सप्तदश	अच्छावाकशस्त्र	अच्छावाक
१६	षोडशिस्तोत्र	एकविंश	षोडशिशस्त्र	होता

प्रथम रात्रिपर्याय

१७	प्रथम रात्रिस्तोत्र	पञ्चदश	प्रथम रात्रिशस्त्र	होता
१८	द्वितीय ,,	,,	द्वितीय ,,	मैत्रावरुण
१९	तृतीय ,,	,,	तृतीय ,,	ब्राह्मणाच्छंसी
२०	चतुर्थ ,,	,,	चतुर्थ ,,	अच्छावाक

द्वितीय रात्रिपर्याय

२१	प्रथमरात्रिस्तोत्र	पञ्चदश	प्रथम रात्रिशस्त्र	होता
२२	द्वितीय ,,	,,	द्वितीय ,,	मैत्रावरुण
२३	तृतीय ,,	,,	तृतीय ,,	ब्राह्मणाच्छंसी
२४	चतुर्थ ,,	,,	चतुर्थ ,,	अच्छावाक

तृतीय रात्रिपर्याय

२५	प्रथम रात्रिस्तोत्र	पञ्चदश	प्रथम रात्रिशस्त्र	होता
२६	द्वितीय ,,	,,	द्वितीय ,,	मैत्रावरुण
२७	तृतीय ,,	,,	तृतीय ,,	ब्राह्मणाच्छंसी
२८	चतुर्थ ,,	,,	चतुर्थ ,,	अच्छावाक

शेष स्तोत्र-शस्त्र

२९	सन्धिस्तोत्र	त्रिवृत्	आश्विनशस्त्र	होता
३०	प्रथम अप्तोर्यामस्तोत्र	,,	प्रथम अप्तोर्यामशस्त्र	,,
३१	द्वितीय ,,	पञ्चदश	द्वितीय ,,	मैत्रावरुण
३२	तृतीय ,,	सप्तदश	तृतीय ,,	ब्राह्मणाच्छंसी
३३	चतुर्थ ,,	एकविंश	चतुर्थ ,	अच्छावाक

ऊपर सोमयाग की प्रधान सात संस्थाओं का वर्णन किया गया है। ये सभी याग एकाह (एक दिन में सम्पन्न होनेवाले) हैं। सूत्रग्रन्थों (आश्व० श्रौ० ९।५-११॥ बौ० श्रौ० १८।१।१०॥ का० श्रौ० २२) में बृहस्पति सव, गोसव, श्येन, उद्भिद्, विश्वजित्, व्रात्यस्तोम, वाचस्तोम आदि अनेक यागों का उल्लेख और विवरण मिलता है। बृहस्पति सव का निरूपण पहले(पृ० १२६-१२८) किया जा चुका है, उससे सवों के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। गोसव के पश्चात् यजमान को वर्ष भर पशुव्रत का (अर्थात् पशु के समान घास चरना और पानी पीना आदि) आचरण करना पड़ता है। विश्वजित् के पश्चात् यजमान अपनी सारी सम्पत्ति का दान कर देता है और जो कुछ किसी से याचना के विना प्राप्त हो जाय उसी से जीवनयापन करता है। श्येन याग अभिचार कर्म है। इस में ऋत्विज् लाल वस्त्र पहनते हैं। कुशाओं के स्थान पर शर, चषालरहित यूप, शव ले जाने में उपयुक्त तख्तों से बने अधिषवण फलक, दक्षिणा की गायें विकारयुक्त होती हैं और उनके शरीरों को कांटों से बींधते हैं। व्रात्यस्तोम को संस्कारहीन व्यक्ति उपनयनादि की इच्छा से करते हैं। सर्वस्वार याग को मरने की इच्छावाला करता है। वाचस्तोम में सम्पूर्ण ऋचाओं, यजुओं, तथा सामों का विनियोग है।

विश्वतोमुख नामक एक विशिष्ट एकाह सोमयाग भी भारत के दक्षिण प्रदेशों में प्रचलित है। दाक्षिणात्य याज्ञिक बताते हैं कि इस याग में मध्य में एक गार्हपत्य होती है, जिस की चारों दिशाओं में एक-एक अर्थात् चार महावेदि तथा चार देवयजनी बनाई जाती हैं। चार आहवनीय एवं चार दक्षिणाग्नि होती हैं। प्रतिवेदि सोलह ऋत्विज् अर्थात् कुल चौंसठ ऋत्विज् होते हैं, परन्तु यजमान एक ही होता है। याज्ञिकों का मत है कि विश्वतोमुख में पूर्व तथा दक्षिण दिशा में अग्निष्टोम संस्था और पश्चिम तथा उत्तर दिशा में षोडशिसंस्था का अनुष्ठान होता है।

इस प्रकार एकाह सोमयागों का विवरण समाप्त हुआ।

अहीन और सत्र

एकाह सोमयागों और उनकी प्रधान संस्थाओं का वर्णन पूर्व किया जा चुका है। उन यज्ञों में सुत्या (अभिषव) दिवस तो एक ही होता है, परन्तु दीक्षा तथा उपसद् के लिये चार दिनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार कम से कम पांच दिनों में एकाह याग सम्पन्न होते हैं। जिन सोम यागों में सुत्या-दिवसों की संख्या दो से बारह तक होती है, वे अहीन कहे जाते हैं। बारह दिवस से हजार (वा इस से भी अधिक) वर्ष तक सुत्या दिवसवाले सोमयाग सत्र कहे जाते हैं। अहीनों तथा सत्रों के नामों में **'अहन्'** एवं **'रात्रि'** शब्द अहोरात्र के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार द्व्यह, त्र्यह, सप्ताह, द्वादशाह आदि शब्द क्रमशः द्विरात्र, त्रिरात्र, सप्तरात्र, द्वादशरात्र आदि के पर्यायवाची हैं। द्वादशाह या द्वादशरात्र (बारह सुत्या-दिवसवाला याग) अहीन तथा सत्र उभयात्मक माना जाता है। अतः दोनों का भेद जानना आवश्यक है।

अहीन-सत्र-भेद—कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।१।५-८) में कहा गया है—(१) ब्राह्मणग्रन्थों में 'आसते' 'उपयन्ति' आदि प्रयोग सत्र को लक्षित करते हैं, जब कि 'यजते' आदि शब्दों के प्रयोग से अहीन का बोध होता है। (२) सत्र की आद्य तथा अन्त्य संस्था अतिरात्र है, परन्तु अहीन की अन्तिम संस्था अतिरात्र होती है, आदि-संस्था का नियम नहीं है। (३) सत्र में सभी यजमान होते हैं, ऋत्विज् नहीं होते। इसलिए ऋत्विजों का वरण भी नहीं होता। अहीन में एक (या अनेक) यजमान तथा सोलह ऋत्विज् होते हैं। (४) सत्र दक्षिणा-रहित होते हैं, जब कि अहीन दक्षिणा-सहित होते हैं। (५) सत्र का अधिकारी केवल ब्राह्मण है, जब कि अहीन के अधिकारी तीनों वर्ण (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) हैं।

जिस प्रकार एकाह क्रतुओं की प्रकृति अग्निष्टोम है, उसी प्रकार द्विरात्र आदि अहीनों की प्रकृति अहीनात्मक द्वादशाह है और त्रयोदशाह आदि सत्रों की प्रकृति सत्रात्मक द्वादशाह है। संवत्सर या उस से अधिक काल में सम्पन्न होनेवाले सत्रों की प्रकृति गवामयन नामक सत्र है। गवामयन में भी अनेक धर्म द्वादशाह से लिये जाते हैं, अतः यहां द्वादशाह का निरूपण कुछ विस्तार से किया जाता है—

द्वादशाह

इस याग में बारह दीक्षा, बारह उपसद् तथा बारह सुत्या होती हैं, अतः यह छत्तीस दिन में सम्पन्न होता है। सत्रात्मक द्वादशाह का अनुष्ठान सत्रह से चौबीस तक आहिताग्नि ब्राह्मण करते हैं। वे पहले अग्निष्टोम का अनुष्ठान कर चुके होते हैं। उन में से सोलह ऋत्विक्-कर्म करते हैं, शेष (एक से सात तक) गृहपति (यजमान) का कार्य करते हैं। सभी सत्रोपयोगी द्रव्यों को समानरूप से इकट्ठा करके यज्ञ करते हैं। यह याग साग्निचित्य तथा निरग्निचित्य दोनों प्रकार से किया जाता है। दीक्षा दिवस को सब गृहपति आदि अपनी-अपनी अरणियों में अग्नि का समारोपण कर के देवयजनी में जाते हैं और वहां अरणि-मन्थन से यथाविधि अग्नि उत्पन्न करके पृथक्-पृथक् गार्हपत्य

में स्थापित करते हैं। इस के पश्चात् ब्रह्मादि अपनी-अपनी गार्हपत्य अग्नि से एक-एक अङ्गार लेकर गृहपति की गार्हपत्य अग्नि में डाल देते हैं। इस प्रकार सर्व-साधारण गार्हपत्य से आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि को प्रदीप्त किया जाता है। अभिप्राय यह है कि सत्रात्मक द्वादशाह में सब की गार्हपत्य अग्नियां पृथक्-पृथक् होती हैं, किन्तु आहवनीय तथा दक्षिण अग्नि एक ही होती है।

अहीनात्मक द्वादशाह में ऋत्विग्वरण, दीक्षणीयेष्टि, दीक्षा आदि विधियां अग्निष्टोम के समान की जाती हैं। सत्रात्मक द्वादशाह में ऋत्विग्वरण नहीं किया जाता, अन्य सब विधियों का अनुष्ठान अग्निष्टोम के समान किया जाता है। अग्निष्टोम में दीक्षा-कर्त्ता अध्वर्यु होता है, उसी प्रकार सत्रात्मक द्वादशाह में भी अध्वर्यु गण के ऋत्विज् दीक्षा-कर्त्ता होते हैं। क्रम इस प्रकार है—अध्वर्यु गृहपति को दीक्षित करके ब्रह्मा-उद्गाता-होता को दीक्षित करता है। प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु-ब्राह्मणाच्छंसि-प्रस्तोता-मैत्रावरुण को, नेष्टा प्रतिप्रस्थाता-आग्नीध्र-प्रतिहर्त्ता-अच्छावाक को, उन्नेता नेष्टा-पोता-सुब्रह्मण्य-ग्रावस्तुत् को और अन्य कोई ऋत्विज् उन्नेता को दीक्षित करता है। जो जिस को दीक्षित करता है, वही उसकी पत्नी को भी दीक्षित करता है।

दीक्षा के पश्चात् बारह दिन तक गृहपति (यजमान) दीक्षा-नियमों का पालन करता है। तदनन्तर बारह दिन तक प्रातः-सायं प्रवर्ग्य एवं उपसद् विधियों का अनुष्ठान चलता रहता है। इन्हीं दिनों में सोमक्रय तथा आतिथ्येष्टि की जाती है और सोमाप्यायन तथा निह्नव होता है। पाशुकविधियां भी यथानिर्देश की जाती हैं। बारह दिन प्रवर्ग्य-उपसदों के सम्पन्न होने पर सुत्या आरम्भ होती हैं, जो बारह दिन तक चलती हैं। उनकी योजना इस प्रकार है—(१) पहले दिन—प्रायणीय, (२) दूसरे से सातवें दिन तक—पृष्ठ्य षडह, (३) आठवें से दसवें दिन तक—छन्दोम, (४) ग्यारहवें दिन—अविवाक्य, (५) बारहवें दिन उदयनीय तथा (६) अवभृथ। प्रति दिन पृथक् संस्था का अनुष्ठान होता है और सब के अन्त में अवभृथ इष्टि तथा अन्य यज्ञ-पुच्छ सम्बन्धी कर्म होते हैं।

(१) प्रथम सुत्या दिवस को प्रायणीय (आरम्भ) कहा जाता है क्योंकि अभिषव का आरम्भ इसी दिन से होता है। इस दिन अतिरात्र संस्था का अनुष्ठान होता है, जिस में त्रिवृत् आदि स्तोमों में रथन्तर साम का गान किया जाता है।

(२) दूसरे दिन से सातवें दिन तक षडह (छह दिन) को पृष्ठ्य षडह कहा जाता है। रथन्तर-बृहद्-वैरूप-वैराज-शाक्वर-रैवत इन छह सामों की संज्ञा पृष्ठ है। इन में से प्रतिदिन क्रमशः एक साम का गान पृष्ठ स्तोत्र (होता के पृष्ठ स्तोत्र) पर किया जाता है, अतः छह दिन की सामूहिक संज्ञा पृष्ठ्य षडह है। पृष्ठ्य-षडह की क्रम से छह संस्थाएं हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, उक्थ्य, षोडशी, उक्थ्य, उक्थ्य। इनमें प्रत्येक संस्था के सभी स्तोत्रों के स्तोम क्रमशः—त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश होते हैं।

(३) आठवें से दसवें दिन तक तीन दिवस छन्दोम के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीन दिनों के स्तोत्रों मे क्रमशः चतुर्विंश-चतुश्चत्वारिंश-अष्टाचत्वारिंश स्तोमों का प्रयोग होता है। गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती छन्दों के अक्षरों की संख्या क्रमशः चौबीस-चवालीस-अड़तालीस होती है। अतः उक्त तीन

प्रमुख छन्दों से मित होने के कारण इन दिवसों को छन्दोम कहा जाता है। छन्दोम की संस्थाएं उक्थ्य (या अग्निष्टोम या अतिरात्र) हैं।

(४) ग्यारहवां दिन अविवाक्य नाम से प्रसिद्ध है (आरम्भिक प्रायणीय दिवस तथा अन्तिम उदयनीय दिवस की गणना न कर के दशाह का दसवां दिन अविवाक्य अह माना जाता है)। इस दिन अग्निष्टोम (या अत्यग्निष्टोम) संस्था का अनुष्ठान होता है। इस दिन होनेवाले अनुष्ठान सम्बन्धी दोषों के सम्बन्ध में कोई किसी से कुछ नहीं कहता, इस लिए इसे अविवाक्य दिवस कहा जाता है।

(५) बारहवां दिवस उदयनीय (समाप्ति) माना जाता है और इस दिन अतिरात्र संस्था का अनुष्ठान होता है। इसके पश्चात् यज्ञ-पुच्छ विधियां सम्पन्न होती हैं।

सत्रों में ग्रहाग्रता का निर्देश किया गया है। उसका अभिप्राय यह है—प्रातःसवन में धारा से ग्रहों का ग्रहण करते समय जिस देवता के उद्देश्य से प्रथम ग्रह का ग्रहण किया जाता है, उसी देवता के ग्रह की अग्रता (प्रधानता) कही जाती है। ग्रहाग्रता की दृष्टि से व्यूढ-समूढ भेद से द्वादशाह दो प्रकार का होता है। ऐन्द्रवायव, शुक्र, आग्रयण ग्रहों के समूह को त्र्यनीका नाम से पुकारा जाता है। जिस द्वादशाह में यह त्र्यनीका समरूप से की जाती है, उसे व्यूढ द्वादशाह कहा जाता है। समूढ द्वादशाह में क्रम है—प्रायणीय-उदयनीय तथा दशम दिवस ऐन्द्रवायव, शेष नौ दिनों में क्रम से ऐन्द्रवायव-शुक्र-आग्रयण की अग्रता। व्यूढ द्वादशाह में क्रम है—प्रायणीय-उदयनीय ऐन्द्रवायव, शेष दस दिनों में ऐन्द्रवायव-शुक्र-दो आग्रयण, ऐन्द्रवायव-दो शुक्र-आग्रयण, दो ऐन्द्रवायव की अग्रता। आगे दी गई व्यूढ द्वादशाह की संस्था, स्तोम, अग्रता तथा साम की सारणी से इन का बोध सरलता से हो सकता है—

दिवस	संस्था	स्तोम	अग्रता	साम
प्रथम (प्रायणीय)	अतिरात्र	त्रिवृत् आदि	ऐन्द्रवायव	रथन्तर
द्वितीय (पृष्ठ्य षडह)	अग्निष्टोम	त्रिवृत्	ऐन्द्रवायव	,,
तृतीय ,, ,,	उक्थ्य	पञ्चदश	शुक्र	बृहत्
चतुर्थ ,, ,,	,,	सप्तदश	आग्रयण	वैरूप
पञ्चम ,, ,,	षोडशी	एकविंश	,,	वैराज
षष्ठ ,, ,,	उक्थ्य	त्रिणव (२७)	ऐन्द्रवायव	शाक्वर
सप्तम ,, ,,	,,	त्रयस्त्रिंश	शुक्र	रैवत
अष्टम (छन्दोम)	,,	चतुर्विंश	,,	रथन्तर
नवम ,,	,,	चतुश्चत्वारिंश	आग्रयण	बृहत्
दशम ,,	उक्थ्य (या अग्निष्टोम या अतिरात्र)	अष्टाचत्वारिंश	ऐन्द्रवायव	रथन्तर
एकादश (अविवाक्य)	अग्निष्टोम	चतुर्विंश	,,	बृहत्
द्वादश (उदयनीय)	अतिरात्र	त्रिवृत् आदि	,,	रथन्तर

अन्य अहीन याग

अहीनों (और सत्रों) की प्रकृति द्वादशाह का वर्णन ऊपर किया गया है। द्व्यह (द्विरात्र) से एकादशाह (एकादशरात्र) तक अहीनों का वर्णन अत्यन्त संक्षेप से किया जायेगा। कात्यायन श्रौत-सूत्र में तेरह प्रकार की अतिरात्र संस्थाओं को भी अहीनों के अन्तर्गत निरूपित किया गया है। इन में से प्रथम चार षोडशिरहित तथा शेष षोडशिसहित हैं। इनके नाम हैं—नवसप्तदश, विषुवान्, गौ, आयु, ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, अप्तोर्याम,अभिजित्, सर्वस्तोम। स्पष्ट है, ये नाम स्तोमों तथा स्तोम-समूहों के अनुसार रखे गये हैं। द्वादशाह और जामदग्न्य चतूरात्र को छोड़कर अन्य अहीन एक मास में सम्पन्न होते हैं। जैसे-जैसे सुत्या के दिवसों में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे दीक्षा के दिवसों में न्यूनता होती जाती है। कुल अहीनों की संख्या तेंतीस है।

द्व्यह—१६ दीक्षा, १२ उपसद तथा दो सुत्या। आङ्गिरस-चैत्ररथ-कापिवन नामक तीन द्व्यह बताये गये हैं। आङ्गिरस में अग्निष्टोम तथा शेष दोनों में षोडशिरहित अतिरात्र संस्था का अनुष्ठान होता है।

त्र्यह—१५ दीक्षा, १२ उपसद्, ३ सुत्या। इनकी संख्या पांच है। गर्ग त्रिरात्र में अग्निष्टोम, बैद में उक्थ्य, छन्दोम में अतिरात्र, अन्तर्वसु एवं पराक में अग्निष्टोम संस्था होती है।

चतुरह—१४ दीक्षा, १२ उपसद्, ४ सुत्या। अत्रिचतुर्वीर-जामदग्न्य-वसिष्ठसंसर्प-विश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध चार चतूरात्र हैं। इनमें उपसद् पुरोडाश से किये जाते हैं।

पञ्चाह—१३ दीक्षा, १२ उपसद्, ५ सुत्या। इन की संख्या तीन है—देव पञ्चाह, पञ्च-शारदीय तथा व्रतवान्।

षडह—१२ दीक्षा, १२ उपसद्, ६ सुत्या। ये तीन हैं—ऋतु, पृष्ठ्यावलम्ब तथा तीसरे की विशेष संज्ञा नहीं है। ऋतु में पांच पृष्ठ्य तथा छठा विश्वजित् अतिरात्र होता है।

सप्ताह—११ दीक्षा, १२ उपसद्, ७ सुत्या। इनकी संख्या सात है—सप्तर्षि, प्राजापत्य, पशुकाम, क्षुल्लक जामदग्न्य, इन्द्र, जनक, पृष्ठ्यस्तोम। इन में से इन्द्र सप्तरात्र के दिवसों की कल्पना इस प्रकार है—ज्योति, गौ, आयु, अभिजित्, विश्वजित्, सर्वजित्, सर्वस्तोम। ज्योति, अभि-जित् एवं विश्वजित् की संस्था अग्निष्टोम है। गौ तथा आयु की संस्था उक्थ्य है। सर्वजित् (महाव्रत) और सर्वस्तोम की संस्था अतिरात्र होती है। ज्योति आदि स्तोम-समूहों के नाम हैं, उनके सम्बन्ध से एकाहों के नाम प्रसिद्ध हो गए हैं। ज्योति में स्तोत्रों के स्तोमों का क्रम है—बहिष्पवमान त्रिवृत्, आज्य पञ्चदश, माध्यन्दिनपवमान पञ्चदश, पृष्ठ सप्तदश, आर्भवपवमान सप्तदश, अग्निष्टोम (या उक्थ्य) एकविंश। गौ में स्तोत्रों के स्तोमों का क्रम है—बहिष्पवमान पञ्चदश, आज्य त्रिवृत्, माध्य-न्दिनपवमान सप्तदश, तृतीय सवन (उक्थ्य सहित) एकविंश। आयु में स्तोत्रों के स्तोमों का क्रम है—बहिष्पवमान त्रिवृत्, आज्य पञ्चदश, माध्यन्दिनपवमान सप्तदश, तृतीयसवन (उक्थ्य सहित)

एकविंश । अभिजित्, विश्वजित् तथा महाव्रत का निरूपण आगे गवामयन के प्रसङ्ग में किया जायेगा ।

अष्टाह—१० दीक्षा, १२ उपसद, ८ सुत्या । यह एक ही है और दिवस कल्पना इस प्रकार है—पृष्ठ्य षडह, महाव्रत, अतिरात्र ।

नवाह—६ दीक्षा, १२ उपसद, ६ सुत्या । नवरात्र दो हैं—प्रथम में पृष्ठ्य षडह तथा तीन त्रिकद्रुक (ज्योति-गौ-आयु) होते हैं और द्वितीय में तीन त्रिकद्रुक (ज्योति-गौ-आयु), पांच पृष्ठ सम्बन्धी तथा एक अतिरात्र होता है ।

दशाह—८ दीक्षा, १२ उपसद, १० सुत्या । इनकी संख्या चार है—त्रिककुप्-कौसुरुबिन्द-पूर्दशरात्र-छन्दोम दशाह । इन में से पहले में प्रथम-तृतीय-चतुर्थ-षष्ठ-सप्तम-नवम दिन अग्निष्टोम, दशम दिन अतिरात्र और द्वितीय-पञ्चम-अष्टम दिवस उक्थ्य होता है । इसी प्रकार अन्य तीन में भी विभिन्न सस्थाएं होती हैं । दूसरे में तीन अग्निष्टोम, छह उक्थ्य, अतिरात्र होते हैं । तीसरे में प्रथम-तृतीय-पञ्चम-सप्तम-नवम अग्निष्टोम, दशम अतिरात्र और शेष उक्थ्य होते हैं । चतुर्थ में पञ्चाह पृष्ठ्य, चार छन्दोम, अतिरात्र दिवस होते हैं ।

एकादशाह—७ दीक्षा, १२ उपसद, ११ सुत्या । पौण्डरीक नामक एकादशाह एक ही है । इस के दिवसों की कल्पना है—अभ्यासङ्ग्य षडह, तीन छन्दोम, चतुष्टोम (चतुर्विंश) अग्निष्टोम, विश्वजित् अतिरात्र ।

रात्रि-सत्र

सत्रों के दो भेद कहे जा सकते हैं—रात्रि-सत्र तथा सांवत्सरिक सत्र । त्रयो-दशरात्र से शत-रात्र पर्यन्त रात्रि-सत्र कहे जाते हैं और एक वर्ष या इस से अधिक काल में सम्पन्न होनेवाले सत्रों को सांवत्सरिक सत्र कहते हैं । जैसा कि पूर्व निर्देश किया जा चुका है, रात्रि-सत्रों की प्रकृति द्वादशाह है और सांवत्सरिक सत्रों की प्रकृति गवामयन है । सभी रात्रि-सत्रों में १२ दीक्षा तथा १२ उपसद होते हैं । सुत्या दिवसों में एक-एक की वृद्धि कर के चत्वारिंशद्रात्र तक चालीस सुत्या दिवस होते हैं । इस प्रकार त्रयोदशरात्र सत्र ३७ दिन में सम्पन्न होता है, आगे भी इसी प्रकार दिवसों की वृद्धि समझनी चाहिये । चत्वारिंशद्रात्र के पश्चात् एकोनपञ्चाशद्रात्र तथा शतरात्र सत्र हैं । रात्रि-सत्र के कुल भेदों की संख्या ३७ है । इन में से उदाहरणार्थ तीन रात्रि-सत्रों के दिवसों की कल्पना आगे दी जा रही है—

त्रयोदशरात्र—१-प्रायणीय अतिरात्र, २-७ पृष्ठ्य षडह, ८-सर्वस्तोम अतिरात्र, ९-१२-चार-छन्दोम, १३-उदयनीय अतिरात्र । इस के दो भेद और भी हैं ।

चत्वारिंशद्रात्र—१-प्रायणीय अतिरात्र, २-४ ज्योति-गौ-आयु, ५-२८ चार अभिप्लव षडह, २९-३४ पृष्ठ्य षडह, ३५-३८ चार छन्दोम, ३९-महाव्रत, ४०-उदयनीय अतिरात्र ।

शतरात्र—१-प्रायणीय अतिरात्र, २-४ त्रिकद्रुक, ५-८८ चौदह अभिप्लव षडह, ८९-९८ दशरात्र, ९९-महाव्रत, १००-उदयनीय अतिरात्र।

षडह के भेद—षडह के तीन भेद हैं—पृष्ठ्य, अभिप्लव तथा अभ्यासङ्ग्य। पृष्ठ्य षडह का स्वरूप द्वादशाह (पृ० १४१) में दर्शाया गया है। अभिप्लव षडह में क्रम से रथन्तर, बृहत्, रथन्तर, बृहत्, रथन्तर, बृहत्—इस प्रकार स्तोत्रों (साम) का गान होता है और अग्निष्टोम, गोष्टोम (उक्थ्य), आयुष्टोम (उक्थ्य), गोष्टोम (उक्थ्य), आयुष्टोम (उक्थ्य), अग्निष्टोम संस्थाएं सम्पन्न की जाती हैं। पूर्व दिवस जिस स्तोम पर समाप्ति हुई, उसी से अगले दिन आरम्भ करने का नाम अभ्यासङ्ग है, इसी सम्बन्ध से अभ्यासङ्ग्य षडह संज्ञा हुई है। इस में एक अग्निष्टोम, तीन उक्थ्य, दो अतिरात्र संस्थाएं क्रमशः त्रिवृत्-पञ्चदश, सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश स्तोमों से सम्पन्न होती हैं।

महाव्रत—सत्रों में अन्तिम (उदयनीय) से पूर्व दिवस महाव्रत का अनुष्ठान बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इस की विधियां बड़ी विलक्षण हैं। महान् से प्रजापति अभिप्रेत है, अत: महाव्रत का अर्थ 'अन्न' समझा जाता है (शत० ब्रा० ४।६।४।२)। इस में महाव्रतीय ग्रह तथा प्राजापत्य पशु का अनुष्ठान होता है। महाव्रत स्तोत्र का गान तथा होता द्वारा महदुक्थ शस्त्र का शंसन किया जाता है। पृष्ठ स्तोत्र का आरम्भ शततन्त्री वीणा वादन के साथ किया जाता है। स्तोत्र काल में उद्गाता गूलर की आसन्दी पर बैठ कर गान करता है। होता निष्केवल्य का शंसन दोला में बैठकर करता है। अध्वर्यु तख्त पर बैठ कर प्रतिगर बोलता है। अन्य ऋत्विज् भी घास के आसनों पर बैठते हैं। एक ब्राह्मण सत्रियों की प्रशसा और एक शूद्र उनकी निन्दा करता है। एक आर्य (देवों का प्रतीक) और एक शूद्र (असुरों का प्रतीक) एक सफेद गोल चर्म (सूर्य का प्रतीक) के लिए स्पर्धा करते हैं, जिस में विजय आर्य की होती है। पुंश्चली एवं ब्रह्मचारी परस्पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप करते हैं। मार्जालीय के दक्षिण में परदे के भीतर दो अपरिचित स्त्री-पुरुष मैथुन (सृष्टि का प्रतीक) करते हैं। भूमि-दुन्दुभि तथा अन्य वाद्यों का वादन होता है। राजपुरुष धनुष ले कर रथ में बैठ कर देव-यजन की परिक्रमा करते हैं। सत्रियों की पत्नियां कण्ठ तथा वाद्य संगीत करती हैं। दास कन्याए जल के घड़े ले कर नृत्य करती हैं। प्रतीत होता है, कोई होली सदृश लौकिक उत्सव वैदिक कृत्यों के साथ जुड़ गया है।

गवामयन

श्रौतसूत्रों में एक वर्ष से ले कर हजारों वर्ष में सम्पन्न होनेवाले सत्रों का वर्णन मिलता है। अङ्गिरसामयन, कुण्डपायिनामयन, सर्प सत्र आदि एक वर्ष में सम्पन्न होते हैं। तापश्चित सत्र (तीन वर्ष), महातापश्चित (पांच वर्ष), अग्निसत्र (एक हजार सुत्या), त्रिसंवत्सर सत्र, प्रजापति सत्र (१२ संवत्सर सुत्या), शाक्त्यानामयन (३६ वर्ष सुत्या), साध्यानामयन (१०० वर्ष सुत्या), विश्वसृजामयन (१००० वर्ष सुत्या), सारस्वत सत्र (सरस्वती-समुद्र के संगम पर) तथा तुरायण सत्र आदि का उल्लेख ग्रन्थों में मिलता है। प्राचीन काल में महासत्रों या दीर्घसत्रों का अनुष्ठान वस्तुत:

होता था या नहीं, सन्दिग्ध है। पतञ्जलि (महाभाष्य पस्पशाह्निक) ने तो इन्हें अप्रचलित ही कहा है। मीमांसक (पूर्व मीमांसा ६।७।३१-४०) संवत्सर शब्द को दिन का पर्यायवाची मानते हैं।

सांवत्सरिक सत्रों की प्रकृति गवामयन है। गवामयन शब्द में गवाम् का अर्थ है—गायों=सूर्यरश्मियों का अयन=गमन। अयन का अर्थ है—एक स्थान से चल कर (परिभ्रमण कर के) पुनः उसी स्थान तक जाना। अभिप्राय हुआ—सूर्य (वस्तुतः पृथिवी) की वार्षिक गति। सूर्य-रश्मियों की वर्ष भर की स्थितियों का प्रदर्शन इस सत्र के अनुष्ठानों से किया जाता है। माघ कृष्ण अष्टमी, फाल्गुन शुक्ल एकादशी, फाल्गुन पूर्णमासी या चैत्र-पूर्णमासी को इस याग का आरम्भ किया जाता है। इस ऋतु में बारह दीक्षा, बारह उपसद् तथा ३६१ सुत्या होती हैं। इस प्रकार यह ऋतु ३८५ दिन में सम्पन्न होना है। सुत्यादिवसों के तीन विभाग हैं—पूर्व पक्ष, मध्य दिवस (विषुवान्) तथा उत्तर पक्ष। पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष में १८०-१८० सुत्या होती हैं और दोनों पक्षों के मध्य में एक विषुवान् दिवस होता है।

गवामयन के सुत्यादिवसों की कल्पना इस प्रकार है—अग्नीषोमीय पशु अनुष्ठान के पश्चात् प्रायणीय के रूप में प्रथम दिन अतिरात्र संस्था का अनुष्ठान होता है। दूसरे दिन अग्निष्टोम या उक्थ्य संस्था होती है। इस दिवस को चतुर्विंश कहा जाता है क्योंकि इस दिन सभी स्तोत्र चतुर्विंश स्तोम से गाये जाते हैं। इन दो दिनों की गणना प्रथम मास में नहीं की जाती, किन्तु छठे मास में की जाती है। इसके पश्चात् चार अभिप्लव षडह तथा एक पृष्ठ्य षडह का अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रकार प्रथम सावन (सवन सम्बन्धी) मास पूर्ण होता है। इसी (अर्थात् ४ अभिप्लव षडह एवं एक पृष्ठ्य षडह) क्रम से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम मास पूण होता है। छठे मास में पहले तीन अभिप्लव षडह, तदनन्तर एक पृष्ठ्य षडह, फिर अभिजित् नामक एक अग्निष्टोम होता है। अभिजित् की प्रकल्पना इस प्रकार है—त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश—इन छह स्तोमों को तीन-तीन स्तोमों के चार समूहों (प्रणयों) में विभक्त कर लिया जाता है। बारह स्तोत्रों के भी चार समूह बना कर, क्रम से स्तोमों के त्रिकों को स्तोत्रों के त्रिकों से सम्बद्ध कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रथम समूह (प्रणय) का प्रथम स्तोम दूसरे समूह में छूट जाता है। जैसे—त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश। पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश इत्यादि। उस के बाद तीन दिन स्वरसाम होते हैं। 'यज्ञा यज्ञा' (साम० २।१।१।२०) योनि ऋक् पर गाये जानेवाले चार सामों की संज्ञा 'स्वर' है। अग्निष्टोम या उक्थ्य संस्था इन तीन दिनों में की जाती हैं, जिन में स्वरसामों का प्रयोग होता है, अतः दिनों का नाम भी स्वरसाम है। स्वरसामों में सब स्तोत्र पञ्चदश स्तोम से गाये जाते हैं। इस प्रकार छठे मास के २८ दिनों में पूर्व दो दिवस (प्रायणीय-चतुर्विंश) जोड़ कर एक मास हो जाता है और तीस-तीस दिवस के छह मास पूर्ण होते हैं। यह पूर्व पक्ष हुआ।

पूर्व पक्ष के समाप्त होने पर विषुवान् नामक दिवस होता है। सत्र में यह सब से महत्त्वपूर्ण दिवस माना जाता है। इसको पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष का मध्य समझा जाता है। इस की गणना मासों वा संवत्सर में नहीं की जाती। इस दिन अग्निष्टोम संस्था का अनुष्ठान होता है और सभी

स्तोत्रों का गान एकविंश स्तोम से किया जाता है। सूर्य के लिए अतिग्राह्य ग्रह का ग्रहण तथा पाशुक विधि भी इस दिन की विशेषता है।

विषुवान् दिवस के पश्चात् उत्तर पक्ष का आरम्भ होता है, जो पूर्व पक्ष से विपरीत क्रम के अनुसार सम्पन्न होता है। तीन दिन विपरीत क्रम (प्रथम के स्थान में तृतीय तथा तृतीय के स्थान में प्रथम) से स्वर साम होते हैं, जिन में अग्निष्टोम संस्था का अनुष्ठान होता है। उन के पश्चात् एक दिन विश्वजित् नामक अग्निष्टोम होता है। विश्वजित् की प्रकल्पना इस प्रकार है—त्रिवृत्-पञ्चदश सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश—इन छह स्तोमों को चार-चार के तीन समूहों (प्रणयों) में विभक्त किया जाता है। इसी प्रकार बारह स्तोत्रों को भी तीन समूहों में विभक्त करके, स्तोम-समूहों (प्रणयों) को क्रम से स्तोत्र-समूहों से सम्बद्ध कर दिया जाता है। जैसे—त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश। पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव आदि। तदनन्तर त्रयस्त्रिंश से आरम्भ करके विपरीत क्रम से (अर्थात् त्रयस्त्रिंश-त्रिणव-एकविंश-सप्तदश-पञ्चदश-त्रिवृत्) एक पृष्ठ्य षडह और इसके बाद तीन अभिप्लव षडह का अनुष्ठान होता है। इस प्रकार अट्ठाईस दिन पूर्ण होते हैं। सत्र के अन्तिम दिन से पूर्व एक महाव्रत तथा अन्तिम दिन उदयनीय किये जाते हैं। इन दोनों दिनों की गणना इस सप्तम मास में की जाती है। इस प्रकार तीस दिन का सातवां मास पूर्ण होता है। आठवें मास में विपरीत क्रम (त्रयस्त्रिंश आदि) से एक पृष्ठ्य षडह और चार अभिप्लव षडह किये जाते हैं। इसी प्रकार नवें, दसवें तथा ग्यारहवें मास सम्पन्न होते हैं। बारहवें मास में पहले तीन अभिप्लव षडह, तदनन्तर गोष्टोम उक्थ्यसंस्था, उसके बाद आयुष्टोम उक्थ्य संस्था और तत्पश्चात् द्वादशाह के (प्रायणीय-उदयनीय दिवसों को छोड़ कर) दशाह (पृष्ठ्य षडह, तीन छन्दोम तथा अविवाक्य) का अनुष्ठान किया जाता है। इसके पश्चात् महाव्रत अग्निष्टोम संस्था का अनुष्ठान होता है, इस विषय में पूर्व बताया जा चुका है। अन्त में उदयनीय के रूप में एक दिवस अतिरात्र संस्था का अनुष्ठान होता है। अतिरात्र की समाप्ति अर्थात् अवभृथ के पश्चात् सब दीक्षित सत्री अग्नियों का विभाग करके अपनी-अपनी अग्नियों से पृष्ठशमनीय नामक अग्निष्टोम पृथक्-पृथक् करते हैं। पृष्ठ शमनीय का तात्पर्य है—पृष्ठों (रथन्तर आदि सामों) के गान से उत्पन्न श्रम को शान्त करनेवाला।

गवामयन के दिवसों की संक्षिप्त सारणी आगे प्रदर्शित की जाती है—

पूर्वपक्ष

प्रथम दिन—प्रायणीय (अतिरात्र)	१ दिन	१८० दिन
द्वितीय दिन—चतुर्विंश (उक्थ्य)	१ ,,	
प्रथम मास से पञ्चम मास तक प्रति मास-४ अभिप्लव षडह+ १ पृष्ठ्य षडह	१५० ,,	
षष्ठ मास—तीन अभिप्लव षडह	१८ ,,	
एक पृष्ठ्य षडह	६ ,,	
एक अभिजित् (अग्निष्टोम)	१ ,,	
तीन स्वर साम (आरम्भिक दो दिन जोड़ कर मास पूर्ण)	३ ,,	

मध्य दिवस		
विषुवान्		१ दिन
उत्तर पक्ष		
सप्तम मास—तीन स्वरसाम	३ दिन	
एक विश्वजित् (अग्निष्टोम)	१ ,,	
एक पृष्ठ्य षडह	६ ,,	
तीन अभिप्लव षडह(अन्तिम दो दिन जोड़ कर मास पूर्ण)	१८ ,,	१८० दिन
आठवें-ग्यारहवें मास तक प्रतिमास-१ पृष्ठ्य षडह+४ अभिप्लव षडह	१२० ,,	
बारहवां मास—तीन अभिप्लव षडह+१ गोष्टोम+१ आयुष्टोम+ १ द्वादशाह के अन्तर्गत दशाह	३० ,,	
अन्तिम से पूर्व दिवस—महाव्रत (अग्निष्टोम)	१ ,,	
अन्तिम दिन—उदयनीय (अतिरात्र)	१ ,,	
	पूर्ण योग	३६१

अन्य (आदित्यानामयन, अङ्गिरसामयन आदि) सांवत्सरिक सत्रों में भी इसी प्रकार दिवसों की विभिन्न प्रकल्पनाएं की जाती हैं। कुण्डपायिनामयन की विशेषता है—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय को क्रमशः एक एक मास कर के, पांच मास तक पृष्ठ्यस्तोमों का क्रमशः अनुष्ठान होता है और बारहवें मास में तीन अभिप्लव षडह, १ दशरात्र, महाव्रत तथा अतिरात्र किया जाता है। तापश्चित सत्र में एक वर्ष दीक्षा, एक वर्ष उपसद् तथा एक वर्ष सुत्या होती है। यहां सत्रों का स्वरूप प्रकट करने के लिए अत्यन्त संक्षिप्त विवरण दिया गया है, अतः विशेष ज्ञान के इच्छुक पाठकों को श्रौतग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये।

इस प्रकार अहीन और सत्रों का वर्णन समाप्त हुआ।

अन्य प्रसिद्ध याग

१. राजसूय

राजसूय क्रतु अत्यन्त प्रसिद्ध यागों में गिना जाता है। 'राजसूय' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार दर्शाई जाती है—'राज्ञा सोतव्यः, राजा वा इह सूयते'[1] अर्थात् राजा के द्वारा अभिषव के योग्य अथवा राजा (सोम) निचोड़ा जाता है इस में, अतः यह क्रतु राजसूय पुकारा जाता है। अभिषिक्त राजा ही इस याग के अनुष्ठान का अधिकारी बताया गया है।[2] युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का विवरण महाभारत (सभापर्व अ० ३५-३७) में उपलब्ध होता है। पुराणों और शिलालेखों में भी इस यज्ञ के राजाओं द्वारा अनुष्ठित किये जाने का उल्लेख है। श्रौतग्रन्थों में अनेक विधियों के अनुष्ठान में मतभेद है। आगे मुख्यतः कात्यायनश्रौतसूत्र (अ० १५) के आधार पर राजसूय का वर्णन किया जायेगा। राजसूय में अनुमति आदि सैंकड़ों इष्टियों तथा दर्विहोमों, मल्हा आदि पशुबन्धों और पवित्र आदि सोमयागों का अनुष्ठान किया जाता है। इन इष्टियों, पशु एवं सोमयागों के समुदाय का नाम राजसूय है, अतः इन का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं है—सब का समप्रधान भाव है। लगभग ढाई वर्ष के सुदीर्घ काल में यह क्रतु सम्पन्न होता है।

१. १. **पवित्र सोमयाग**—राजसूय का आरम्भ (प्रायणीय) पवित्र नामक सोमयाग से होता है, जो अग्निष्टोमसंस्थाक होता है। इस में चार दीक्षा, तीन उपसद् तथा एक सुत्यादिवस होता है (आपस्तम्ब आदि में तीन दीक्षादिवस कहे गये हैं)। फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् को प्रथम दीक्षा आरम्भ करके फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को पवित्र (अग्निष्टोम) की समाप्ति होती है। इसकी दक्षिणा एक हजार गायें हैं। राजसूय में यजमान क्षत्रिय होता है, किन्तु सोमपान का अधिकारी केवल ब्राह्मण है, अतः सोमक्रय के समय न्यग्रोधस्तिभि (वटवृक्ष के फलसहित अङ्कुर अथवा जटाओं के अग्र भाग) का क्रय करके तथा उनका रस निकाल कर, उसमें दही मिलाकर, चमसोन्नयन के समय रस को चमस में भर कर चमसाध्वर्यु इसी फलचमस का होम करता है और यजमान शेषभक्षण करता है। फलचमस भक्षण केवल यजमान ही करता है, अन्य ऋत्विज् सोमपान करते हैं। अवभृथ के पश्चात् तीन अनूबन्ध्याओं का अनुष्ठान किया जाता है। पवित्र के अन्त में पूर्णाहुति यजमान के घर में फाल्गुन शुक्ल नवमी को होती है।

१. २. **पांच इष्टियां**—(एक) फाल्गुन शुक्ल दशमी को अनुमति-इष्टि का अनुष्ठान होता है। इसकी देवता अनुमति तथा द्रव्य अष्टाकपाल पुरोडाश है। इस इष्टि में विशेष कर्त्तव्य यह है—तण्डुलपेषण के समय हवि का जो भाग शम्या के पश्चिम में कृष्णाजिन पर गिरता है, उसे खैर के स्रुवे में रखते हैं। ब्रह्मा-यजमान-अध्वर्यु उस हवियुक्त स्रुवे और दक्षिणाग्नि से अङ्गार को लेकर दक्षिण की ओर जाते हैं। स्वयं फटी हुई अथवा ऊसर भूमि में अङ्गार रखकर, अध्वर्यु उस अङ्गार

---

१. द्र०—काशिका ३।१।१४४।। पू० मी० ४।४।१ शाबरभाष्य।

२. का० श्रौ० १५।१।१।। आप० श्रौ० १८।८।१।। लाट्या० ६।१।१।।

पर निर्ऋति देवता के लिये स्रुवे की हवि का होम करता है। बिना पीछे देखे तीनों व्यक्ति लौट आते हैं और इष्टि के अगले कर्म सम्पन्न करते हैं। इस इष्टि की दक्षिणा वस्त्र है। (दो) एकादशी को अग्नि-विष्णु देवताओं के लिए एकादशकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है; इस इष्टि की दक्षिणा सोना है। (तीन) द्वादशी को अग्नि-सोम के लिए एकादशकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है; इस इष्टि की दक्षिणा पुनरुत्सृष्ट (भारवहन में असमर्थ होने के कारण परित्यक्त) बैल है। (चार) त्रयोदशी को इन्द्राग्नि देवताओं के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है, इसकी दक्षिणा सांड है। (पांच) चतुर्दशी को आग्रयणेष्टि की जाती है। इसकी विधि नित्य आग्रयण (नवसस्येष्टि) के समान है। इस इष्टि में ऐन्द्राग्न पुरोडाश, दूध में पकाया हुआ वैश्वदेव चरु तथा द्यावापृथिवीय एककपाल पुरोडाश होते हैं और बछड़ा दक्षिणा होती है। बौधायन आदि ने आठ इष्टियाँ बताई हैं।

१. ३. **चातुर्मास्य पर्व**—फाल्गुनी पूर्णमासी को वैश्वदेव चातुर्मास्य पर्व का अनुष्ठान किया जाता है। राजसूयिक चातुर्मास्य नित्यचातुर्मास्य से भिन्न है, यद्यपि अनुष्ठान विधि समान ही है। अतः नित्य चातुर्मास्य करनेवाला यजमान पहले राजसूयिक चातुर्मास्य करता है, उसके पश्चात् नित्य चातुर्मास्य भी करता है। एक वर्ष तक चातुर्मास्य का अनुष्ठान किया जाता है, अर्थात् फाल्गुन पूर्णिमा को वैश्वदेव, अषाढ पूर्णिमा को वरुणप्रघास और कार्त्तिक पूर्णिमा को साकमेध, उसके पश्चात् फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् को शुनासीरीय किया जाता है।

१. ४. **दर्शपूर्णमास इष्टियां**—ऊपर कहे गये वर्ष भर चलनेवाले चातुर्मास्यों के शेष दिनों में पूर्णमास-दर्श इष्टियां चलती रहती हैं, जिनका स्वरूप नित्य दर्शपूर्णमास के समान ही है। इनका क्रम इस प्रकार है—फाल्गुन पूर्णमासी को वैश्वदेव पर्व का अनुष्ठान कर के अगले दिन प्रतिपद् से अमा तक कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन पूर्णमास इष्टि की जाती है और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन दर्श इष्टि की जाती है। इन में पिण्डपितृयज्ञ को छोड़ दिया जाता है। प्रतिपद् को पहले राजसूयिक, पश्चात् नित्य दर्शपूर्णमास इष्टि की जाती है। अगले वर्ष में फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् को पवित्र दीक्षा के स्थान में राजसूयिक शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान होता है।

१. ५. **पञ्चवातीय होम**—आहवनीय अग्नि को खर में ही पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर-मध्य भागों में विभक्त करके स्रुव से **'अग्निनेत्रेभ्यः'** (मा० सं० ९।३५) मन्त्रों से पृथक्-पृथक् पांच घृत-आहुति दी जाती हैं। फिर पांचों भागों को एकत्र कर के **'ये देवा'** (मा० सं० ९।३६) मन्त्रों से पांच आहुति दी जाती हैं। यह पञ्चवातीय होम है, इस की दक्षिणा तीन घोड़ों से युक्त रथ है।

१. ६. **इन्द्रतुरीय कर्म**—पञ्चवातीय के पश्चात् इन्द्रतुरीय (इसमें इन्द्रसम्बन्धी कर्म चौथा है) कर्म किया जाता है। इस कर्म में इन्द्र को अष्टकपाल पुरोडाश, वरुण को जौ का चरु, रुद्र क गवेधुक-चरु और इन्द्र को वहिनी (गाड़ी में जुड़ने वाली गौ) के दही की आहुति दी जाती है और इस कर्म की दक्षिणा वहिनी है।

१. ७. अपामार्ग होम—तदनन्तर अपामार्ग होम किया जाता है। अध्वर्यु-यजमान-ब्रह्मा ढाक की लकड़ी के स्रुवे में अपामार्ग के दानों को लेकर, दक्षिणाग्नि से अङ्गार लेकर, त्र्यम्बक (साकमेध के अन्तर्गत) इष्टि के समान दक्षिण या पूर्व दिशा की ओर जाकर, अङ्गार पर अपामार्ग के दानों की आहुति देकर, स्रुवे को आहुति की दिशा (दक्षिण या पूर्व) में फेंक कर लौट आते हैं।

१. ८. त्रिषंयुक्त-द्विहविष्क इष्टियां—इसके पश्चात् त्रिषंयुक्त (तीन तीन हवियों से युक्त) कर्म होता है। पहले दिन आग्नावैष्णव-ऐन्द्रावैष्णव-वैष्णव हवि तथा वामन गौ दक्षिणा होती है, दूसरे दिन आग्नापौष्ण-ऐन्द्रापौष्ण-पौष्ण हवि तथा श्याम गौ दक्षिणा होती है और तीसरे दिन अग्नीषोमीय-ऐन्द्रसौम-सौम्य हवि तथा धूसर गौ दक्षिणा होती है। इनमें प्रथम एकादशकपाल पुरोडाश और अन्य चरु होते हैं। उसके पश्चात् वैश्वानर द्वादशकपाल तथा वारुण चरु का अनुष्ठान एक साथ या पृथक्-पृथक् किया जाता है। इसे द्विहविष्क इष्टि कहते हैं।

१. ९. रत्न हवियां—फाल्गुन शुक्ल तृतीया अथवा चतुर्थी से प्रतिदिन एक गृह में एक रत्न-हवि नामक बारह इष्टियां आरम्भ होती हैं। सेनानी, पुरोहित, यजमान, महारानी, अश्वसारथि, ग्रामनायक, मन्त्री या दूत, रथ जोतनेवाले, भागदोग्धा (भोजन परोसनेवाला), यजमान, दूत, पुत्ररहित स्त्री—इन बारह के घरों में क्रमशः अनीकवान् अग्नि को द्वादशकपाल पुरोडाश, बृहस्पति को चरु, इन्द्र को एकादशकपाल पुरोडाश, अदिति को चरु, वरुण को जौ का चरु, मरुतों को सप्त-कपाल पुरोडाश, सविता को अष्टाकपाल पुरोडाश, अश्वियों को द्विकपाल पुरोडाश, पूषा को चरु, रुद्र को गवेधुक चरु, आज्य, निर्ऋति को चरु—इन बारह देवताओं को यथोक्त हवियों की आहुति स्वाहा या वषट् कर के दी जाती हैं। इन इष्टियों की दक्षिणा पृथक्-पृथक् बताई गई है।

१. १०. मैत्राबार्हस्पत्य इष्टियां—बारह रत्नहवियों के पश्चात् सोम-रुद्र देवता के लिए सफेद बछड़े वाली गौ के दूध में चरु पकाकर आहुति दी जाती है और इस इष्टि की दक्षिणा वही गौ होती है। इस के पश्चात् मित्र-बृहस्पति देवताओं को चरु की आहुति दी जाती है। चरुनिर्माण की विधि यह है—बार्हस्पत्य चरु को पकाने के लिए जल स्थाली में भर कर अग्नि पर रखते हैं और स्वयं टूटी हुई वट की शाखा से निर्मित गहरे पात्र से ढक देते हैं। चमड़े की मशक में दही भर कर, उसे रथ में रख कर रथ को वेग से दौड़ाने पर दही से मक्खन पृथक् होने पर मक्खन को ऊपर कहे वट के पात्र में डाल कर, उसमें मित्र देवता के लिए बड़े-बड़े तण्डुल डाल कर ऊष्मा (भाप) से मैत्र-चरु पकाया जाता है। छोटे-छोटे तण्डुलों को बृहस्पति देवता के लिए पूर्वोक्त स्थाली में डाल कर चरु पकाया जाता है। दोनों चरुओं को एक साथ मिला कर आहुति दी जाती है। इस इष्टि की दक्षिणा गौ है।

१ ११. अभिषेचनीय सोमयाग—फाल्गुन कृष्ण पक्ष में कोई अनुष्ठान नहीं होता। चैत्र शुक्ल प्रतिपद को अभिषेचनीय तथा दशपेय नामक सोमयागों का आरम्भ होता है। इन के लिए दो देवयजनों (यज्ञशालाओं) का निर्माण किया जाता है, उत्तरी देवयजन में दशपेय और दक्षिणी देव-यजन में अभिषेचनीय का अनुष्ठान होता है। ये दोनों याग पांच दिन में सम्पन्न होते हैं—एक दीक्षा,

तीन उपसद् तथा एक सुत्या होती है। दोनों के लिए सोम (तथा न्यग्रोधस्तिभि) का क्रय एक साथ किया जाता है, उसमें से आधा भाग दशपेय के लिए ब्रह्मा के घर में रखा जाता है। अभिषेचनीय याग उक्थ्य-संस्थाक है और इसकी दक्षिणा एक लाख गौएं हैं। इसकी विशेष विधियां आगे लिखी जाती हैं—

१. ११. १. **देवसू हवियां**—अग्नीषोमीय पशु पुरोडाश के पश्चात् आठ देवसू हवियों का अनुष्ठान किया जाता है। वे हवियां हैं—सत्यप्रसव सविता के लिए प्लाशुक (काटने पर पुनः प्ररूढ) व्रीहि का अष्टाकपाल पुरोडाश, गृहपति अग्नि के लिए आशु (तीन सप्ताह में पकनेवाले) व्रीहि का अष्टाकपाल पुरोडाश, सोम वनस्पति के लिए श्यामाक का चरु, ज्येष्ठ इन्द्र के लिए लाल शालि का चरु, पशुपति रुद्र के लिये गवेधुक-चरु, सत्य मित्र के लिए विना जुती भूमि में उत्पन्न व्रीहि का चरु, धर्मपति वरुण के लिए जौ का चरु। देवसू हवियों का अनुष्ठान भागपरिहरण तक किया जाता है।

१. ११. २. **अभिषेक**—देवसूहवियों के पश्चात् सत्रह प्रकार के जलों को पृथक् पृथक् उदुम्बर के पात्रों में लाया जाता है। सत्रह प्रकार के जल हैं—सरस्वती नदी का जल, अनुलोम बहता हुआ जल, प्रतिलोम बहता हुआ जल, मार्ग बदल कर पुनः उसी नदी में मिलनेवाली धारा का जल, समुद्र की लहरों का जल, लकड़ी के आघात से ऊपर उठा समुद्र-जल, नदी के भंवर का जल, स्थावर जल, वर्षा जल, तालाब, कुएं, ओस का जल, मधु, गौ के उल्ब का जल, दूध, घी, दही। इन सब जलों को मिला कर एक पात्र में मैत्रावरुणधिष्ण्य के पूर्व में रखा जाता है। सुत्यादिवस को मरुत्वतीयग्रह ग्रहण के बाद अध्वर्यु अभिषेक-जल से पूर्व की ओर व्याघ्रचर्म बिछा कर, उस पर पश्चिम भाग में सीसा रख कर, पार्थहोम (मा० सं० १०।५) की छह आहुति देकर, यजमान को तार्प्य (रेशमी वस्त्र) पहिना कर, धनुष-बाण देकर, उस (यजमान) का हाथ पकड़ कर, सीसे पर पैर रखवा कर तथा सीसे को पैर से पीछे फिकवा कर, व्याघ्रचर्म पर चढ़ाता है और उसके पैरों के नीचे तथा सिर पर सोना रखता है। इस के पश्चात् पुरोहित या अध्वर्यु उक्त जल से यजमान का अभिषेक चारों दिशाओं से करता है और पार्थहोम (मा० सं० १०।५) की शेष छह आहुति देता है।

१. ११. ३. **शुनःशेप कथा**—अभिषेक के पश्चात् होता तथा अध्वर्यु सुवर्ण-आसन पर बैठते हैं। होता शुनःशेप की कथा (ऐ० ब्रा० ७।१३) का शंसन करता है और अध्वर्यु ऋचा का 'ओ३म्' से तथा गाथा का 'तथा' से प्रतिगर करता है। इसकी दक्षिणा दोनों को सौ-सौ गौएं तथा सुवर्णमय आसन हैं। शुनःशेप कथा द्यूत-क्रीड़ा के पश्चात् भी हो सकती है।

१. ११. ४. **रथारोहण**—इसके पश्चात् यजमान वाजपेय के समान रथ में बैठ कर, आहवनीय के उत्तर में स्थित गौओं के बीच रथ खड़ा करके, गो-जय का नाटक करके रथ विमोचनीय होम के पश्चात् रथ से उतर जाता है।

१. ११. ५. **द्यूत क्रीडा**—मैत्रावरुण-धिष्ण्य से पूर्व में वस्त्राच्छादित आसन्दी रखी जाती है, उस पर यजमान को बैठाया जाता है। यजमान के हाथ में पांच अक्ष रख कर अध्वर्यु आदि ग्रामणी के भाई की गौ को डण्डों से धीरे-धीरे पीटते हैं। द्यूत-मण्डप का निर्माण किया जाता है। राजा

(यजमान), राजा का भाई, सूत, ग्रामणी तथा ग्रामणी का भाई द्यूत-क्रीडा में भाग लेते हैं। द्यूत-क्रीडा के पश्चात् प्रकृत कर्म चल पड़ता है। पयस्या से स्विष्टकृत् याग इडा तक किया जाता है। उस के पश्चात् महेन्द्रग्रहग्रहणादि कर्म होते हैं।

१. ११. ६. **अनुबन्ध्या-त्रैधातवी इष्टि**—अन्य कर्म प्रकृतिवत् ही होते हैं। तीन अनुबन्ध्याओं की इष्टि के पश्चात् उदवसानीय के स्थान में त्रैधातवी इष्टि की जाती है। इस इष्टि की देवता इन्द्र-विष्णु और द्रव्य द्वादशकपाल पुरोडाश है। पुरोडाश व्रीहि-यव से तैयार किया जाता है, जिस में जौ तृतीय भाग होता है और उसे मध्य में रखा जाता है। उसका प्रकार यह है—निर्वाप के समय पहली मुट्ठी में व्रीहि, दूसरी मुट्ठी में एक भाग व्रीहि तथा दो भाग यव, तृतीय मुट्ठी में दो भाग यव तथा एक भाग व्रीहि, चतुर्थ मुट्ठी में व्रीहि लिये जाते हैं। अधिश्रयण में भी यव मध्य में होते हैं–व्रीहिपिष्ट के दो पिण्ड बना कर, एक को पृथु करके, यवमय पिण्ड को मध्य में रख कर, पिण्ड बना कर, फिर व्रीहिपिष्ट के दूसरे पिण्ड को उसके ऊपर रख कर पृथु किया जाता है। अवदान तीनों धातुओं (प्रक्षेपों) से किया जाता है। ब्रह्मा को तीन शतमान (१ शतमान=१०० रत्ती)सोना, होता को तीन दूध देनेवाली गौएं, अध्वर्यु को तीन वस्त्र और अग्नीत् को तीन गायें दक्षिणा दी जाती हैं।

१. १२. **संसृपा हवियां**—अभिषेचनीय याग के पश्चात् दस संसृपा हवियों का अनुष्ठान होता है। किन्हीं के मत से इन हवियों का अनुष्ठान एक दिन (चैत्र शुक्ल षष्ठी को) में ही होता है, किन्तु अन्यों के अनुसार सात दिन (चैत्र शुक्ल षष्ठी से प्रतिदिन एक-एक, द्वादशी को चार) में यह विधि सम्पन्न होती है। इन के देवता तथा द्रव्य हैं—सविता के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश, सरस्वती के लिए चरु, त्वष्टा के लिए दशकपाल पुरोडाश, पूषा के लिए चरु, इन्द्र के लिए एकादशकपाल पुरोडाश, बृहस्पति के लिए चरु, वरुण के लिए यवमय चरु, अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश, सोम के लिए चरु, विष्णु के लिए त्रिकपाल पुरोडाश या चरु। इन हवियों के अनुष्ठान का प्रकार यह है—अभिषेचनीयशाला के उत्तर में समीप ही अग्नि स्थापित करके प्रथम हवि की आहुति दी जाती है। पुन उस स्थान से थोड़ा उत्तर की ओर अग्नि स्थापित कर के दूसरी हवि की आहुति दी जाती है। इसी प्रकार उत्तर की ओर सरकते हुए दसवीं हवि दशपेयशाला के अन्दर दी जाती है। संसृपा हवियों की दक्षिणा कमल-पुष्प (जल में उत्पन्न अथवा स्वर्णमय) हैं।

१. १३. **दशपेय सोमयाग**—कमलपुष्पों की माला यजमान के गले में पहनाई जाती है, यही दीक्षा समझी जाती है। सप्तमी (दूसरे मत से द्वादशी) को ब्रह्मा के घर से सोम को लाकर सोमासन्दी का स्थापन आदि प्राकृत कार्य किये जाते हैं। सुत्या में विशेषता यह है कि प्राकृत दस चमसों के साथ ही अन्य दस चमसों का सादन-पूरण किया जाता है और होम के बाद एक-एक चमस का पान दस-दस ब्राह्मण करते हैं। इसलिए दस पीढ़ियों तक अविच्छिन्नसोमपा कुलों के सौ ब्राह्मण भी सदोमण्डप में उपस्थित रहते हैं। दस-दस ब्राह्मणों द्वारा प्रत्येक चमस का पान किये जाने के कारण इस क्रतु का नाम दशपेय है। दशपेय याग के ऋत्विजों की दक्षिणाएं पृथक्-पृथक् बताई गई हैं। इस याग के पश्चात् एक वर्ष तक यजमान केशवपन नहीं कराता और भूमि पर नंगे पैरों नहीं बैठता।

१. १४. **पञ्चबिल इष्टि**— चैत्र शुक्ल एकादशी या पूर्णमासी के पश्चात् चैत्र की अमावस्या तक कोई कर्म नहीं है। वैशाख के शुक्ल पक्ष या पूर्णमासी को पञ्चबिल या अवेष्टि नामक इष्टि की जाती है। इस में पांच देवताओं को हवियां दी जाती हैं—अग्नि को अष्टाकपाल पुरोडाश, इन्द्र को एकादशकपाल पुरोडाश (या सोम को चरु), विश्वेदेवाः को चरु, मित्रावरुण को पयस्या और बृहस्पति को चरु। इन हवियों को पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर-मध्य क्रम से रखा जाता है और क्रम से प्रत्येक की आहुति दे कर संस्राव का आसेचन मध्य में रखे बार्हस्पत्य चरु में किया जाता है। दक्षिणा में अग्नीत् को सोना, ब्रह्मा को ऋषभ, होता को चितकबरा बैल तथा अध्वर्यु को वन्ध्या या अप्रसूता गौ दी जाती है।

१. १५. **प्रयुग् हवियां**—पञ्चबिल इष्टि के समाप्त होने पर प्रयुग् नामक बारह हवियों का अनुष्ठान किया जाता है। इसके तीन प्रकार हैं—(१) पूर्णमासी को पञ्चबिल इष्टि के पश्चात् प्रथम प्रयुग् हवि, ज्येष्ठ की पूर्णमासी को दूसरी, अषाढ की पूर्णमासी को तीसरी—इसी प्रकार मासान्तर पर बारह हवियों की आहुति दी जाती हैं। (२) आहवनीय के समीप खड़ा होकर अध्वर्यु पूर्व की ओर शम्या फैंकता है। शम्या जिस स्थान पर गिरती है, वहां गार्हपत्य और उस से पूर्व आहवनीय अग्निस्थानों का निर्माण करके पहली प्रयुग् हवि की आहुति दी जाती है। पुनः इस आहवनीय के समीप से अध्वर्यु पूर्व की ओर शम्या फैंकता है, शम्या जहां गिरती है, उस स्थान पर गार्हपत्य तथा उस से पूर्व आहवनीय स्थापित करके दूसरी प्रयुग् हवि की आहुति देता है। इस प्रकार पूर्व की बढ़ते हुए छह—आग्नेय-सौम्य-सावित्र-बार्हस्पत्य-त्वाष्ट्र-वैश्वानर पुरोडाश की आहुति दी जाती हैं। शम्या-प्रास के अनुसार छह आहुतिओं के सम्पन्न होने के पश्चात् पुनः प्रत्यावृत्ति (वापिस लौटना) की जाती है—गार्हपत्य के समीप खड़ा होकर अध्वर्यु शम्या को पश्चिम की ओर फैंकता है। वह जहां गिरती है, वही आहवनीय स्थान है और यथोक्त गार्हपत्य बनाया जाता है। इस आहवनीय में सातवीं प्रयुग् आहुति दी जाती है। इसी प्रकार शेष पांच हवियों की आहुति देते हुए पुनः शाला में आ जाते हैं। प्रत्यावृत छह प्रयुग् हवियां—सारस्वत-पौष्ण-मैत्र-क्षैत्रपत्य-वारुण-आदित्य चरु होते हैं। (३) उपर्युक्त छह-छह के दो वर्ग बना कर प्रातः सायं आहुतियां दी जाती हैं (मासान्तर या शम्याप्रास के अनुसार नहीं)। छह-छह प्रयुग् हवियों की दक्षिणा पृथक्-पृथक् दो-दो बैल या अन्व-हार्य होती है।

१. १६. **पशुबन्ध**—वैशाखी अमावस्या को पृथक्-पृथक् दो पशुयाग किये जाते हैं, जिन की दक्षिणा भी वैसे ही पशु होते हैं। प्रथम पशुबन्ध में अदिति या आदित्य देवता के लिये लाल गर्भिणी गौ का और दूसरे में विश्वदेव या मरुतों के लिए चितकबरी गर्भिणी गौ का आलम्भन किया जाता है।

१. १७. **केशवपनीय सोमयाग**—वैशाखी अमावस्या को आरम्भ कर के बारह दीक्षा तथा तीन उपसदों के पश्चात् ज्येष्ठ की पूर्णमासी को केशवपनीय याग की सुत्या का अनुष्ठान किया जाता है, यह अतिरात्रसंस्थाक याग है। वर्ष भर रखे हुए केशों का वपन (मुण्डन) हो जाता है। इस याग

में स्तोम अवरोहण क्रम गाये जाते हैं अर्थात् प्रातःसवन में सभी स्तोत्र एकविंश स्तोम से, माध्यन्दिन सवन में सप्तदश स्तोम से, तृतीय सवन में रात्रिपर्यायों तक पञ्चदश स्तोम से और सन्धिस्तोत्र त्रिवृत् स्तोम से गाया जाता है। अगले चार सोमयाग मास-मास के अन्तर पर होते हैं।

१. १८. **व्युष्टि द्विरात्र**—यह अहीन सोमयाग है, अतः इस में द्वादशाह के समान विधियां होती हैं। इस का आरम्भ ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया को होता है। सोलह दीक्षा और बारह उपसदों के बाद आषाढ पूर्णिमा को पहली सुत्या तथा प्रतिपद् को दूसरी सुत्या होती है। अहीनों के समान अंशु-अदाभ्य ग्रह, तीन अनुबन्ध्या, त्रैधातवी तथा सहस्र दक्षिणा आदि धर्म होते हैं। इसकी संस्थाएं अग्निष्टोम तथा अतिरात्र हैं।

१. १९. **क्षत्रधृति**—श्रावण पूर्णमासी को क्षत्रधृति नामक सोमयाग का अनुष्ठान किया जाता है, जिस की संस्था अग्निष्टोम है। यह एक मास में सम्पन्न होता है।

१. २० **त्रिष्टोम-ज्योतिष्टोम**—क्षत्रधृति के आदि तथा अन्त में क्रमशः त्रिष्टोम तथा ज्योतिष्टोम नामक सोमयाग (अग्निष्टोम) किये जाते हैं ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। इन दोनों यागों के समावेश पक्ष में श्रावण की पूर्णमासी को त्रिष्टोम, भादों की पूर्णमासी को क्षत्रधृति और असौज की पूर्णिमा को ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान किया जाता है। ये सभी याग एक-एक मास में सम्पन्न होते हैं, पूर्णमासी सुत्यादिवस बताये गये हैं।

१. २१. **चरक सौत्रामणी**—सब सोमयागों के पश्चात् कार्तिक की पूर्णमासी को चरक सौत्रामणी नामक त्रिपशुक इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। राजसूय के अन्त में त्रैधातवी इष्टि की जाती है।

विभिन्न सूत्रकारों तथा व्याख्याकारों के अनुसार राजसूय में किये जानेवाले कर्मों में कुछ अन्तर है। इष्टियों और यागों के कालों में भी एकरूपता नहीं है, ऊपर साधारण कालों का निर्देश किया गया है।

२. अश्वमेध

अश्वमेध भारत के अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण यागों में गिना जाता है। इसकी महत्ता पुराणादि ग्रन्थों में यहां तक बताई गई है कि सौ अश्वमेधों का अनुष्ठान करनेवाला व्यक्ति देवराज 'इन्द्र' की पदवी प्राप्त कर लेता है। यद्यपि रामायण तथा महाभारत में अश्वमेध का वर्णन मिलता है, तथापि तैत्तिरीय संहिता (४।१२।३) और शतपथ ब्राह्मण (१३।३।३।६) से इस यज्ञ के 'उत्सन्न' कहे जाने के कारण प्रतीत होता है कि इस का प्रचार अत्यल्प ही था। कुछ विद्वानों के अनुसार अथर्ववेद (११।७।७-८) में भी इसे 'उत्सन्न' कहा गया है। ऋग्वेद के मन्त्रों (ऋ० १।१६२-१६३) में इस का साक्षात् निर्देश होने से इस की प्राचीनता में सन्देह नहीं है। वाल्मीकिरामायण (बाल काण्ड अध्याय १३-१४) में अश्वमेध का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। वहां पुत्रेष्टि का प्रसङ्ग

है और इस यज्ञ का विवरण कल्पसूत्र के अनुसार किया गया है. अतः प्रक्षेप प्रतीत होता है। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व के विवरण में इस यज्ञ का सामाजिक पक्ष ही अधिक उभारा गया है, याज्ञिक पक्ष पर अपेक्षित बल नहीं दिया गया है, इस लिए वह अधूरा है। अर्जुन को अश्वरक्षार्थ भेजा गया, किन्तु सैनिकसंख्या का वर्णन नहीं है। यज्ञ के कर्मकाण्डात्मक विवरण से भी वह प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। कुछ असम्भव कथन भी इस के उद्बोधक हैं—जैसे गरुडचिति में सोने की ईंटों का चयन, अश्व की वपा का होम आदि। स्मरणीय है कि आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२०।१८।११) में स्पष्ट रूप से अश्व में वपा का अभाव बताया गया है। अर्वाचीन इतिहास में नवीं शताब्दी में अश्वमेध के अनुष्ठान का वर्णन मिलता है। आठवीं शताब्दी के एक शिलालेख के अनुसार चालुक्यवंशीय पुलकेशी ने इस यज्ञ का अनुष्ठान किया था। एक अन्य शिलालेख के अनुसार आन्ध्रराज ने अश्वमेध सहित अनेक याग किये थे। ईसवीय अठ्ठारहवीं शताब्दी में आमेर के राजा सवाई जयसिंह ने भी अश्वमेध का अनुष्ठान किया था।

अश्वमेध यज्ञ यद्यपि सोमयाग है, तथापि इस में प्रधान सवनीय पशु अश्व है, अतः इसे अश्वमेध कहा जाता है। आगे मुख्यतः कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार इस यज्ञ का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

२. १. **अधिकारी-काल**—इस यज्ञ को करने का अधिकार प्रधानतः सार्वभौम शासक को ही है, साधारण राजाओं, क्षत्रियों, ब्राह्मणों तथा वैश्यों को नहीं। कात्यायन राजसूय के समान साधारण राजा को भी अश्वमेध का अधिकार देता है। इस लिए ग्रन्थों में 'राजयज्ञ' के नाम से भी इस का उल्लेख मिलता है। फाल्गुन शुक्ल अष्टमी या नवमी को इस यज्ञ का आरम्भ किया जाता है। कुछ आचार्य इस का आरम्भ ज्येष्ठ या आषाढ शुक्ल अष्टमी या नवमी को मानते हैं।

२. २. **ऋत्विग् वरण-ब्रह्मौदनपाक**—ऋत्विग् वरण आदि प्रकृतिवत् हो जाने के पश्चात् अध्वर्यु चार पात्रों में चार-चार अंजलि एवं चार-चार मुट्ठी चावल लेकर एक पात्र में पकाता है, जिसे (भात को) ब्रह्मौदन कहते हैं। उस में घृत डाल कर ऋत्विजों को खिलाया जाता है। ऋत्विजों में से प्रत्येक को एक-एक हजार गायें और चार-चार शतमान (चार बार सौ रत्ती सोना) दिया जाता है।

२. ३. **शालाप्रवेश-अग्निहोत्र-पूर्णाहुति-पथिकृदिष्टि**—अध्वर्यु यजमान (राजा) के गले में निष्क (सोने का अलंकार) पहनाता और यजमान पूर्णाहुति के अन्त तक मौन रहता है। इसके पश्चात् अलंकारों से भूषित चारों रानियां अपनी १००-१०० दासियों सहित यजमान (राजा) के सामने लाई जाती हैं—महिषी (महारानी) की दासियां राजपुत्रियां, वावाता (दूसरी रानी) की दासियां क्षत्रियों की पुत्रियां, परिवृक्ता (तीसरी रानी) की दासियां सूत या ग्रामणी की पुत्रियां, पालागली (दूतपुत्री = चौथी रानी) की दासियां आयव्ययाध्यक्ष या दूत की पुत्रियां होती हैं। यजमान पूर्वी द्वार से तथा अनुचरियों सहित पत्नियां दक्षिणी द्वार से यज्ञशाला (प्राग्वंशशाला) में प्रवेश करते हैं। सायङ्काल अग्निहोत्र कर के रात्रि में गार्हपत्य के पश्चिम में राजा-रानियां ब्रह्मचर्यपूर्वक शयन करते हैं। अगले

दिन यजमान प्रातः अग्निहोत्र के पश्चात् पूर्णाहुति होने पर ब्रह्मा को वर देकर अध्वर्यु को गत दिवस पहना हुआ निष्क दे देता है। उसके पश्चात् पथिकृत् इष्टि होती है, जिस में पथिकृत् अग्नि को अष्टाकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है।

२. ४. **यज्ञिय अश्व का बन्धन-अश्वलक्षण-प्रोक्षण-होम**—अध्वर्यु ब्रह्मा से अनुमति लेकर बारह या तेरह अरत्नि (१ अरत्नि=२४ अङ्गुल) लम्बी घृत से चिकनी की हुई रस्सी से अश्व को बांधता है। अश्व के लक्षणों में बताया गया है कि उसका अगला भाग कृष्ण, पिछला भाग सफेद, ललाट पर शकट के आकार का काला पुण्ड्र हो, सहस्र गौओं से खरीदा गया हो, आदि। अश्व को सरोवर के जल में ले जाया जाता है, वहां उसका प्रोक्षण किया जाता है। उसके पश्चात् आयोगव (शूद्र से वेश्या में उत्पन्न पुरुष) द्वारा चार आंखों (दो चिह्न मात्र) वाले कुत्ते को सिध्रक (विशेष वृक्ष) के मूसल से मरवा कर, बेंत की चटाई पर रख कर, जल में अश्व के नीचे तैरा दिया जाता है। अश्व को अग्नि के समीप ला कर अध्वर्यु दस आहुति (मा० सं० २२।६) देता है।

२. ५. **तीन सावित्री इष्टियां-अश्व विसर्जन**—होम के बाद सविता देवता के लिए द्वादश-कपाल पुरोडाश से सावित्री इष्टि की जाती है। इसके पश्चात् ऋत्विजों से भिन्न कोई ब्राह्मण यजमान की प्रशंसा में स्वरचित गाथा को वीणा पर गाता है। इसी प्रकार दूसरी तथा तीसरी सावित्री इष्टि होती है और वीणा पर गाथा गान होता है। इस (तृतीय सावित्री इष्टि) के समाप्त होने पर अध्वर्यु तथा यजमान अश्व के दायें कान में **विभूर्मात्रा** (मा० सं० २२।१९) मन्त्र का जप करके अन्य सौ घोडों के साथ यज्ञिय अश्व को छोड़ देते हैं। यह अश्व वर्ष भर यथेष्ट भ्रमण करता है। इस के साथ चार सौ सैनिक रहते हैं। उन का कर्त्तव्य है कि अश्व को घोड़ी के समीप जाने तथा जल में प्रवेश करने से रोकें और जो ब्राह्मण अश्वमेधसम्बन्धी कर्म मे अनभिज्ञ हो, उसके घर भोजन करें तथा रथकार के घर में वास करें। यदि घोडा नष्ट हो जाय या शत्रु द्वारा पकड़ लिया जाय और युद्ध में सैनिक हार जायें, तो पुनः सारी प्रक्रिया दोहरानी पड़ती है।

२. ६. **पारिप्लव शस्त्र-प्रक्रमहोम-धृतिहोम**—इधर सावित्री इष्टि के पश्चात् होता सुवर्ण-आसन पर बैठ कर यजमान (राजा) तथा उसके सम्बन्धियों को **'पारिप्लव'** शस्त्र(आश्व० श्रौ० १०-७।१-१०) सुनाता है। दस दिन तक एक-एक पारिप्लवशस्त्र का शंसन होता है, फिर उसकी आवृत्ति वर्ष भर चलती रहती है। उदाहरणार्थ—प्रथम दिन होता कहता है—**प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वतस्तस्य मनुष्या विशस्त इम आसत इति गृहमेधिन उपसमानीताः स्युस्तानुपदिशन्त्यृचो वेदः सोऽयमिति सूक्तं निगदेत्।** अर्थात्—'विवस्वान का पुत्र मनु था। मनुष्य उस की प्रजा हैं। वे आप ही हैं, जो यहां उपस्थित हैं। आज ऋग्वेद का दिन है—ऋग्वेद का सूक्त बोल कर उपदेश करता है'। इसी प्रकार दूसरे दिन विवस्वान् के पुत्र यम की प्रजा बता कर यजुर्वेद का उपदेश करता है। इसी प्रकार अथर्व, अङ्गिरा, सर्प, पिशाच, असुर, पुराण, इतिहास, साम विद्याओं का उपदेश होता है। प्रथम दिन पारिप्लव शस्त्र के पश्चात् दक्षिणाग्नि में ४७ प्रक्रम होम किये जाते हैं। सायंकाल को आहवनीय में चार धृति होम किये जाते हैं। तीन सावित्री इष्टियां, गान, पारिप्लव-प्रक्रम-धृति—यही क्रम प्रतिदिन वर्ष भर चलता रहता है, जब तक कि अश्व लौट नहीं आता। इन विधियों में अर्धमास-मास-त्रैमास्य-षाण्मास्य का विकल्प भी कहा गया है।

२. ७. **प्रथम सुत्या**—अश्व के लौट आने पर अहीन सोमयाग का आयोजन किया जाता है। इस में १२ दीक्षा, १२ उपसद् तथा तीन सुत्या (अभिषव दिवस) होती हैं। इस याग में गरुड-चिति भी की जाती है। चैत्र पूर्णमासी को उखासम्भरण आदि किया जाता है। वैशाख कृष्ण षष्ठी तक दीक्षा और वैशाख शुक्ल तृतीया तक उपसद्-प्रवर्ग्य समाप्त हो जाते हैं। उसके पश्चात् सोमक्रयादि होते हैं। इस याग में इक्कीस यूप इक्कीस-इक्कीस अरत्नि लम्बे गाड़े जाते हैं। आहवनीय के ठीक पूर्व में एक रज्जुदाल वृक्ष का यूप गाड़ा जाता है, जो अग्निष्ठ कहाता है। उसके दोनों ओर एक-एक देवदारु वृक्ष का, तीन-तीन बिल्व (बेल) वृक्ष के, तीन-तीन खदिर (खैर) वृक्ष के और तीन-तीन पलाश (ढाक) वृक्ष के यूप गाड़े जाते हैं। पशुओं का नियोजन (बन्धन) दक्षिण से आरम्भ करके उत्तर में समाप्त होता है। प्रथम सुत्या अग्निष्टोम-संस्थाक होती है, जो प्रकृतिवत् ही है। रात्रि में घी-सत्तू-भुने हुए जौ तथा चावल से १२ मन्त्रों (मा० सं० २२।२३-३४) से एक-एक द्रव्य से एक-एक प्रहर आहुति दी जाती है, यही विशेष कार्य है।

२. ८. **द्वितीय सुत्या**—दूसरी उक्थ्य-संस्था सुत्या है, जिसमें विशेष कर्त्तव्य होता है। अश्व के सम्पूर्ण शरीर पर रस्सी लपेट कर बांध दी जाती है। उसी रस्सी में अन्य पशुओं के गले की रस्सियां बांध दी जाती हैं। अश्व के विभिन्न अङ्गों में बधे हुए पशु इस प्रकार होते हैं—ललाट पर आग्नेय कृष्ण अज, जबड़ों पर सरस्वती मेषी, अगले पैरों में आश्विन अज, नाभि पर सौमापौष्ण श्याम अज, दोनों पार्श्व में सौर्यमय सफेद-कृष्ण अज, पिछले पैरों में त्वाष्ट्र अज और पूंछ में वायु, इन्द्र, विष्णु देवताओं के लिये गौ। अन्य पशुओं को लेकर अग्निष्ठ में सत्रह पशु बांधे जाते हैं तथा अन्य यूपों में पन्द्रह-पन्द्रह। पशुसंख्या भिन्न-भिन्न सूत्रों में भिन्न-भिन्न कही गई है। यूपों के बीच में पिंजड़ों में रखे हुए आरण्य पशु-पक्षी भी रखे जाते हैं। पर्यग्निकरण के पश्चात् आरण्य पशु-पक्षी मुक्त कर दिये जाते हैं। उस के पश्चात् अश्व-सज्ञपन, अश्व के समीप महिषी-शयन, अध्वर्यु-कुमारी संवाद, ब्रह्मा-महिषी संवाद, होता-परिवृक्ता संवाद और प्रतिहार-पालागली संवाद होते हैं। इस के पश्चात् महिषी आदि राजपत्नियां मृत अश्व के शरीर में धातुनिर्मित सूईयां चुभाती हैं। अश्व में वपा का अभाव होने से मेद का ही होम किया जाता है। इस के पश्चात् 'ब्रह्मोद्य' (ब्रह्मविषयक प्रश्नोत्तर) होता है। इस में अध्वर्यु-ब्रह्मा-उद्गाता-प्रतिप्रस्थाता-यजमान परस्पर प्रश्नोत्तर करते हैं। उसके पश्चात् अङ्गहोम आदि किये जाते हैं। पत्नीसंयाज पर्यन्त अनुष्ठान कर के उस दिन का कर्म समाप्त होता है।

२. ९. **तृतीय सुत्या**—तीसरे दिन अतिरात्र-संस्था सुत्या होती है। यह सब प्रकृतिवत् ही होती है।

२. १०. **अवभृथ-यज्ञपुच्छ**—इसके पश्चात् अवभृथ स्नान होता है। अनुबन्ध्या इष्टि की जाती है, जिस में सात-सात वारुणी-वैश्वदेव-बार्हस्पत्य पशु होते हैं। उदवासनीय इष्टि के अन्त में पालागली की अनुचरियों का दान अध्वर्यु को, महिषी की अनुचरियों का दान ब्रह्मा को, वावाता की अनुचरियों का दान उद्गाता को और परिवृक्ता की अनुचरियों का दान होता को दिया जाता है।

इस प्रकार अश्वमेध का संक्षिप्त वर्णन समाप्त हुआ।

३. पुरुषमेध

पुरुषमेध याग के विषय में देश-विदेश के लोगों में बड़ी भ्रान्ति फैली हुई है। भ्रान्ति का कारण इस याग के स्वरूप का बोध न होना है। जन सामान्य में यह मिथ्या धारणा है कि जैसे अश्वमेध में अन्ततः अश्व से पाशुक विधियां सम्पन्न होती हैं, उसी प्रकार पुरुषमेध में पुरुष से पाशुक विधियां होती हैं। शुनःशेप की कथा ने भी इस धारणा को बढ़ाने में अग्नि में घृत का काम किया है। वास्तविकता यह है कि इस याग में विभिन्न वर्ग के मनुष्यों का अनुबन्धन आदि होने पर भी पर्यग्निकरण के पश्चात् उसी प्रकार उत्सर्जन कर दिया जाता है, जिस प्रकार अश्वमेध में कपिञ्जल आदि वनस्थ प्राणियों का। वैदिक वाङ्मय में कहीं भी पुरुष से पाशुक विधियों के अनुष्ठान का उल्लेख नहीं है। अस्तु। आगे कात्यायन के अनुसार पुरुषमेध का वर्णन किया जाता है—

३. १. **अधिकारी तथा काल**—सब प्राणियों से अतिक्रमण (उत्कर्ष) का इच्छुक ब्राह्मण या क्षत्रिय इस याग का अधिकारी माना जाता है। इस याग में तेईस दीक्षा, बारह उपसद् तथा पांच सुत्या होती हैं। इस प्रकार यह याग चालीस दिन में सम्पन्न होता है। चैत्र शुक्ल दशमी को इस का आरम्भ किया जाता है।

३. २. **संस्थाएं-यूप-पशु**—दीक्षा तथा उपसद् के पश्चात् सुत्या का आरम्भ होता है। सुत्याओं का क्रम इस प्रकार है—पहले दिन अग्निष्टोम, दूसरे दिन उक्थ्य, तीसरे दिन अतिरात्र, चौथे दिन उक्थ्य और पांचवें दिन अग्निष्टोम। इस प्रकार मध्य में अतिरात्र, उस के दोनों ओर उक्थ्य तथा दोनों अन्तिम छोरों पर अग्निष्टोम का अनुष्ठान किया जाता है। इस यज्ञ में ग्यारह यूप गाड़े जाते हैं और अग्नीषोमीय पशु भी प्रतिदिन ग्यारह होते हैं, परन्तु पुरोडाश एक ही होता है।

३. ३. **अतिरात्र में पशु नियोजन**—सुत्या के तीसरे दिन अतिरात्र सोमयाग होता है। उस में उपाकरण से पूर्व **देव सवितः** (मा० सं० ३०।१-३) आदि तीन ऋचाओं से तीन आज्य आहुतियां दी जाती हैं। प्रत्येक यूप में ग्यारह-ग्यारह पशु बांधे जाते हैं और उनके उपाकरण के पश्चात् पुरुषों (ब्राह्मण आदि) का उपाकरण **ब्रह्मणे ब्राह्मणम्** (मा० सं० ३०।५-२२) आदि मन्त्रों से किया जाता है। अग्निष्ठ (मध्य) यूप में ब्राह्मणादि अड़तालीस पुरुषों का नियोजन होता है, शेष दस यूपों में ग्यारह-ग्यारह पुरुषों को बांधा जाता है। शेष छब्बीस पुरुषों को द्वितीय यूप में बांधा जाता है। इस प्रकार दूसरे यूप में ३७ पुरुषों का नियोजन होता है। यूपों में कुल मिलाकर १८४ पुरुषों का नियोजन (बन्धन) होता है।

३. ४. **अभिष्टव-उत्सर्जन-होम**—ब्रह्मा यूप में बन्धे हुए पुरुषों का अभिष्टव (स्तुति) **सहस्रशीर्षा** (मा० सं० ३१।१-१६) अनुवाक से होता के समान करता है (अर्थात् पहले तथा अन्तिम मन्त्र की तीन आवृत्ति एवं प्रत्येक मन्त्र के अन्तिम अक्षर का प्रणव आदेश करते हुए स्तुति करता है)। इस के पश्चात् अश्वमेध के कपिञ्जल आदि उत्सर्जन (मुक्ति) के समान पर्यग्निकृत

पुरुषों का उत्सर्जन कर दिया जाता है। उत्सर्जन के बाद संहिता में जिस पुरुष की जो देवता कही गई है (जैसे ब्रह्मणे ब्राह्मणम् मा० स० ३०।५ इत्यादि), उसके लिये आज्य से **'ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा'** आदि स्वाहाकार होम किया जाता है।

३. ५. दक्षिणा अनुबन्ध्या-अग्निसमारोपण—इस याग में अश्वमेध के समान दक्षिणा दी जाती है। विशेषता केवल यह है कि पुरुषों को भी दक्षिणा रूप में दे दिया जाता है। ब्राह्मण यजमान के लिये सवस्व दक्षिणा का विधान है। अनुबन्ध्या की तीन देवताएं (मित्रावरुण, विश्वदेव, बृहस्पति) कही गई हैं, उन में से दो के लिए तीन-तीन और तीसरी के लिए पांच अनुबन्ध्या गौओं का विधान इस याग में किया गया है, परन्तु पुरोडाश तीन ही होते हैं। त्रैधातवी इष्टि के पश्चात् यजमान अपने आतमा (शरीर) में ही दोनों अग्नियों का समारोपण करके, सूर्य की उपासना करता है। तदनन्तर सदा के लिए ग्राम से निकल कर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करता है अथवा अरणियों में अग्नि समारोपण कर के, सूर्योपासना के पश्चात् घर को चला जाता है।

कर्काचार्य के मतानुसार मनु ने पुरुषमेध को प्राजापत्य इष्टि कहा है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टि सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्निं समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ मनु० ६।३८॥

अर्थात् प्राजापत्य इष्टि करके, सर्वस्व दक्षिणा में देकर, आत्मा में अग्नि का समारोपण कर के ब्राह्मण घर से निकल जाय।

इस प्रकार पुरुषमेध नामक याग का विवरण समाप्त हुआ।

४. सर्वमेध

सर्वमेध भी महत्त्वपूर्ण सोमयाग है। इसकी संज्ञा के विषय में कर्काचार्य का मत है कि—**पुरुषोऽश्वो गौरविरजः** (शत० ब्रा० ६।२।१।१४) प्रकरण में—**'एतावन्तो वै सर्वे पशवः'**—पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज इन पांच यज्ञिय पशुओं को ही 'सर्व' कहा गया है, अतः इन्हीं का आलम्भन होने के कारण इस याग का नाम सर्वमेध रखा गया है। अन्य आचार्यों के मतानुसार इस याग में सभी स्थावर तथा जङ्गम पदार्थों में से एक-एक प्रतिनिधि लेकर, उन से यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है, अतः इस याग को सवमेध कहते हैं।

४. १. अधिकारी-दीक्षादि-चिति—सम्पूर्ण पदार्थों की कामना करनेवाला द्विज इस यज्ञ का अधिकारी माना जाता है। इस याग में बारह दीक्षा, बारह उपसद् तथा दस सुत्यादिवस होते हैं। इस प्रकार यह याग चौंतीस दिन में सम्पन्न होता है। इस याग के लिये इष्टकाओं का चयन किया जाता है (चयन की पद्धति 'श्येनचिति' में पूर्व प्रदर्शित की जा चुकी है)। सामान्य चिति साढ़े सात पुरुष आकार (क्षेत्रफल) की होती है, परन्तु सर्वमेध याग की चिति एक सौ एक गुणी अर्थात् सबसे बड़ी बनाई जाती है। ईंटों से चयन की हुई वेदि पर आहवनीय का स्थापन करके दस सुत्याएं सम्पन्न की जाती हैं।

४. २. **दस सुत्याएं दक्षिणा**—पहले दिन अग्निष्टुत् नामक अग्निष्टोम सोमयाग सम्पन्न होता है। दूसरे-तीसरे-चौथे दिन क्रम से इन्द्रस्तुत्, सूर्यस्तुत्, वैश्वदेवस्तुत् नामक क्रतुओं का अनुष्ठान होता है, जो उक्थ्य सोमयाग होते हैं। पांचवें दिन महाव्रत नामक अग्निष्टोम किया जाता है अथवा अश्वमेध में किया जानेवाला उक्थ्य सोमयाग उसी विधि से किया जाता है। छठे दिन वाजपेय याग का अनुष्ठान होता है अथवा पुरुषमेध में किया जानेवाला अतिरात्र उसी विधि से सम्पन्न होता है। सातवें दिन अप्तोर्याम नामक सोमयाग किया जाता है। इस याग में सम्पूर्ण द्रव्यों में से एक-एक की आहुति आहवनीय में दी जाती है। ओषधि-वनस्पतियों के छोटे-छोटे टुकड़े काट कर आहुति दी जाती है और सब खाद्यान्नों को यथाविधि पकाकर आहुति दी जाती है। आठवें दिन त्रिणवस्तोम उक्थ्य सोमयाग का अनुष्ठान होता है। नवें दिन त्रयस्त्रिंशस्तोम उक्थ्य सोमयाग किया जाता है। दसवें दिन विश्वजित् सर्वपृष्ठ अतिरात्र सोमयाग सम्पन्न किया जाता है। सर्वमेध याग की दक्षिणा पुरुषमेध के समान ही होती है।

इस प्रकार सर्वमेध का विवरण समाप्त हुआ।

उपसंहार

पूर्व पृष्ठों में अग्न्याधान से आरम्भ कर के सर्वमेध पर्यन्त प्रमुख श्रौत यागों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह विवरण श्रौतसूत्रों के आधार पर अत्यन्त संक्षेप से किया गया है। उद्देश्य यह रहा है कि ऋषि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट 'अग्निहोत्र से अश्वमेध' पर्यन्त यज्ञों का स्वरूप उपलब्ध श्रौतसूत्रों के अनुसार प्रदर्शित किया जा सके। स्वामी जी के अपने मन्तव्यानुसार इन यज्ञों का स्वरूप अवश्य ही पूर्व प्रदर्शित स्वरूप से कुछ भिन्न होगा, परन्तु हिंसामय पशुयाग को छोड़कर सम्भवतः कोई मौलिक भेद नहीं होगा। इस दृष्टि से इन यागों का यथोपलब्ध स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। विवेकी जन इस सामग्री के आधार पर हेय-उपादेय का विवेचन कर सकते हैं।

इति

विशिष्ट-श्रौतपद-सूची

शब्द-पृष्ठ

शब्द-पृष्ठ

शब्द-पृष्ठ

दर्शपूर्णमास यज्ञशाला

वरुणप्रघास [चातुर्मास्य] यज्ञशाला

पश्चिम

श्येन [सुपर्णी] चिति

प्रथम-तृतीय-पञ्चम प्रस्तार

पूर्व
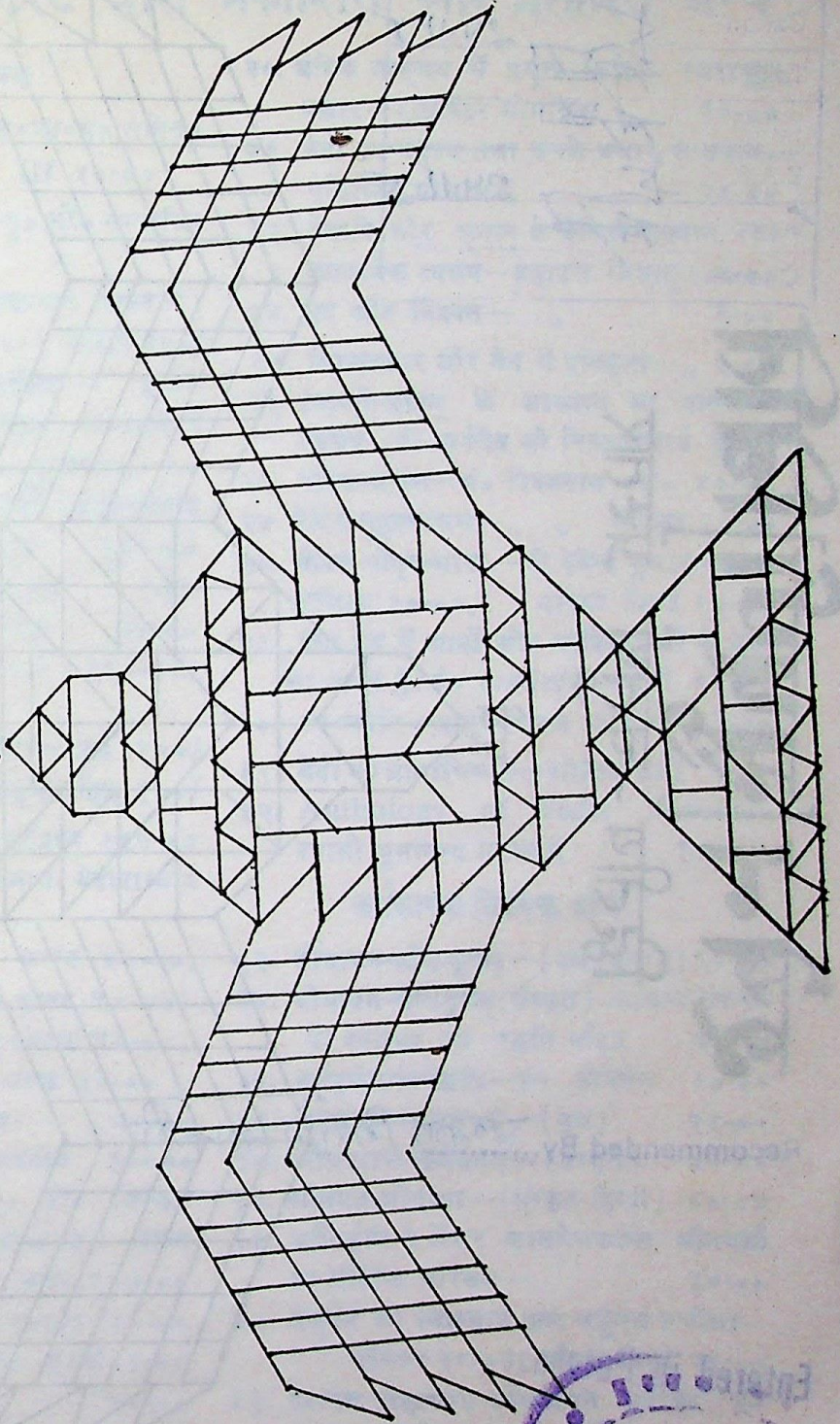
उत्तर

दक्षिण

पश्चिम

श्येन [सुपर्ण] चिति
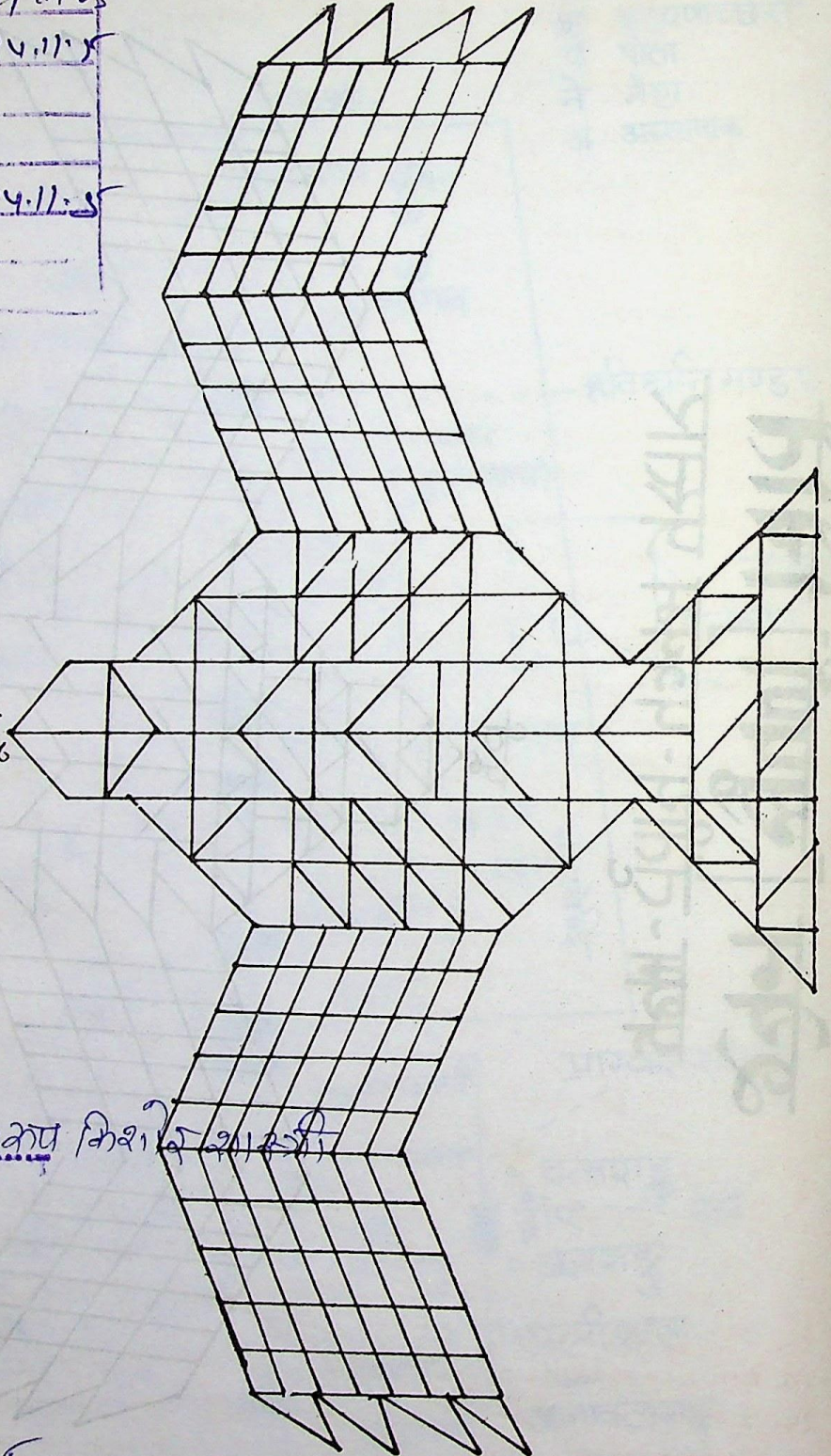
द्वितीय - चतुर्थ प्रस्तार

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

वेद-विषयक ग्रन्थ

१. ऋग्वेदभाष्य —भाग I (ऋ०भा०भू० सहित) ६०-००; II ४०-००; III ५०-००

२ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—यु० मी० सम्पादित सटिप्पण। ५०-००

३. भूमिका-भास्कर—स्वा० विद्यानन्द सरस्वती। दो भागों में, प्रथम भाग २००/, द्वितीय १५०/

४. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका-परिशिष्ट— ५-००

५. ऋग्वेदानुक्रमणी–वेङ्कटमाधवकृत, व्याख्याकार पं० विजयपाल जी। ४०-००;राजसं०५०-००

६. कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी—षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टोका सहित १५०-००

७. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—यु० मी० ५-००

८. ऋग्वेद-परिचय—पं० विश्वनाथ २५-००

९. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—भाग I १५०-००; भाग II ७५-००

१०. माध्यन्दिनपदपाठः—(यजुर्वेद पदपाठ) १००/

११. तैत्तिरीय-संहिता-(मूल) मन्त्रसूचीसहित १७०/

१२. तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः—सजिल्द १५०-००

१३. अथर्ववेदभाष्य—पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय १-३ काण्ड ५०-००; ४-५ काण्ड ५०-००; ६ काण्ड ५०-००, ७-८ काण्ड ५०-००, ९-१० काण्ड ५०-००; ११-१३काण्ड ५०-००; १४-१७काण्ड ५०-००; १८-१९ काण्ड ५०-००; २० काण्ड ५०-००।

१४. (क) गोपथ-ब्राह्मण—(मूल) ८०-००

१४.(ख) वैदिक-निघण्टु-संग्रह धर्मवीर १००-००

१५. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—यु० मी० लिखित वेदविषयक १७ निबन्धों का संग्रह। प्रथम भाग ७५-००; द्वितीय भाग १००-००

१६. वैदिक-साहित्य-सौदामिनी—सजिल्द ७०-००

१७. वेदश्रुतिआम्नायसंज्ञा-मीमांसा—यु०मी०३-००

१८. वैदिक-छन्दोमीमांसा— ,, ,, ५०-००

१९. वैदिक-स्वर-मीमांसा— ,, ,, ५०-००

२०. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार—युधिष्ठिर मीमांसक १०-००

२१. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय-युधिष्ठिर मीमांसक २५-००

२२. देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ८-००

२३. वेद और निरुक्त— ,, ,, ३-००

२४. निरुक्तकार और वेद में इतिहास—,, ३-००

२५. त्वाष्ट्री-सरण्यू के आख्यान का वास्तविक स्वरूप—पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य ३-००

२६. वैदिक-जीवन—पं० विश्वनाथ। स० ४०-००

२७. वैदिक-गृहस्थाश्रम—,, ,, सजिल्द ५०-००

२८. वैदिक-पीयूष-धारा—श्री देवेन्द्र कुमार कपूर। अजिल्द १०-००, बढ़िया जिल्द १५-००

२९. क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है? पं० रामगोपाल शास्त्री १२-००

३०. उरु-ज्योति—वासुदेवशरण अग्रवाल २५-००

३१. वेदों की प्रामाणिकता—श्रीनिवासजी ४-००

३२. Anthology of Vedic Hymns—स्वामी भूमानन्द सरस्वती १००-००

कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थ

३३. बौधायन-श्रौत-सूत्रम्—(दर्शपूर्णमास) ६०-००

३४. बौधायन-श्रौतसूत्रम् (संस्कृत)–आधान प्रकरण की व्याख्या एवं पद्धति सहित ६०-००

३५. दर्शपूर्णमास-पद्धति—पं० भीमसेन ३०-००

३६. कात्यायन-गृह्यसूत्रम्—(मूल) २५-००

३७. श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्—(संस्कृत) ५०-००

३८. श्रौतयज्ञ-मीमांसा—(संस्कृत-हिन्दी) ४०-००

३९. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय— ३०-००

४०. यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा—सजिल्द २०-००; बढ़िया जिल्द २५-००

४१. शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ६०-००

४२. संस्कार-विधि—ऋषि दयानन्द कृत २०.००
—संस्कार-भास्कर—स्वामी विद्यानन्द सरस्वती कृत संस्कारविधि की व्याख्या १५०-००
४३. संस्कारविधि-मण्डनम्—रामगोपाल १२-००
४४. वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश—पं० बाला जी विठ्ठल गांवस्कर कृत मराठी का हिन्दी अनु० २५-००
४५. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—(पञ्च महायज्ञ के मन्त्रों की पदार्थ व भावार्थ व्याख्या) १२-००
४६. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—(मूलमात्र) २-५०
४७. पञ्चमहायज्ञविधि—ऋ० द० कृत ५-००
४८. सन्ध्योपासन-अग्निहोत्रविधि—(हिन्दी-अंग्रेजी व्याख्या सहित) डा० विजयपाल १५-००
४९. वैदिकयज्ञों का स्वरूप—डा० कृष्णलाल १०-००

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-छन्दःशास्त्र-ज्योतिष विषयक ग्रन्थ

५०. वर्णोच्चारण-शिक्षा—ऋषि दयानन्द ३-००
५१. शिक्षासूत्राणि-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र १०/
५२. शिक्षा-शास्त्रम्—जगदीशाचार्य १५-००
५३. शिक्षा महाभाष्यम्— ,, सजिल्द १५-००
५४. वृद्धशिक्षा-शास्त्रम्— ,, सजिल्द ३०-००
५५. निघण्टु-निर्वचनम्—देवराजयज्वाकृत (शीघ्र प्रकाशित होगी)। १५०.००
५६. निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम् - नीलकण्ठ १५०-००
५७. निरुक्त-समुच्चय—वररुचि कृत ३०-००
५८. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः—शुद्ध संस्करण १२-००
५९. अष्टाध्यायी-भाष्य—(संस्कृत तथा हिन्दी) भाग I ८०-००; II ५०-००; III ७०-००
६०. काशिका—वामनजयादित्य कृत अष्टाध्यायी वृत्ति। पुस्त० सं० ५००/, साधा० सं० ३००/
६१. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी-वृत्ति २०-००
६२. महाभाष्य—यु० मी० कृत हिन्दी व्याख्या सहित भाग I प्रथम खण्ड ६५-००, द्वितीय खण्ड ६०-००; II ७५-००; III ७५-००
६३. माहेश्वरव्याकरणम्—जगदीशाचार्य। ३०-००
काशिका-महापरिष्कारः प्रथम भाग ७०-००
६४. धातुपाठः—(धातु सूची सहित) ८-००
६५ क्षीरतरङ्गिणी—(धातुपाठ-व्याख्या) ८०-००
६६. धातुप्रदीप—धातुपाठवृत्ति, मैत्रेयरक्षित ६०-००
६७. संस्कृत-धातु-कोष—यु० मी० २०-००
६८. काशकृत्स्न-व्याकरणम् २०-००
६९. काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्— अप्राप्य
७०. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि-भाग I ३०-००; भाग II ४५-००
प्रथम भाग का अंग्रेजी अनुवाद ५०-००
७१. उणादिकोष—ऋषि दयानन्द। २५-००
७२. दशपाद्युणादिवृत्ति-संग्रह-प्रथम भाग (माणिक्य-देवविरचित अतिप्राचीन वृत्ति, अनेक परिशिष्टों के साथ) सं०—यु० मी०, चन्द्रदत्त शर्मा ६०-००; द्वितीय भाग में तीन प्राचीन वृत्तियों का संग्रह। सं०—चन्द्रदत्तशर्मा ६०-००
७३. गणरत्नावली—भट्टयज्ञेश्वर कृत पाणिनीय गणपाठ की व्याख्या। सं०-चन्द्रदत्तशर्मा ७५-००
७४ वामनीयं लिङ्गानुशासनम्— १५-००
७५. दैवम् पुरुषकार-वार्त्तिकोपेतम्— १५-००
७६. अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः—डा० विजयपाल विद्याविरिधि ५०-००
७७. शब्दरूपावली—विना रटे स्मरण योग्य ५-००
७८. पिङ्गलनागछन्दोविचिति-भाष्यम्——यादव-प्रकाशविरचित भाष्य ५०-००
७९. प्रश्नोत्तर-मञ्जरी— १०.००

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान—

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)

२. रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेन्ट्स—

२५६६ नई सड़क, देहली — **गुरु बाजार, अमृतसर** — **विरहाना रोड, कानपुर**